

समियाए धम्मो आरिएहिं पव्वइये

जैन-धर्म : जीवन्-धर्म

श्रेयस

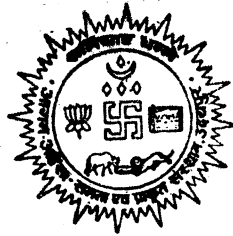
धम्मो मंगलमुक्खिक्कट्ठं, अहिंसा-संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मो सया मणो॥

आगम अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान
उदयपुर

जैन-धर्म : जीवन-धर्म

कर्नल दलपतसिंह बया 'श्रेयस'

एम.एससी.(गणित); एम.ए. (प्राकृत व जैन विद्या); एम.एड.; टी.एस.सी.; डी.पी.पी.ए.



आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान
उदयपुर ३९३ ००९ (राजस्थान)

प्रकाशक : आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान
पद्मिनी मार्ग, 'राजस्थान पत्रिका' कार्यालय के पास
सुंदरवास, उदयपुर ३१३ ००३ (राज.) भारत

पुस्तक : जैन-धर्म : जीवन-धर्म

लेखक : कर्नल दलपतसिंह बया 'श्रेयस'

संस्करण : प्रथम - २००४.

मूल्य : रु. ३००.०० ; US \$ 15.00

मुद्रक : मे. न्यू युनाइटेड प्रिंटर्स, उदयपुर (राज.)

प्रकाशकीय

अर्द्धमागधी जैन-आगम साहित्य भारतीय संस्कृति और साहित्य की अमूल्य निधि है जिनमें आध्यात्म एवं जीवन-दर्शन के अनमोल रत्न विद्यमान हैं। दुर्भाग्य से इनमें से अनेक ग्रंथों के सरल हिंदी भाषा में अनुवाद उपलब्ध न होने से जनसाधारण इनकी ज्ञान-निधि का पर्याप्त लाभ उठाने में असमर्थ रह जाते हैं।

यह संस्थान दो दशकों से आगम-ज्ञान को सरल व सुबोध हिंदी व अंग्रेजी भाषाओं में उपलब्ध करवाकर जिज्ञासु पाठकों की इस समस्या का निराकरण करने के लिये प्रयासरत है।

हमें प्रसन्नता है कि जैन-दर्शन के गंभीर अध्येता कर्नल दलपलसिंहजी बया ने अत्यंत शोध एवं प्रयासपूर्वक जैन-विद्या के सभी आयामों - इतिहास, दर्शन, लोक-विज्ञान, आचार, कथा-विधा तथा जैन-धर्म के व्यवहारिक पक्ष को सम्मिलित करते हुवे एक ऐसे संपूर्ण ग्रंथ का प्रणयन सरल व सुबोध हिंदी भाषा में किया है जिससे विद्वत्त्वर्ग तथा जनसामान्य दोनों समान रूप से लाभान्वित हो सकेंगे। ग्रंथ के प्रथम इतिहास व परंपरा खंड में ही वर्तमान जिन-शासन के प्रवर्तक भगवान महावीर की संक्षिप्त सारगर्भित व सांप्रदायिक आग्रहों से मुक्त जीवनी का समावेश इस ग्रंथ को निश्चित रूप से गरिमामंडित करता है। इस ग्रंथ का कुशल संपादन व प्राक्कथन लेखन जैन-विद्या के मूर्धन्य विद्वान व इस संस्थाल के शैक्षिक संरक्षक प्रो. सागरमल जैन ने किया है एतदर्थ उनका साधुवाद करना हमारा कर्तव्य है।

हम संस्थान के मार्गदर्शक प्रो. कमलचंद सोगानी, व संस्थान

IV : प्रकाशकीय

के पदाधिकारीगण - शैक्षिक संरक्षक प्रो. सागरमल जैन, मानद निदेशक प्रो. प्रेमसुमन जैन तथा मानद सहनिदेशिका डॉ. सुषमा सिंघवी का भी कृतज्ञता ज्ञापन करते हैं जिका इस संस्थान के विकास में विशेष योगदान है।

हम तेजपुर (असम) के प्रसिद्ध उद्योगपति घराने के श्रीमती विमलाजी प्रकाशचंद्रजी बडेर तथा तेजपुर के ही श्रीमती सरिताजी महेन्द्रकुमारजी मिसरुफ के विशेष रूप से आभारी हैं जिन्होंने इस ग्रंथ के प्रकाशन में विशिष्ट योगदान दिया है तथा यह आशा करते हैं कि भविष्य में भी संस्थान को उनका संबल इसी प्रकार मिलता रहेगा।

मे. न्यू युनाइटेड प्रिंटर्स, उदयपुर का भी इस ग्रंथ को अल्प समय में ही इतने संदर रूप में मुद्रित करने के लिये धन्यवाद ज्ञापित करते हैं।

सरदारमल कांकरिया
अध्यक्ष

वीरेन्द्रसिंह लोढ़ा
महासचिव

जैन-धर्म : जीवन-धर्म

प्रकाशन-सहयोग

तेजपुर (असम) के सुप्रसिद्ध उद्योगपति घराने के श्रीमती विमलाजी प्रकाशचंद्रजी बडे़र तथा श्रीमती सरिताजी महेन्द्रकुमारजी मिसरुफ ने इस ग्रंथ के प्रकाशन में अत्यंत उदारतापूर्वक सहयोग प्रदान किया है एतदर्थ संस्थान उनका आभार ज्ञापित करता है तथा आशा करता है कि उनका उदार सहयोग भविष्य में भी इसी प्रकार प्राप्त होता रहेगा।

सरदारमल कांकरिया
अध्यक्ष

पुरोवाक्

अहिंसा आधारित जिन प्रतिपादित जैन-धर्म का मूल मंत्र है 'जियो और जीने दो' जो इसे वास्तविक अर्थों में जीवन-धर्म बनाता है। इस जीवन-धर्म के कालजयी सिद्धान्तों तथा उनको जीवन में ढालने के निमित्त प्रविधित आचार नियमों के विवेचन के प्रयास विभिन्न व्याख्याकारों तथा लेखकों द्वारा समय २ पर अपने काल की मांग के अनुसार किये जाते रहे हैं जो समयानुसार प्रभावशाली भी रहे हैं।

वर्तमान समय की मांग है जैन-धर्म के सिद्धान्तों तथा आचार-नियमों की सरल लोकभाषा में ऐसी प्रस्तुति जिसे जनसामान्य सरलता से पढ़कर हृदयंगम कर सकें। इसके अतिरिक्त जैन-सिद्धान्तों का मानवजीवन में आने वाली विभिन्न समस्याओं के साथ ऐसा संबंध उद्घाटित करना जिससे वे सिद्धान्त उनके मानने वालों की उन समस्याओं के निराकरण में सहायक हो सकें।

मुझे हार्दिक प्रसन्नता है कि कर्नल (से. नि.) दलपतसिंहजी बया 'श्रेयस' ने इस ग्रंथ में इन्हीं समसामयिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुवे जैन सिद्धान्तों व आचार-नियमों को बड़ी सरलता व सुस्पष्टता से ऐसी सरल व सुबोध हिंदी भाषा में प्रस्तुत किया है जिससे निस्संदेह न केवल जैनमतावलंबी अपितु अजैन पाठक भी बड़ी संख्या में लाभान्वित होंगे।

ग्रंथ के प्रारंभ में ही दिया गया करुणावतार भगवान महावीर का संक्षिप्त किंतु प्रामाणिक तथा श्वेताम्बर व दिगम्बर दोनों समुदायों की मान्यताओं से समन्वित जीवनवृत्त इस ग्रंथ के उस महामानव के २६००वें प्रकटन वर्ष के समीप प्रकाशन को अवश्य ही एक विशिष्ट आयाम देता है।

द्वितीय अध्याय में प्रस्तुत जैन-धर्म का परिचयात्मक व ऐतिहासिक विवरण इसकी सुदीर्घ परंपरा के सही परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुतिकरण का एक सुंदर प्रयास है जिसमें इसके लक्षणों, इसकी सत्ता संबंधी मान्यता, आत्मा व कर्म के पारस्परिक संबंध, इसकी आस्तिकता-नास्तिकता के विवेचन तथा इसके न्याय के मूल में स्थित ध्रुवसत्त्वों को सुगम व सहज रूप में प्रस्तुत किया गया है।

VIII : पुरोवाक्

इस ग्रंथ की आत्मा इसका द्वितीय खण्ड है जिसमें लेखक ने जैन-धर्म के मौलिक सिद्धान्तों - तत्त्वार्थों, सम्यग्दर्शन-ज्ञान व अनेकान्त व स्याद्वाद का संक्षिप्त किंतु सर्वग्राही स्वरूप स्पष्ट किया गया है। कर्म-सिद्धान्त व उसी से जुड़े गुणस्थानों का विवेचन भी सरल व सुग्राह्य बन पड़ा है।

कर्नल बया के मौलिक व विशिष्ट चिंतन की छाप इस ग्रंथ के तृतीय खण्ड में दृष्टव्य है जिसमें उन्होंने लोक की जैन अवधारणा का द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव के संदर्भ में अभूतपूर्व विवेचन किया है।

चतुर्थ खंड में जैन-आचार का विवरण परंपरागत रूप से श्रमणाचार व श्रावकाचार के अंतर्गत किया गया है जो भाषाई दृष्टि से सुबोध है।

इस ग्रंथ की एक और विशेषता है जैनागमों में उपलब्ध विपुल कथासाहित्य से अत्यंत प्रयासपूर्वक चुनी गई सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की महत्ता को दर्शाने वाली तीन प्रतिनिधि कथाओं - 'अण्डक', 'मृगापुत्र' व 'रोहिणीकथा' का समावेश। इससे जहाँ ग्रंथ की रोचकता में वृद्धि हुई है वहीं पाठकों का ध्यान आगमों की इस विधा की ओर आकृष्ट होगा ऐसा मेरा विश्वास है।

ग्रंथ के 'जैन-धर्म : जीवन-धर्म' शीर्षक को सार्थक करता हुवा इसका षष्ठ खण्ड है जिसमें जहाँ मावन-जीवन में आने वाली व्यक्तिगत, सामाजिक, राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं निराकरण में जैन-सिद्धान्तों की उपयोगिता व महत्ता का दिग्दर्शन कराया गया है वहीं अनेकान्त के सिद्धान्त द्वारा व्यक्तित्व व प्रबंधन-क्षमता के विकास की संभावनाओं की ओर इंगित किया गया है।

अंत में मैं लेखक का इस अद्भुत एवं विचक्षण ग्रंथ के प्रणयन के लिये साधुवाद करता हूँ तथा आशा करता हूँ कि उनकी लेखनी अविराम गति से ऐसे अनेक ग्रंथों के प्रणयन की माध्यम बनेगी।

शुभं भवतु!

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

सागरमल जैन

मकर संक्रांति, १४ जनवरी, २००४.

समर्पण

मेरे स्वर्गस्थ पूज्य पिताश्री
स्वनामधन्य श्री गणेशलालजी बया
की स्मृति को सादर समर्पित

कृतज्ञता ज्ञापन

कि सी भी लेखक के लिये इस आकार-प्रकार की पुस्तक के लेखन को अपने से पूर्ववर्ती विद्वानों-लेखकों के मार्गदर्शन व उनके द्वारा प्रणीत साहित्य की सहायता के बिना पूर्ण कर पाना कठिन ही नहीं अपितु असंभव ही है। मुझे यह मानने में कोई संकोच नहीं है कि इस पुस्तक की विषय-वस्तु की खोज में मुझे उनके कार्यों से अपार सहायता मिली है। मैंने विषय-वस्तु को जिन विभिन्न स्रोतों से प्राप्त किया है मुझे उन सबके प्रति आभार प्रकट करना ही चाहिये।

पुरातन एवं अद्यतन जैनाचार्यों तथा विभिन्न विद्वानों जिनके ग्रंथों से मेने सहायता ली है वे हैं - गणधर सुधर्मास्वामी, श्रुतकेवली भद्रबाहु, आचार्य नेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्ती, आचार्य कुंद कुंद, कलिकालसर्वज्ञ हेमचंद्राचार्य, आचार्य हरिभद्र, आचार्य आत्मारामजी, आचार्य नानालालजी, आचार्य हस्तीमलजी, आचार्य देवेन्द्रमुनिजी, आचार्य महाप्रज्ञजी, उपाध्याय अमरमुनिजी, मुनि मधुकर, मुनि मिश्रीमलजी, साध्वी विनीताबाई महासती, साध्वी डॉ. विनीतप्रज्ञा, डॉ. हर्मन जेकोबी, डॉ. वाल्थर शुब्रिंग, पं. सुखलालजी संघवी, पं. रतनलालजी डोशी, पं. दलसुखभाई मालवणिया, पं. आ. नें. उपाध्ये, पं. क्षु. जिनेन्द्र वर्णी, डॉ. सागरमल जैन, डॉ. प्रेमसुमन जैन, डॉ. नन्दलाल जैन, डॉ. टी. जी. कलघटगी, डॉ. नेमिचंद्र जैन, डॉ. सुभाष कोठारी, डॉ. सुरेश सिसोदिया एवं श्री ए. एल. संचेती। मैं इन सब विद्वज्जनों के प्रति विनम्रता पूर्वक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

उदार हृदया श्रीमती विमलाजी प्रकाशचंद्रजी बडेर तथा श्रीमती सरिताजी महेन्द्रकुमारजी मिसरुफ एवं प्राकृत संस्थान के अध्यक्ष श्री सरदारमलजी कांकरिया, महासचिव श्री वीरेन्द्रसिंहजी लोढा, निदेशक प्रो. प्रेमसुमन जैन व प्रभारी डॉ. सुरेश सिसोदिया तथा मुद्रक फर्म का भी मैं आभारी हूँ जिनके सहयोग से ही इस ग्रंथ का प्रकाशन संभव हो सका है।

अनुक्रमणिका

जैन-धर्म : जीवन-धर्म -	I
प्रकाशकीय -	III
प्रकाशन सहयोग -	V
पुरोवाक्	VII
समर्पण -	IX
कृतज्ञता ज्ञापन -	X
आमुख -	XIX
मंगलाचरण	9
प्रथम खण्ड : महावीर और जैन-धर्म -	३
अध्याय - १ करुणावतार महावीर	५
वर्द्धमान महावीर -	५
महावीर वर्द्धमान -	७
राजकुमार महावीर -	७
श्रमण महावीर -	८
सर्वज्ञ तीर्थंकर महावीर -	९
करुणावतार महावीर -	१०
क्रांतदृष्टा महावीर -	१२
परिनिवृत्त महावीर -	१३
अध्याय - २ जैन-धर्म : एक परिचय	१५
जैन-धर्म -	१५
जैन-धर्म के तीन लक्षण -	२२
सत्ता-स्वरूप -	५३
आत्मा और कर्म -	४५
जैन-धर्म आस्तिक या नास्तिक? -	४७
जैन ध्रुव-सत्य -	४९

XII : जैन-धर्म : जीवन-धर्म

द्वितीय खण्ड : जैन दर्शन	५१
अध्याय-३ : तत्त्वार्थ -	५३
तत्त्व -	५३
१. जीव-तत्त्व -	५५
२. अजीव तत्त्व -	५६
३. पुण्य-तत्त्व -	६८
४. पाप-तत्त्व -	७०
५. आस्रव-तत्त्व -	७२
६. बंध-तत्त्व -	७७
७. संवर-तत्त्व -	८०
८. निर्जरा-तत्त्व -	८४
९. मोक्ष-तत्त्व -	८७
उपसंहार -	९२
अध्याय - ४ : सम्यग्दर्शन	९३
अपनी-अपनी दृष्टि -	९३
दर्शन व सम्यग्दर्शन -	९४
सम्यग्दर्शन का महत्व -	९५
सम्यक्त्व के सूचक लिंग -	१००
सम्यक्त्व के चार अंग -	१०३
सम्यग्दर्शन के प्रकार -	१०४
उपसंहार -	१०६
अध्याय -५ : सम्यग्ज्ञान -	१११
जीवन का चरम उद्देश्य -	१११
सम्यग्ज्ञान -	१११
ज्ञान विषयक जैन दृष्टिकोण -	११२
जैन आगम व व्याख्या साहित्य -	१२१
अर्द्धमागधी आगम साहित्य -	१२१
वर्तमान वर्गीकरण -	१३४

पैतालीस आगम -	१३७
पौंच आगम-वाचनाएँ -	१३७
प्रकीर्णक -	१४०
शौरसेनी आगम -	१४०
उपसंहार -	१४५
अध्याय - ६ - अनेकान्तवाद व स्याद्वाद	१४७
अनेकान्तवाद व स्याद्वाद -	१४७
अनेकान्तवाद -	१४८
स्याद्वाद -	१५२
व्यावहारिक अनेकांत व स्याद्वाद -	१५६
उपसंहार -	१५७
अध्याय - ७ : कर्म-सिद्धान्त	१५६
आत्मा व कर्म -	१५६
कर्म -	१५६
कर्म-सिद्धान्त -	१६०
कर्म-सिद्धान्त का महत्त्व -	१६०
भारतीय दर्शन-जगत में जैन कर्म-सिद्धान्त का स्थान -	१६१
कर्मवाद पर उपलब्ध साहित्य -	१६२
आत्मा का अस्तित्व -	१६३
आत्मा और कर्म का अनादि संबंध -	१६४
आत्मा और कर्म को अलग किया जा सकता है -	१६४
जैन कर्म-सिद्धान्त	१६५
कर्म-संयोग -	१६५
कर्म : द्रव्य व भाव स्तर पर -	१६६
चार प्रकार के कर्म-बंध -	१६७
कर्म की विभिन्न अवस्थाएँ -	१७५
कर्म-निर्जरा के उपाय -	१७८
जैन कर्म-सिद्धान्त का सारांश -	१७९
अध्याय - ८ : आत्म-विकास के सोपान : गुणस्थान	१८१

XIV : जैन-धर्म : जीवन-धर्म

आत्मा की मोह से मुक्ति तक की विकास-यात्रा -	१८१
भ्रामक मिथ्यात्व से जागृति -	१८२
गुणस्थान -	१८३
चौदह गुणस्थान -	१८५
उपसंहार -	१९४
तृतीय खण्ड : जैन लोक-विज्ञान	१९५
अध्याय - ९ : द्रव्यलोक -	१९७
ब्रह्माण्डीय द्रव्य -	१९७
आत्मा : जीव-द्रव्य -	१९७
अनात्मा : अजीव-द्रव्य -	१९८
आत्मा व शरीर : जीव-अजीव संयोग -	१९९
उपसंहार -	२०१
अध्याय - १० : क्षेत्रलोक	२०२
लोक का विस्तार -	२०२
क्षेत्र-विस्तार के परिमाण (अंगुल, योजन व रज्जू) -	२०२
लोक का स्वरूप -	२०४
उपसंहार -	२०६
अध्याय - ११ : काल-लोक	२१०
काल -	२१०
काल : लोक-द्रव्य के रूप में -	२११
काल-प्रवाह -	२११
काल का महत्त्व -	२१२
काल-गणना -	२१३
काल अस्तिकाय नहीं -	२१५
उपसंहार -	२१५
अध्याय - १२ : भावलोक	२१६
भाव -	२१६
सत्ता का स्थायित्व व अस्थायित्व -	२१६

सतत परिवर्तनशील भाव -	२१७
उपसंहार -	२२२
चतुर्थ खण्ड : जैन-आचार	२२३
अध्याय-१३ : श्रमणाचार -	२२५
चारित्राधारित धर्म -	२२५
अणगार धर्म -	२२६
अणगार महाव्रत तथा उनकी सहायक भावनाएँ -	२२७
अष्ट प्रवचन-माताएँ : समिति-गुप्ति -	२३७
षडावश्यक -	२५१
सामाचारी -	२५२
भिक्षु-प्रतिमाएँ -	२५४
श्रमण-जीवन के अनाचार -	२५६
परीषह-सहन -	२६१
श्रमण-चारित्र के भेद -	२६३
उत्सर्ग व अपवाद -	२६४
समाधिमरण -	२६५
उपसंहार -	२६८
अध्याय-१४ : श्रावकाचार -	२६६
गृहस्थ-धर्म (सागार चारित्र) -	२६६
मार्गानुसारिता -	२६६
श्रावक के व्रत व उनके अतिचार -	२७३
श्रावक-प्रतिमाएँ -	२८३
निष्ठावान उपासक की तीन भावनाएँ -	२८६
श्रावक का समाधिमरण -	२८६
उपसंहार -	२८७
पंचम खण्ड : जैन कथाएँ	२८८
अध्याय-१५ : अण्डक	३०१
मयूरी के अण्डे	३०१
सार्थवाहपुत्र	३०१

XVI : जैन-धर्म : जीवन-धर्म

शंकालु सागरदत्तपुत्र	३०३
श्रद्धालु जिनदत्तपुत्र	३०३
श्रद्धा से सफलता	३०४
कथा-बोध	३०४
अध्याय-१६ : मृगापुत्र	३०५
मृगापुत्र	३०५
मृगापुत्र की विरक्ति	३०५
श्रमण-जीवन के कष्ट	३०६
उपसंहार	३०६
कथा-बोध	३१०
अध्याय-१७ : रोहिणी कथा	३११
रोहिणी	३११
धन्य का विचार	३११
सम्मेलन	३१२
उज्झिका का तर्क	३१३
भोगवती का तर्क	३१३
रक्षिका का तर्क	३१४
रोहिणी का तर्क	३१४
विचार का कार्यान्वयन	३१५
धन्य का धान के दाने मांगना	३१५
उज्झिका का उपहास	३१६
भोगवती का मानभंग	३१७
रक्षिका की सराहना	३१७
रोहिणी का अप्रत्याशित आश्चर्य	३१८
कथा-बोध	३१६
षष्ठ खण्ड : जीवनोपयोगी जैन-धर्म	३२१

जैन-धर्म और व्यक्तिगत प्रसन्नता	३२३
व्यक्तिगत प्रसन्नता	३२३
दुःख के कारण	३२३
दुःखनाशक और सुखदायक जैन-धर्म	३२५
श्रमण-जीवन का सुख	३२६
उपासक जीवन-पद्धति का सुख	३२७
ध्यान-साधना से तनावमुक्ति	३२८
जैन-धर्म और सामाजिक सामंजस्य	३२६
सामाजिक सामंजस्य का महत्व	३२६
सामाजिक संघर्ष के कारण	३३०
सामाजिक संघर्षों का समाधान : जैन-धर्म	३३१
जैन-धर्म और विश्व-शान्ति	३३६
विश्व-शान्ति : समय की पुकार	३३६
संघर्ष के कारण	३३७
संघर्ष समाप्ति व विश्व-शान्ति के लिये जैन समाधान	३३६
जैन-धर्म की पर्यावरणीय चिंताएँ	३४४
पर्यावरणीय विपत्ति	३४४
जैन-धर्म की पर्यावरणीय चिंताएँ	३४४
पर्यावरणीय विकृति के कारण	३४५
पर्यावरणीय समस्या का जैन-समाधान	३४५
जैन जीवन-पद्धति तथा पारिस्थितिकीय संतुलन	३४६
जैन-व्रतों से पर्यावरण-संरक्षण	३४६
शाकाहार : पर्यावरण-रक्षण का सबसे महत्त्वपूर्ण घटक	३४८
अनेकान्त द्वारा प्रभावी प्रबंधन व नैतृत्व	३५१
प्रबंधन व अनेकान्तवाद	३५१
प्रबंधन में अनेकान्त का प्रयोग	३५२
सांगठनिक तब और अनेकान्त	३५३
प्रबंधन के विभिन्न क्षेत्रों में अनेकान्त की भूमिका	३५६
प्रबंधन प्रक्रिया में अनेकान्त की उपयोगिता	३५८

XVIII : जैन-धर्म : जीवन-धर्म

जैन-सिद्धांतों से व्यक्तित्व-विकास	३६१
व्यक्तित्व	३६१
व्यक्तित्व-विकास	३६१
व्यक्तित्व-विकास पर जैन-सिद्धान्तों का प्रभाव	३६५
अंत-कथ्य	३६६
परिशिष्ट : संदर्भ-ग्रंथ सूचि	i



आमुख

विश्व में यदि कोई एक पंथ, एक विश्वास, एक धर्म है जो 'जियो और जीने दो' के सार्वभौम सिद्धान्त पर सर्वाधिक जोर देता है तो वह है तीर्थंकरों द्वारा समय-समय पर प्रतिपादित जैनधर्म। यह वाक्य जैनधर्म के 'सभी सूक्ष्म व स्थूल प्राणियों के प्रति सम्पूर्ण अहिंसा' के नीति निर्धारक सिद्धान्त का ही एक भाग है।

जैनधर्म, जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, एक ऐसा पंथ या ऐसी मान्यता है जिसकी प्ररूपणा उन आत्मजयी जिनों ने की जिन्होंने आत्मा के चिरशत्रु, आत्म-विकास में बाधक, आत्मा के अंतिम लक्ष्य - आत्मविमुक्ति या दुःखमय सांसारिक जीवन से मुक्ति की प्राप्ति में बाधा स्वरूप कर्म-शत्रुओं को विजित किया। एक अलग नाम से जाने जाने के उपरांत भी जैनधर्म एक साम्प्रदायिक धर्म नहीं है जो अपने ही रीति-रिवाजों और कर्म-काण्डों में उलझ का रह जाय बल्कि एक ऐसा मानवतावादी धर्म है जो मानवीयता को आत्म-गवेषणा के पथ के पथिक के लिये सर्वप्रथम आवश्यकता मानता है। इसके सर्वग्राही परिप्रेक्ष्य एवं विश्व में अहिंसा, शान्ति व सामंजस्य के सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार के दर्शन तथा इसके संयम, विराग एवं मताग्रह-रहितता के कारण यह धर्म सदा ही समसामयिक व वैश्विक प्रासंगिकता वाला धर्म रहा है।

किसी भी धर्म की दूसरे धर्मों पर वरीयता का कोई दावा तब तक उचित नहीं ठहराया जा सकता है जब तक कि उसके सिद्धान्तों व नीति-निर्देशों का अन्य धर्मों के सिद्धान्तों व नीति-निर्देशों के साथ तुलनात्मक अध्ययन न कर लिया जाय। तुलनात्मक धर्म-विज्ञान के विद्यार्थी के नाते मैं यह दावे के साथ कह सकता हूँ कि जैन धर्म-दर्शन विश्व-पटल पर विद्यमान सभी धर्मों में सर्वाधिक विकसित, सर्वाधिक उन्नत धर्म-दर्शन

XX : जैन-धर्म : जीवन-धर्म

है। आखिर ऐसा हो भी क्यों नहीं, केवल यही एकमात्र ऐसा धर्म-दर्शन है जो सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तीर्थंकरों के संपूर्ण परिशुद्ध ज्ञान युक्त सर्वज्ञता - केवल्यज्ञान व संपूर्ण परिशुद्ध दृष्टि युक्त सर्वदर्शिता - केवल्यदर्शन पर आधारित है अतःएव पूर्णतया सत्य-न्यायाधारित है। जैनधर्म का तार्किक आधार इसके 'कर्मसिद्धान्त' में सर्वाधिक दृश्य है जो कि सार्वभौम 'कार्य-कारण' सिद्धान्त पर आधारित है तथा जिसे इसके दार्शनिकों द्वारा गणितीय सूक्ष्मता तक परिशुद्ध किया गया है। इस (कर्म) सिद्धान्त में कायिक, मानसिक व वाचिक कर्मों तथा उनके अपरिहार्य प्रतिफलों का विस्तृत विवेचन किया गया है।

जैन-धर्म का महत्व एवं इसका वैश्विक आकर्षण इस बात में है कि यह एक संपूर्ण धर्म-दर्शन है जो अपने में दार्शनिक परिपृच्छा के तीनों अंगों - तत्त्व-मीमांसा (**Metaphysics**), लोकविज्ञान (**Cosmology**) एवं आचार (**Ethics**) को समाविष्ट करता है। यह संपूर्ण धर्म-दर्शन अपने मंतावलंबी धर्मानुयाइयों को अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह रूपी पाँच अतिमहत्वपूर्ण नैतिक आचार-सिद्धान्तों को मानने के लिये प्रेरित करता है जिससे वे न केवल आत्मोन्नयन की ओर अग्रसर होते हैं बल्कि एक अच्छे समाज के निर्माता भी बनते हैं।

परमअनाग्रही जैन-धर्म की मूल विचार-सरणी सापेक्ष्यतावाद एवं अनेकान्तवाद द्वारा संचालित है जो यह कहती है कि इस संसार में सबकुछ सापेक्ष्य है, निरपेक्ष कुछ भी नहीं। दृष्टिकोण - 'नय' के अनुसार अर्थ बदलते हैं। यह गुण जैनधर्म को विश्व का सबसे अधिक सहनशील धर्म बनाता है जो दूसरों के विचारों को बिना आग्रह के चश्मे के खुले दिमाग से ग्रहण करता है। साथ ही अपने अनेकान्तवादी विचारों की स्याद्वाद की सप्त भंगियों के तहत 'स्यात् (अपेक्षा विशेष से)' निपात सहित अभिव्यक्ति इसके कथनों तथा दूसरों की आलोचनाओं को अत्यंत मृदु एवं अनाक्रामक बनाती है।

अनादिकाल से अनन्त काल-चक्रों के उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी कालों में अनन्त चोबीसियों के धर्म-प्रवर्तकों को स्मरणातीत काल से तीर्थंकरों के रूप में जाना जाता है क्योंकि वे सब अपने-अपने कालों में चतुर्विध धर्म-संघों की स्थापना करते हैं। यह संगठन इतना सशक्त होता है कि वर्तमान अवसर्पिणी काल के अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर के निर्वाण को ढाई सहस्राब्दियों से अधिक काल व्यतीत हो जाने पर भी धर्म का मौलिक रूप अक्षुण्ण है।

जैन-धर्म के यही पक्ष - सशक्त संगठन, वैश्विक आकर्षणयुक्त सिद्धान्त एवं हितकारिता - इसे सार्वभौम व शाश्वत धर्म बनाते हैं।

मैंने इस पुस्तक में इस आश्चर्यजनक पंथ, यदि इसे पंथ जैसी संकीर्ण संज्ञा दी जासके, जैन-धर्म की प्रमुख विशेषताओं को उनकी वर्तमानकालीन विश्व की विकट समस्याओं को हल करने की क्षमताओं के संदर्भ में मंगलाचारण के पश्चात निम्नानुसार छः खण्डों में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है: -

१. प्रथम खण्ड परिचयात्मक है जिसमें जैनधर्म के वर्तमान स्वरूप के प्रणेता भगवान महावीर के संक्षिप्त जीवन-वृत्त के साथ ही जैन-धर्म की शाश्वतता, ऐतिहासिकता, मौलिकता, लक्षण, सत्-स्वरूप, आत्म-स्वरूप, कर्म-स्वरूप, आत्मा एवं कर्म के अनादि संयोग, मुक्ति, जैनधर्म के आस्तिक्य-नास्तिक्य आदि पक्षों का विवेचन निम्न दो अध्यायों में किया गया है: -

- क. करुणावतार महावीर,
- ख. जैन-धर्म : एक परिचय,

२. द्वितीय खण्ड जैन-दर्शन व तत्त्व-मीमांसा से संबद्ध है तथा इसमें निम्न छः अध्याय हैं: -

- क. तत्त्वार्थ (तत्त्व-मीमांसा),
- ख. सम्यग्दर्शन (दर्शन-मीमांसा),
- ग. सम्यग्ज्ञान (ज्ञान-मीमांसा),

XXII : जैन-धर्म : जीवन-धर्म

- घ. अनेकान्तवाद व स्याद्वाद,
ङ. कर्म-सिद्धान्त, एवं
च. गुणस्थान (आत्मविकास के सोपान).
३. तृतीय खण्ड में जैन मान्यतानुसार लोक-विज्ञान की चर्चा निम्न चार अध्यायों में की गई है: -
- क. द्रव्य-लोक,
ख. क्षेत्र-लोक,
ग. काल, एवं
घ. भाव-लोक.
४. जैन-आचार (Jaina Ethics) शीर्षकीय चतुर्थ खण्ड के दो अध्यायों में अणगार-विनय व सागार-विनय रूप द्विविध आचार को प्रस्तुत किया गया है: -
- क. श्रमणाचार, तथा
ख. श्रावकाचार.
५. पंचम 'कथा-खण्ड' के निम्न तीन अध्यायों में मेने विपुल जैन कथा साहित्य में से तीन प्रतिनिधि कथाओं को प्रस्तुत किया है: -
- क. अण्डक ज्ञातकथा (ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र से),
ख. मृगापुत्र (उत्तराध्ययनसूत्र से), तथा
ग. रोहिणी-कथा (ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र से)
६. अंतिम, 'जीवनोपयोगी जैन-धर्म' शीर्षकीय, षष्ठ खण्ड के छः लेखों में विश्व की निम्न छः क्षेत्रों की वर्तमान समस्याओं के हल में एवं विभिन्न जीवनोपयोगी क्षेत्रों में भगवान महावीर द्वारा प्ररूपित अहिंसा, विनय, सत्य, शील, अपरिग्रह या परिग्रहसीमन, अनाग्रह, विवेकीकथन आदि जैन सिद्धांतों की व्यवहारिक उपयोगिता का दिग्दर्शन कराया गया है: -
- क. व्यक्तिगत सुख-शान्ति,
ख. सामाजिक सौहार्द,
ग. विश्व-शान्ति,

- घ. पर्यावरण-संतुलन,
- ङ. नैतृत्त्व एवं प्रबंधन, तथा
- च. व्यक्तित्व-विकास.

यहाँ यह कहना उचित ही होगा कि पुस्तक के आकार की सीमा के कारण इसमें विषय का संक्षिप्त विवेचन ही संभव हो सका है, किंतु क्योंकि यह पुस्तक जन-सामान्य को दृष्टिगत रखते हुवे लिखी गई है यह उन्हें जैन-धर्म के सिद्धान्तों एवं इसकी व्यवहारिक उपयोगिता से परिचित करवाने के अपने उद्देश्य में पर्याप्त सफलता अर्जित करेगी ऐसी आशा करता हूँ।

उदयपुर,
महावीर जयंती, 2003.

— श्रेयस

मंगलाचरण

णमो अरिहंताणं^१,
कर्म-शत्रुनाशक अरिहंतों को नमस्कार

णमो सिद्धाणं,
सर्वकर्म-मुक्त सिद्धों को नमस्कार

णमो आयरियाणं ।
धर्म-संघ नायक आचार्यों को नमस्कार

णमो उवज्झायाणं,
धर्म-शिक्षक उपाध्यायों को नमस्कार

णमो लोए सव्वसाहूणं ॥
लोक में स्थित सभी साधुओं को नमस्कार

एसो पंच-णमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
ये पांच नमस्कार सर्व पापों का नाश करने वाले हैं

मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ॥
तथा (यह मंत्र) सब मंगलों में प्रथम मंगल होता है ।

^१ पाठांतर - 'णमो अरिहंताणं' ।

जैन-धर्म : जीवन-धर्म

प्रथम खण्ड

महावीर व जैन-धर्म

- अध्याय - १. करुणावतार महावीर,
अध्याय - २. जैन-धर्म : एक परिचय.

४ : महावीर व जैन-धर्म

इस प्रथम खण्ड में जैन-धर्म के अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर का तथा जैन-धर्म का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में एक सामान्य परिचय दिया जा रहा है।

अध्याय - १ : करुणावतार महावीर

जैन-धर्म का वर्तमान स्वरूप इस हुंडा अवसर्पिणी काल के चरम तीर्थंकर भगवान महावीर द्वारा प्ररूपित है। अतः मेने उचित समझा कि इस पुस्तक का प्रारंभ उस परमपुरुष की महत् जीवनी से किया जाय।

वर्द्धमान महावीर -

वैशाली गणतंत्र के क्षत्रियकुंडग्राम नगर के राजकुमार वर्द्धमान महावीर अपने माता-पिता ज्ञातृवंशीय महाराजा सिद्धार्थ एवं विदेहराज चेटक की प्रिय पुत्री प्रियदर्शिनी, प्रियंवदा महारानी त्रिशला के नैनों के तारे थे। वे तीर्थंकर नामकर्म धारी थे एवं कालांतर में जैन-धर्म के चोबीसवें तीर्थंकर हुवे।

जन्म -

वर्द्धमान महावीर का जन्म ईसा से 599 वर्ष पूर्व चैत्र शुक्ला त्रयोदशी की मध्यरात्रि में हुवा था जब चंद्रमा उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में था। उनके जन्म के साथ कई ऐसी घटनाएं संबद्ध हैं जिनमें से कुछ पर दिगंबर व श्वेतांबर संप्रदायावलंबी एकमत हैं तथा कुछ पर मतेक्य का अभाव है। वे निम्नानुसार हैं -

१. तीर्थंकर नाम-कर्म के प्रभाव से वे गर्भकाल से ही मति, श्रुत व अवधि ज्ञान के धारक थे।

२. वर्द्धमान के जीव के गर्भ में आते ही उनकी माता त्रिशला ने चौदह उत्तम एवं मंगलकारी स्वप्न देखे जो कि केवल तीर्थंकरों एवं चक्रवर्तियों की माताओं को दिखाई देते हैं। वे चौदह स्वप्न हैं - १. श्वेत गजराज २. ऋषभ, ३. सिंह, ४. देवी लक्ष्मी, ५. स्वर्गावतरित पुष्पहार, ६. चंद्रमा, ७. सूर्य, ८. ध्वजा, ९. स्वच्छ जल युक्त

स्वर्णकलश, १०. कमलताल, ११. क्षीरसागर, १२. पद्माकार देव-विमान, १३. रत्नराशि एवं १४. निर्धूम अग्नि।

३. ज्योही भगवान महावीर का जीव माता त्रिशला के गर्भ में आया देवताओं ने धन-वर्षा कर राजा सिद्धार्थ के राज्यकोश को स्वर्ण-रजत व रत्न-राशि से भर दिया।

४. भगवान महावीर के गर्भ में आने पर राज्य की चहुँमुखी प्रगति होने लगी व सुख-समृद्धि वर्द्धमान होने लगी अतः माता-पिता ने उनका नाम वर्द्धमान रखा।

५. श्वेताम्बर परंपरा यह मानती है कि वर्द्धमान का जीव पहले ऋषभदत्त ब्राह्मण की पत्नी देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में आया तथा शक्रेन्द्र के निर्देशानुसार हरिणगमेषी देव द्वारा वहाँ से निकालकर माता त्रिशला के गर्भ में रखा गया।

६. वर्द्धमान जब माता के गर्भ में ही थे कि उन्होंने विचार किया कि मेरे हिलने-डुलने से माता को कष्ट होता होगा और उन्होंने हलन-चलन बंद कर दिया। किंतु माता ने गर्भस्थ शिशु के न हिलने-डुलने का अर्थ गर्भ-मृत्यु लगाया और विलाप करने लगी। अजन्मे शिशु के लिये भी माता की अपार ममता देखकर गर्भस्थ भावी तीर्थंकर जीव ने यह प्रतिज्ञा की कि वे माता-पिता के जीवनकाल में घर छोड़ कर प्रव्रजित नहीं होंगे।

बाल्यकाल एवं शिक्षा -

वर्द्धमान अत्यंत प्रियदर्शन, स्वस्थ, सबल, मेधावी, प्रवीण, तथा असामान्य रूप से तेजस्वी बालक थे। वे स्वभाव से गंभीर तथा कुशाग्रबुद्धि थे। आठ वर्ष की वय में उन्हें शिक्षा के लिये कलाचार्य व शिल्पाचार्य के पास भेजा गया। वे भी ऐसे मेधावी शिष्य को पाकर अति प्रसन्न हुवे, अपने आप को धन्य मानने लगे तथा उन्होंने वर्द्धमान को अपना समस्त ज्ञान प्रसन्नता पूर्वक प्रदान किया। वर्द्धमान ने उनका समस्त ज्ञान प्राप्त कर लिया तथा वे शीघ्र ही सांसारिक एवं आध्यात्मिक

ज्ञान में निष्णात हो गए।

महावीर वर्द्धमान -

अपने बाल्यकाल से ही वर्द्धमान अत्यंत निर्भीक, निडर व साहसी थे। उनके बाल्यकाल में कुछ ऐसी घटनाएँ घटी जिनसे उनके ये गुण प्रकाशित हुवे एवं उन्हें महावीर की उपाधि अर्जित की जो सदैव के लिये उनके नाम का पर्याय बन गई। वे घटनाएँ इस प्रकार हैं: -

१. एकदा जब वर्द्धमान अपने मित्रों के साथ बगीचे में खेल रहे थे एक भयानक सर्प वहाँ आया और जिस पेड़ पर चढ़कर सब बालक खेल रहे थे उसके तने से लिपट गया। सभी बालक भयभीत होकर रोने-चिल्लाने लगे किंतु वर्द्धमान निर्भीकता पूर्वक नीचे उतरे और सोंप को पूँछ से पकड़कर दूर छोड़ दिया।

२. एकबार एक मदोन्मत्त हाथी राज-मार्ग पर उत्पात मचाने लगा। लोग भयभीत हो कर इधर-उधर भागने लगे। वर्द्धमान ने उसका निडरता से सामना किया और बड़ी कुशलता और लाघव पूर्वक उसे तुरंत वश में कर लिया। उनके साहस की सर्वत्र प्रशंसा होने लगी।

३. एकबार एक दुष्ट जादूगर बालक का भेष धरकर वर्द्धमान की बालमंडली में सम्मिलित हो गया और घोड़ा-सवार का खेल खेलने लगा। ज्योंही वर्द्धमान उसकी पीठ पर सवार हुवे वह लंबा होने लगा और वर्द्धमान को लेकर भागने लगा। सभी बालक भयाक्रान्त हो गए किंतु वर्द्धमान ने बड़ी निडरता से उसकी गर्दन को इतने बल पूर्वक दबाया कि वह जादूगर पीड़ा से छटपटाने लगा और अपने अपराध के लिये क्षमा मांगने लगा।

राजकुमार महावीर -

महावीर वर्द्धमान एक उत्कृष्ट युवा राजकुमार हुवे किंतु वे युवकोचित कार्यों में कम ही रुचि लेते थे और अक्सर ऐसे विचारों में मग्न

रहते थे जिनमें अन्य युवक कोई रुचि नहीं रखते थे। वे सांसारिक प्राणियों के दुःख-दर्द के बारे में सोचते और उन्हें दूर करने के उपायों की खोज में रहते थे। उन्होंने संसार के दुःख-निवारण को ही अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया। वे जीवन जीने का ऐसा मार्ग खोजना चाहते थे जिस पर चलकर सभी लोग ही नहीं अपितु प्राणीमात्र सुख-शान्ति से रह सकें। लेकिन उनके माता-पिता तथा अग्रज नन्दीवर्द्धन उनके लिये कुछ और ही योजना बना रहे थे। उन्हाने वर्द्धमान का विवाह एक अत्यंत रूपवती राजकन्या यशस्वती से करवा दिया।^२ शीघ्र ही वर्द्धमान अतीव सुंदरी बालिका प्रियदर्शना के पिता बने किंतु उनके स्वभाव में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं आया। वे सांसारिक सुखों के प्रति उदासीन ही बने रहे। समय बीतता गया और जब वे अट्ठाईस वर्ष के हुवे उनके माता-पिता दिवंगत हुवे। उन्होने विचार किया कि अब समय आ गया है कि संसार त्यागकर सत्य और शाश्वत सुख की खोज की जाय। उनके अग्रज के अनुरोध पर वे दो वर्ष और सांसारिक जीवन में रहे तथा तीस वर्ष की वय में गृहत्यागी श्रमण-जीवन अंगीकार किया।

श्रमण महावीर -

तीस वर्ष की वय में वर्द्धमान महावीर ने राजसी ठाट-बाट का जीवन त्याग कर श्रमण-जीवन अंगीकार किया। उन्हाने स्वयं ही पंचमुष्टि केश-लुंचन किया, सभी वस्त्राभूषण उतार दिये केवल शकेन्द्र द्वारा भक्ति-भाव पूर्वक प्रदत्त देवदूष्य वस्त्र को परंपरा के निर्वाह हेतु एक वर्ष पर्यन्त अपने कंधे पर रहने दिया था।^३ इस प्रकार वे स्वयं सन्यस्त हुवे तथा तुरंत उन्हें उत्कृष्ट विपुलमति मनःपर्याय ज्ञान उत्पन्न हुआ।

महावीर ने अपना गृह-नगर त्याग दिया तथा अत्यंत उग्र तप करते

^२ दिगंबर परंपरा की मान्यतानुसार वर्द्धमान महावीर ने विवाह नहीं किया था, वे ब्रह्मचारी ही दीक्षित हुवे थे।

हुवे ग्रामानुग्राम विचरण करने लगे। वे अपना अधिकतर समय ध्यान व चिंतन में व्यतीत करते थे। लगभग साढ़े बारह वर्षों तक उनकी यही चर्या रही। इस अंतराल में उन्होंने मौन-व्रत का पालन किया; वे केवल मार्ग पूछने, रहने के स्थान के लिये अनुज्ञा प्राप्त करने तथा पूछे गए प्रश्नों के संक्षिप्त उत्तर देने के लिये ही बोलते थे। इस अवधि में उन्होंने अति कठिन असंस्कृत, हिंसक और दुष्ट जनजातीय लोगों के अनार्यदेश में भी विचरण किया जहाँ उन्हें भयानक शारीरिक यातनाएँ झेलनी पड़ी। यहाँ तक कि एकबार एक ग्वाले ने उनके कानों में कीले ठोंक दिये। उन्होंने ये सभी यंत्रणाएँ धैर्य, साहस व समभाव से सहन कीं। इस उग्र तपश्चरण व एकाग्र-ध्यान का प्रतिफल उन्हें चार घाती कर्मों के क्षय के द्वारा प्राप्त सर्वज्ञता तथा सर्वदर्शिता के रूप में मिला। वे संबुद्ध, सर्वज्ञ, केवलज्ञानी, केवलदर्शी हो गए।

सर्वज्ञ तीर्थकर महावीर -

अपने कठोर तपश्चरण व कठिन ध्यान-साधना से महावीर पूर्णतया मोहविमुक्त हो गए। उनके ज्ञानावरणीय व दर्शनावरणीय कर्मों के क्षय से उन्हें अनंत-ज्ञान व अनंत-दर्शन की प्राप्ति हुई; अंतराय कर्म के क्षय से अनंत आत्म-सामर्थ्य व अनंत आत्मिक सुख की प्राप्ति हुई। वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी केवली हो गए। जब उनके बोध-प्राप्ति का ज्ञान इन्द्रभूति, वायुभूति, अग्निभूति आदि प्रकाण्ड ब्राह्मण विद्वान पुरोहितों तक पहुँचा वे उन्हें चुनौति देने आ पहुँचे। कुल ग्यारह विद्वान चुनौति देते हुवे आए तथा सर्वज्ञ महावीर द्वारा अपने-अपने चिरकालिक संशयों के दूर किये जाने पर उनका शिष्यत्व स्वीकार करते गए। वे ग्यारह विद्वान महावीर के प्रथम प्रमुख शिष्य हुवे; वे उनके गणधर कहलाए। सर्वज्ञ महावीर ने अब उपदेश देना प्रारंभ किया तथा श्रमण-श्रमणी व श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध-संघ

³ यह श्वेताम्बर मान्यता है, दिगंबर मान्यतानुसार ऐसा कोई वस्त्र नहीं रखा गया था।

(तीर्थ - संसार-सागर को पार करने का तीर) की स्थापना की। वे तीर्थंकर हो गए - वर्तमान हुंडा-अवसर्पिणी काल की चौबीसी के चरम (अंतिम) तीर्थंकर। यद्यपि उनके उपदेश पूर्ववर्ती तीर्थंकरों द्वारा स्थापित परंपरा के अनुरूप ही थे किंतु उन्होंने परंपरा से प्राप्त ज्ञान की अभिनव व्याख्या दी। उनका प्रथम उपदेश - 'उप्पन्नै वा, विगमै वा, ध्रुवै वा (पदार्थ उत्पन्न होते हैं, नष्ट होते हैं फिर भी बने रहते हैं)' ने सत् के स्वरूप का प्रचलित मान्यताओं से अलग प्रणयन किया। उन्होंने कहा कि सत् निरंतर परिवर्तनशील होते हुवे भी ध्रुव है। इस परस्पर विरोधी सी लगने वाली व्याख्या का निराकरण तब हुवा जब उन्होंने समझाया कि पदार्थों के पर्याय निरंतर परिवर्तित होते रहते हैं जब कि द्रव्य रूप में वे सदैव विद्यमान रहते हैं। जब पर्याय परिवर्तित होती है तो पूर्व-पर्याय विनष्ट होती है, पश्चात्पूर्ति पर्याय उत्पन्न होती है तथा दोनों पर्यायों में द्रव्य वही रहता है। सत् के स्वरूप के बारे में इस नई अंतर्दृष्टि ने गणधरों को अपने पूर्वार्जित ज्ञान को एक नए परिप्रेक्ष्य में व्याख्यायित करने की दृष्टि दी एवं उन्होंने इस नवीन दृष्टिकोण से चतुर्दश पूर्वों का ज्ञान प्राप्त किया तथा द्वादशांगी की रचना की।

करुणावतार महावीर -

महावीर के उपदेश केवल एक ही प्रमुख सिद्धांत पर आधारित थे। वह सार्वभौम सिद्धान्त था 'प्राणीमात्र के प्रति पूर्ण अहिंसा का आचरण'; फिर चाहे वे प्राणी बड़े हों या छोटे, विकसित हों या अविकसित, एकेन्द्रिय हों या पंचेन्द्रिय, संज्ञी हों या असंज्ञी, आदि। उन्होंने जो भी सिद्धांत प्रतिपादित किये वे सब मानसिक, कायिक व वाचिक तथा कृत, कारित व अनुमोदित छः प्रकार से संपूर्ण हिंसा-विरति के समर्थन में ही थे। उन्होंने कहा, "सभी प्राणी जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता; सभी सुखापेक्षी होते हैं, कोई दुःखपेक्षी नहीं होता। अतः हमारे कार्य-कलाप ऐसे होने चाहिये कि उनके द्वारा कोई प्राणी हताहत न हो; उनके दस प्राणों में से एक प्राण को भी क्षति न पहुँचे। वे सभी प्राणियों तथा उनके प्राणों के प्रति

अत्यधिक सावधानी (जयणा) व संवेदनापूर्ण हों”। उन्होने उपदेश दिया कि हमें प्राणीमात्र के प्रति मैत्रीभाव रखना चाहिये, किसी के भी प्रति द्वेष-घृणा-शत्रुता का भाव नहीं रखना चाहिये। “जियो और जीने दो”, उन्होने कहा। उनका दया और मैत्री का भाव इतना प्रबल था कि उनकी उपस्थिति मात्र ने अत्यंत हिंस्र दृष्टिविषधारी सर्प, चंडकौषिक को भी शांत कर दिया।

उन्होने अपनी जागृत चेतना में यह देखा कि अपनी शुद्धावस्था में आत्मा अनंत-ज्ञान, अनंत-दर्शन, अनंत-सुख व अनंत आत्म-वीर्य युक्त होती है तथा इस शुद्धात्म-स्वरूप को प्राप्त करने के लिये रत्नत्रयी (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य युक्त) मोक्ष-मार्ग का प्रणयन किया। उन्होने कहा कि आत्मा का यह स्वरूप ही उसका स्वाभाविक स्वरूप है जो कर्म-बंध द्वारा विकृत हो जाता है। कर्म-बंधनों से छुटकारा पाने (कर्म-निर्जरा) का एकमात्र उपाय सही दृष्टिकोण (सम्यग्दर्शन) के सद्भाव में प्राप्त सही ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) द्वारा संचालित सही आचरण (सम्यक्चारित्र्य) ही है। उन्होने कहा कि सम्यग्दर्शन वस्तुओं को सही परिप्रेक्ष्य में देखने की क्षमता के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। सम्यग्ज्ञान वह ज्ञान है जो सम्यग्दर्शन के आलोक में प्राप्त किया जाता है तथा वे मानसिक, वाचिक व शारीरिक गतिविधियाँ जो सम्यग्ज्ञान द्वारा प्राप्त विवेक से संचालित होती हैं सम्यक्चारित्र्य है। उन्होने अपने धर्म-संघ के सदस्यों के लिये एक द्विस्तरीय चारित्र्य-प्रणाली का उपदेश दिया। श्रमण-चर्या स्वाभाविक रूप से अधिक कड़ी, कठिन व कठोर थी तथा उसमें उल्लंघन के लिये अवकाश नहीं था; उनके व्रत महाव्रत कहलाए। श्रावक-चर्या अपेक्षाकृत सरल थी एवं उसमें गृहस्थ-जीवनानुरूप प्रावधान थे; उनके व्रत अणुव्रत कहे गए। उन्होने कहा कि सभी व्रत - महाव्रत अथवा अणुव्रत - एक ही भावना के समर्थक हैं कि हमें जितना संभव हो अहिंसक होना चाहिये। हमें असत्य व चौर्य से विमुक्त होना चाहिये क्योंकि वे हमारी स्वार्थपूर्ति के लिये दूसरों को आहत करते हैं। ब्रह्मचर्य इसलिये आवश्यक है कि इससे हम कई पापों से बचे रहते हैं। अपरिग्रह (संपत्ति-स्वामित्व व उनके प्रति लगाव - गृद्धिभाव) या

यथासंभव परिग्रह-परिमाण आवश्यक है क्योंकि यह हिंसा का प्रबलतम कारण है तथा आत्मा को सांसारिक बंधन में रखने का प्रमुख कारण।

उन्होंने पूर्ण अहिंसा और सर्वमैत्री का संदेश दिया तथा उसे वैश्विक करुणा व सदयता के रूप में प्रस्तुत किया। निश्चित ही वे सच्चे अर्थों में करुणावतार थे।

क्रांतदृष्टा महावीर -

महावीर सच्चे अर्थों में क्रांतदृष्टा थे। उनका संदेश उनके समय से बहुत आगे था। उन्होंने ऐसे समय में समानता का संदेश दिया जब समाज अस्पृश्यता के बंधन में झकड़ा हुआ था। उन्होंने जाति-प्रथा से लोहा लिया तथा कहा कि मानव की जाति उसके जन्म से नहीं किंतु उसके कर्म से जानी जानी चाहिये। जो शीलवंत है वही ब्राह्मण है; जो रक्षक है वही क्षत्रिय है; जो सच्चाई व ईमानदारी से कृषि, शिल्प व वाणिज्य-व्यापार करता है वही वैश्य है तथा जो विनम्र-भाव से निष्ठापूर्वक सेवा-कार्य करता है वही सच्चा सेवक है।

उन्होंने साहसपूर्वक उन धार्मिक कर्मकाण्डों की निंदा की जिनमें पशुबलि आदि हिंसक कृत्य किये जाते थे। उन्होंने यह शंखनाद किया कि धर्म के नाम पर जीव-हिंसा जैसे अशुभ कार्य से किसी भी प्रकार के हितकारी शुभ फल की आशा करना व्यर्थ है। चाहे धर्म के नाम पर ही सही, ऐसे हिंसक कृत्यों के कर्ता तो रौरव नरकों में दारुण दुःख भुगतने के अतिरिक्त कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

ऐसे समय में जब कि बौद्धिक विरोध अपने चरम पर था तथा विभिन्न धर्म-दर्शन अपने-अपने एकान्त-आगंठ के अंधकार से ग्रस्त होकर एक-दूसरे से संघर्षरत थे, एक-दूसरे को मिथ्या सिद्ध करने पर तुले हुवे थे, भगवान महावीर ने दर्शन-जगत को अपनी अद्वितीय देन 'अनेकान्तवाद' से संघर्षमुक्त किया। अनेकान्तवाद ने विभिन्न धर्म-दर्शनों के दार्शनिकों के लिये एक-दूसरे के दृष्टिकोण को सापेक्ष दृष्टि से देखने-समझने का मार्ग

प्रशस्त किया।

भगवान महावीर परिवर्तित समय की आवश्यकताओं का महत्त्व समझ सके तथा वे अपनी मान्यताओं को तदनुसार प्ररूपित करने में सफल हुवे। यद्यपि उनसे पूर्ववर्ती बावीस तीर्थंकरों ने चातुर्याम-धर्म का प्रतिपादन किया था, उन्होंने सुस्थापित परंपरा से अलग प्ररूपणा का साहस जुटाया और पंचयाम-धर्म की प्ररूपणा की। उनकी प्ररूपणाएँ इतनी तर्कसंगत थीं कि वे तथा उनके प्रमुख शिष्य भी केशी प्रभृति उद्भट-प्रकाण्ड विद्वान पार्श्वपत्य महामुनियों को अपनी परंपरा छोड़कर पंचयाम परंपरा को अपनाने के लिये सहमत कर पाए। उन्होंने स्पष्ट कहा कि अब समय आ गया है कि 'ब्रह्मचर्य' को परिग्रह महाव्रत के अंतर्गत ही न लेकर एक अलग महाव्रत के रूप में स्पष्टतः प्ररूपित किया जाय। सभी ने इसकी आवश्यकता को अनुभव किया तथा महावीर का पंच महाव्रतों वाला पंचयाम-धर्म अंगीकार किया।

ऐसे में क्या आश्चर्य कि उनके धर्म को सभी समुदायों के लोगों ने बड़ी संख्या में अंगीकार किया तथा राजा और रंक समान रूप से उनके अनुयायी बने। उस समय का महत्तम पृथ्वीपति चक्रवर्ती मगध-सम्राट श्रेणिक-बिंबिसार उनका अनुयायी बना तथा अन्य बहुत से राजा, राणा, छत्रपति, नराधिप, सेनापति, श्रेष्ठि, आदि उनके बताए मार्ग का अनुसरण करने लगे। उनका संघ चारों वर्णों के लोगों के लिये खुला था तथा उनमें यह साहस था कि उन्होंने अछूत मृतमांसभोजी चांडालों को अपने श्रमणसंघ में दीक्षित किया तथा उन्हें इतने महान संतों में बदल दिया कि वे सुरासुर-नरादि द्वारा वंदित होकर सर्वपूज्य हो गए।

परिनिवृत्त महावीर -

भगवान महावीर ने तीस वर्षों तक देश-देश, नगर-नगर, ग्राम-ग्राम विचरण कर देव, मनुष्य, तिर्यंचादि समस्त जीविकायों के हितार्थ उपदेश दिया। उनका वैश्विक प्रेम व सर्वमैत्री व प्राणीमात्र के प्रति अहिंसा का संदेश न केवल इस देश के चारों कोनों में अपितु उर्ध्वलोकस्थ स्वर्ग तक

गुंजायमान हो गया।

बहत्तर वर्ष की वय में, वार्द्धक्य की चिंताओं से असंपृक्त, अपनी सुख-सुविधा से निरपेक्ष वे अभी भी लगातार अथक रूप से अपना अहिंसा व मैत्री का सार्वभौम संदेश प्रसारित कर रहे थे किंतु अब समय आ गया था कि वे संसार को अलविदा कहकर परिनिवृत्त हों। यही वह क्षण था जिसके लिये समस्त साधक जन्म-जन्मान्तर तक साधना करते हैं। वह क्षण था - मुक्ति का क्षण।

भगवान का अंतिम चातुर्मास पावा में था जब कि उनके चार अघातिया कर्म भी फल देकर निर्जरित हो गए तथा उनकी आत्मा संसार के पार लोकाग्र में स्थित सिद्धशिला पर अपना स्थाई निवास बनाने के लिये सन्नद्ध थी। आज से ५२७ ईसा पूर्व कार्तिक अमावस्या की मध्य-रात्रि में निर्वाण वेला आ गई तथा वैशालिक ज्ञातपुत्र श्रमण भगवान महावीर ने अपने द्वारा स्थापित धर्म-संघ की बागडोर अपने ही गणधर आर्य सुधर्मा के हाथों में सौंप कर अंतिम सांस ली और वे परमानंदमयी समस्त सिद्ध आत्माओं के साथ एकाकार हो गए, सिद्ध-बुद्ध और मुक्त होगए। जैन मतावलंबी आजतक उस तिथि को दीपोत्सव के रूप में मनाते हैं।

निम्नांकित श्लोक उनकी इस चरमोपलब्धि व उनके चरमोत्कर्ष को स्पष्टतया प्रकट करता है: -

वीरः सर्वसुरासुरेन्द्रमहितः वीरं बुधाः संस्रिता ।

वीरेणाभिहतः स्वकर्मनिचयः श्री वीराय नित्यं नमः ॥

अर्थात् - हम कर्म-राशि रहित, देव-देवेन्द्र वंदित एवं विबुधार्चित उन श्री (महा)वीर को नित्य नमन करें जिनके द्वारा अपने समस्त कर्मों का क्षय कर दिया गया है।

इस पुस्तक में ऐसे संबुद्ध सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तीर्थंकर भगवान महावीर द्वारा प्ररूपित-प्रतिपादित अमूल्य सिद्धांतों को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

अध्याय - २ : जैन-धर्म : एक परिचय

जैन-धर्म -

सर्वज्ञ जिनेश्वरदेव कैवल्य प्राप्ति के उपरांत जिस धर्म की प्ररूपणा करते हैं वही जिन-धर्म कहलाता है। कालान्तर में जिन-धर्म के माननेवाले लोग जैन कहलाने लगे तथा जिन-धर्म जैन-धर्म कहलाने लगा।

जैन-धर्म का वैश्विक रूप -

विश्व में यद्यपि जैन-धर्म के अनुयाइयों की संख्या बहुत कम है, इस धर्म में विश्व-धर्म बनने की सभी विशेषताएँ विद्यमान हैं। कोई भी धर्म या मान्यता क्षेत्र-विशेष या समुदाय-विशेष तक ही तब सीमित हो जाते हैं जब कि उसमें एकान्त आग्रहशीलता व मताग्रह के कारण उदारता का अभाव हो जाता है। यही अनुदारता उसक लिये अन्य धर्मों व मतों के साथ संघर्ष की स्थिति पैदा करती है। जैन-धर्म संभवतया ऐसा एकमात्र धर्म है जो अपने अनेकान्तवादी दृष्टिकोण की विरासत के कारण किसी भी धर्म या मत के विरोध में नहीं आया। इसका वैश्विक रूप इसके नाम (जिन-धर्म) में, इसके दृष्टिकोण में, इसके क्रिया-कलापों में तथा इसके प्रमुख प्रार्थना-काव्य, जिसे मेने मंगलाचरण के रूप में उद्धृत किया है, से भासित होता है।

जैन-धर्म का नाम 'जिन' शब्द से बना है जिसका अर्थ होता है '(मोह, कषाय आदि आत्म-शत्रुओं को) जीतने वाला' तथा कोई भी साधक जो यह उपलब्धि प्राप्त कर लेता है वह व्यक्ति, धर्म या मत के भेद से रहित होकर 'जिन' हो जाता है। यहाँ न व्यक्ति-पूजा है न धर्मिक आग्रह-उन्माद। जैन-धर्म का दृष्टिकोण अत्यंत उदार है क्योंकि इसकी अनेकान्तवादी धारणा यह मानती है कि किसी भी धर्म-दर्शन के दार्शनिकों के द्वारा प्रस्तुत विचारों में सत्य का कुछ अंश तो होता ही है अतः किसी

भी दार्शनिक दृष्टिकोण को मिथ्या कह कर नकारने की आवश्यकता ही नहीं है। इस उदार दृष्टिकोण ने ही जैन-धर्म को अन्य धर्मों के बीच होने वाले भीषण संघर्षों से बचाया है तथा इसे इसका वैश्विक रूप दिया है। जैन मतावलंबियों के कार्य-कलाप (आचार-गोचर - Ethics) भी अन्य किसी भी धर्म के मानने वालों के विरोध में नहीं हैं। वे तो केवल व्यक्ति के आत्मिक उत्थान के लिये हैं तथा अपने संत-वर्ग व श्रावक-वर्ग के लिये एक ऐसी जीवन-शैली की हिमायत करते हैं जो अहिंसा, संयम व तप पर आधारित है। जैन-धर्म की प्रमुख प्रार्थना 'नमस्कार महामंत्र' में किसी भी व्यक्तिविशेष के प्रति भक्तिभाव प्रदर्शित किये बिना गुणात्मक दृष्टि से पंच-परमेष्ठि को ही नमन किया गया है। जैन मतावलंबियों के लिये किसी भी जाति, धर्म या मत के वे सभी महापुरुष व परमपुरुष जो इन पदों में विवक्षित गुणों से युक्त हैं, पूज्य हैं वे श्रद्धेय हैं, समादरणीय हैं। इससे अधिक उदार और क्या हो सकता है?

जैन-धर्म की ऐतिहासिकता व शाश्वतता -

शाश्वतता - जैन विश्वास और मान्यता के अनुसार जैन-धर्म एक शाश्वत धर्म है जिसके बारे में ऐसा माना जाता है कि इसका उपदेश अनादि भूतकाल से अनंत चोबीसियों के अनंत तीर्थंकरों ने अपने-अपने समय में किया है, वर्तमान में भी बीस विहरमान तीर्थंकर, भरत-क्षेत्र के निवासियों के लिये अगम्य, महाविदेह-क्षेत्र में कर रहे हैं तथा भविष्य में भी अनंत चोबीसियों के अनंत तीर्थंकर अनंतकाल तक करते रहेंगे। यद्यपि प्रत्येक तीर्थंकर प्रकारांतर से अपने से पूर्ववर्ती तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित धर्म का ही उपदेश करते हैं, वे चर्या तथा आचार में समयानुसार परिवर्तन भी करते हैं। समय-समय पर क्रम से इस प्रकार धर्म-प्ररूपणा तथा उपदेश इसलिये आवश्यक हो जाते हैं कि पूर्ववर्ती तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित-उपदिष्ट धर्म-सिद्धांतों का प्रभाव समय के साथ क्षीण हो जाता है।

जैन मान्यता के अनुसार प्रत्येक काल-चक्र में उत्सर्पिणी तथा

अवसर्पिणी नामक दो काल होते हैं जिनमें प्रत्येक में छः छः समय-खण्ड या आरक होते हैं। प्रत्येक काल के तीसरे व चौथे आरकों में चोबीस तीर्थंकर विपुल अंतराल से अपने-अपने समय में धर्म-प्ररूपणा करते हैं। वर्तमान हुंडा काल-चक्र के अवसर्पिणी काल के तीसरे व चौथे आरकों में भी चोबीस तीर्थंकरों ने धर्म-प्ररूपणा की थी जिनमें से प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव थे जो तीसरे आरक में आज से असंख्य वर्षों पूर्व हुवे तथा चोबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर थे जो चौथे आरक के अंत में हुवे जिनका जन्म आज से दो हजार छः सौ दो वर्षों पूर्व वैशाली के क्षत्रियकुंडग्राम में हुवा तथा निर्वाण आज से दो हजार पोंच सौ तीस वर्षों पूर्व पावापुरी में हुवा था।

ऐतिहासिकता - जैन-धर्म की ऐतिहासिकता कई साहित्यिक तथा पुरातात्विक प्रमाणों से सिद्ध है। अति पुरातन काल से ही प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव से लगाकर चोबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर तक का जैन-धर्म का पारंपरिक इतिहास आगम ग्रंथों तथा उनके व्याख्या ग्रंथों में वर्णित घटनाओं से लिया जा सकता है। आधुनिक काल के सभी इतिहासकार भगवान पार्श्वनाथ को तथा कुछ भगवान अरिष्टनेमि को भी ऐतिहासिक मानते हैं।

जैन परंपरा के अनुसार असंख्य (लगभग एक सागरोपम) काल पूर्व प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव ने मानव जाति को ऐसी भोग-संस्कृति से उबारा जिसमें वे अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति वन के वृक्षों (कल्पवृक्षों) से किया करते थे तथा उन्हें ऐसी कर्म-संस्कृति में संक्रमित कराया जहाँ उन वृक्षाधारित वनवासी मानवों की वृक्षों पर निर्भरता को कृषि-कर्म, शिक्षा, युद्धकला आदि जीविकोपार्जन के साधनों का ज्ञान करा कर उनका प्रशिक्षण देकर समाप्त किया तथा उन्हें सभ्यता व संस्कृति का पाठ पढ़ाया। उन्होंने ही सुसंस्कृत मानव-समाज की रचना की; सज्य-संचालन, विधि-विज्ञान, आदि का प्रादुर्भाव किया। उनसे पूर्व तो

राज्यादि की परिकल्पना का ही अभाव था, वनवासी मानव कुलों में कुलकरो के नैतृत्व में रहते थे। ऋषभदेव ही इस काल में इस धरती पर पहले राजा हुवे।^४ सभ्य मानव-समाज को सुस्थापित करके तथा असंख्यकाल तक राज्य करने के उपरांत ऋषभ ने अपना सांसारिक-साम्राज्य अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को सौंप दिया तथा वे इस काल के प्रथम आत्म-गवेषणार्थी निष्परिग्रही श्रमण हुवे।^५ आत्म-साक्षात्कार (कैवल्य प्राप्ति) के पश्चात् उन्होने धर्म-प्ररूपणा की तथा चतुर्विध धर्म-संघ (तीर्थ) की स्थापना की अतः वे प्रथम तीर्थंकर कहलाए।^६ अंततः उन्होने अष्टापद (कैलाश) पर्वत पर निर्वाण प्राप्त किया।^७ उनके एकसौ पुत्रों में ज्येष्ठ पुत्र भरत इस काल के प्रथम चक्रवर्ती-सम्राट हुवे तथा समस्त आर्य-क्षेत्र का नाम उनके नाम पर भारतवर्ष पड़ा। इस विषय मे डॉ. हर्मन याकोबी ने लिखा है, “यह मानने का कोई आधार नहीं है कि पार्श्वनाथ जैन-धर्म के प्रवर्तक थे। जैन परंपरा एकमत से यह मानती है कि जैन-धर्म के प्रवर्तक प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव ही थे तथा इस बात में कि उन्हें प्रथम तीर्थंकर माना जाता है कुछ तो ऐतिहासिक तथ्य होना चाहिये। इतना विश्वासप्रद साक्ष्य उपलब्ध होते हुवे हम जैन धर्म-दर्शन को विश्व का ऐसा प्राचीनतम धर्म-दर्शन नहीं मानें, जो मानव संस्कृति के उद्भव के साथ ही उदित हुवा तथा समय के साथ विकसित हुवा, ऐसी कोई बाध्यता नहीं है।”

भगवान ऋषभदेव के पश्चात् तेबीस अन्य तीर्थंकर और हुवे जिन्होने परिवर्तित समय व मानव स्वभाव को दृष्टिगत रखते हुवे कुछ आवश्यक परिवर्तनों के साथ मूलतः उन्हीं सिद्धांतों व आचार-गोचर की प्ररूपणा व उपदेश किया जो कि प्रथम तीर्थंकर द्वारा प्ररूपित व उपदिष्ट किये गए थे। भगवान महावीर (५६६-५२७ ईसा पूर्व) अंतिम तीर्थंकर हुवे।

^४ “आदिमं पृथ्वीनाथं च, आदिमं निष्परिग्रहं।
आदिमं तीर्थनाथं च, श्री ऋषभस्वामिनं स्तुमः॥”

तेवीसवें तीर्थंकर, भगवान पार्श्वनाथ, विसेंट स्मिथ, आर. सी. मजूमदार व आर. के. मुकर्जी जैसे आधुनिक इतिहासवेत्ताओं द्वारा भी ऐतिहासिक व्यक्ति माने जाते हैं जो उन्हें जैन-धर्म का एक महान प्रवर्तक व उपदेशक मानते हैं। वे वाराणसी के राजकुमार थे, जिन्होंने श्रमण-दीक्षा अंगीकार की, कठोर तप करके कर्मक्षय द्वारा सर्वज्ञ-सर्वदर्शिता प्राप्त की, धर्म व तीर्थ की स्थापना की तथा निर्वाण से पूर्व सत्तर वर्षों तक उसका उपदेश किया। वे सौ वर्ष की आयु में वर्तमान झारखण्ड राज्य में स्थित सम्मेदशिखर पर्वत (पारसनाथ हिल) पर परिनिर्वाण को प्राप्त हुवे। उनसे भी पहले बावीसवें तीर्थंकर यदुवंशीय भगवान अरिष्टनेमि श्रीकृष्ण के चचेरे भ्राता थे। उनकी ऐतिहासिकता के बारे में भी कोई भ्रांति नहीं हो सकती है। उनका विचरण-क्षेत्र पश्चिमी भारत में वर्तमान गुजरात राज्य में स्थित सौराष्ट्र क्षेत्र रहा तथा उन्होंने ऊर्जयंतगिरि (गिरनार पर्वत) पर निर्वाण प्राप्त किया।

इसी प्रकार जैन-आगम व अन्य आगमेत्तर साहित्य में अन्य तीर्थंकरों के बारे में भी ऐतिहासिक तथ्य प्राप्त होते हैं तथा विरुद्ध-प्रमाण के अभाव में उन्हें भी प्रामाणिक नहीं मानने का कोई कारण नहीं है।

इसके अतिरिक्त ऐसे पुरातात्विक प्रमाण भी प्रभूत मात्रा में उपलब्ध हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि जैन-धर्म का उद्भव मान्य इतिहास-पुरुष भगवान पार्श्वनाथ के काल से असंख्य काल पूर्व जैन-धर्म के आदि-पुरुष भगवान ऋषभदेव द्वारा हो चुका था जिन्हें इसी कारण से आदिनाथ कहा जाता है। इन पुरातात्विक प्रमाणों का विवरण निम्नानुसार है: -

क. कलिंगाधिपति खारवेल १६१ ईसा पूर्व अपने द्वितीय मगध अभियान में तीन सौ वर्ष पूर्व मगध-सम्राट नंद द्वारा कलिंग से लेजाई गई अग्रजिन (आदिनाथ) की प्रतिमा को पुनः लौटा लाया। यह घटना यह सिद्ध करती है कि उस काल (ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दि) में भी भगवान आदिनाथ की पूजा होती थी तथा यह कि तब भी उनके अनुयाइयों द्वारा उनकी प्रतिमा अत्यंत श्रद्धा से पूजी जाती थी।

- ख. सिंधु-घाटी खनन में कुछ ऐसी नग्न-पुरुष मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं जो खड़ी कायोत्सर्ग-मुद्रा में हैं। यह भलीभाँति सिद्ध करता है कि जैन-धर्म सिंधु-घाटी सभ्यता काल में भी प्रचलित था क्योंकि नग्न-पुरुष प्रतिमाओं की पूजा का प्रचलन जैन-धर्म में ही था और वर्तमान काल में भी है।
- ग. एक मृण्मुद्रा पर छः नग्न-पुरुष खड़ी कायोत्सर्ग मुद्रा में उत्कीर्णित हैं। ध्यान की यह खड़ी मुद्रा जैन साधना-पद्धति की विशेषता है जो अन्य धर्म-साधनाओं में प्रचलित नहीं हैं। यह सिद्ध करता है कि वे उत्कीर्णन जैन श्रमणों के थे।
- घ. खड़ी या बैठी कायोत्सर्ग स्थित पुरुष आकृतियाँ वर्तमान में प्रचलित जिन-प्रतिमाओं से मिलती हैं।
- ङ. कुछ मुद्राओं पर कायोत्सर्ग स्थित पुरुष आकृतियों के नीचे बैल की आकृतियाँ उत्कीर्णित हैं। वे आकृतियाँ भगवान ऋषभदेव की होनी चाहियें क्योंकि जैन परंपरा में तीर्थंकर प्रतिमाओं के नीचे उनके लांछन (चिन्ह) उत्कीर्णित करने की परिपाटी है तथा बैल भगवान ऋषभदेव का लांछन है।
- च. कुछ मुद्राओं पर जैन व हिंदू पद्धति से उत्कीर्णित स्वस्तिक भी मिले हैं।
- छ. मोहन-जो-दड़ो उत्खनन में प्राप्त मुद्राओं पर मथुरा की पुरातन जैन-कला से तादात्म्य रखती कुछ ऐसी आकृतियाँ उत्कीर्णित मिली हैं जो यह दिखाती हैं कि वहाँ ईसा से ३५००-३००० वर्षों पूर्व जैसे पुरातन काल में भी जैन-धर्म प्रचलित था।

प्रसिद्ध विद्वान जैन-संत आचार्य विद्यानंदजी महाराज ने मोहन-जो-दड़ो उत्खनन से प्राप्त अवशेषों पर की गई खोज के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि जैन-धर्म वहाँ कम से कम ५००० वर्ष ईसा पूर्व विद्यमान था। ये सब साक्ष्य इसी दिशा की ओर इंगित करते हैं कि जैन-धर्म एक अत्यंत प्राचीन धर्म है। अतः हम तर्क-संगत रूप से यह

निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि जैन वाङ्मय में वर्णित चौबीस तीर्थंकर ऐतिहासिक व्यक्ति थे। इस अवसर्पिणी काल में भी जैन-धर्म का उद्भव आज से असंख्य वर्षों पूर्व भगवान ऋषभदेव के द्वारा हुवा तथा उनके पश्चाद्वर्ती तेबीस तीर्थंकरों ने भी परिवर्तित समयानुसार कुछ परिवर्तनों के साथ मूलतः उसी धर्म की प्ररूपणा की।

चौबीस तीर्थंकर -

वर्तमान अवसर्पिणी काल में जिन चौबीस तीर्थंकरों ने अपने-अपने काल में जैन-सिद्धांतों की प्ररूपणा की तथा लोगों को उनका उपदेश दिया वे इस प्रकार हैं: -

१. भगवान ऋषभदेव,
२. भगवान अजितनाथ,
३. भगवान संभवनाथ,
४. भगवान अभिनंदन,
५. भगवान सुमतिनाथ,
६. भगवान पद्मप्रभ,
७. भगवान सुपाशर्वनाथ,
८. भगवान चन्द्रप्रभ,
९. भगवान सुविधिनाथ,
१०. भगवान शीतलनाथ,
११. भगवान श्रेयांसनाथ,
१२. भगवान वासुपूज्य,
१३. भगवान विमलनाथ,
१४. भगवान अनंतनाथ,
१५. भगवान धर्मनाथजी,
१६. भगवान शान्तिनाथ,
१७. भगवान कुंथुनाथजी,
१८. भगवान अरनाथ,

२२ : जैन-धर्म : जीवन-धर्म

१६. भगवान मल्लिनाथ,
२०. भगवान मुनिसुव्रत,
२१. भगवान नमिनाथ,
२२. भगवान अरिष्टनेमि,
२३. भगवान पार्श्वनाथ, तथा
२४. भगवान वर्द्धमान महावीरस्वामी.

इन चौबीस तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट धर्म सिद्धांततः एक ही था। प्रत्येक तीर्थंकर ने अपने समय के परिवर्तनानुसार आचार-गोचर में कुछ आवश्यक परिवर्तन किये जो परिवर्तनशील समय व मानव-स्वभाव के अनुसार आवश्यक भी था। उदाहरणार्थ - प्रथम व अंतिम तीर्थंकरों ने अपने अनुयाइयों के लिये पंचयाम (प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन व परिग्रह के सर्वथा विरमण रूप पौंच महाव्रतों वाले) श्रमण-आचार की प्ररूपणा आवश्यक समझी जबकि बीच के बावीस तीर्थंकरों ने केवल चातुर्याम (मैथुन विरमण को छोड़ कर केवल चार महाव्रतों वाले) श्रमणाचार की प्ररूपणा की। इसका अर्थ यह कदापि नहीं था कि वे शिथिल श्रमणाचार के उपदेशक थे तथा उन्होंने अपने शिष्यों को मैथुन सेवन की खुली छूट दे रखी थी। इसका अर्थ केवल इतना है कि उनका श्रमण वर्ग इतना सरल व सुज्ञ था कि वह सर्वपरिग्रह विरमण का अर्थ मैथुन विरमण सहित ही लेता था।

जैन-धर्म के तीन लक्षण -

जब हम किसी धर्म या मत की बात करते हैं तो सबसे पहले हमारा ध्यान उसके उन मूल अवयवों की ओर जाता है जो उसको एक विशिष्ट पहचान देती है। जैन-धर्म के संदर्भ में वे तीन मुख्य अवयव हैं - १. अहिंसा, २. संयम और ३. तप। इन तीनों को हम जैन-धर्म के लक्षण कह सकते हैं।

‘धर्म’ शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है तथा कालक्रम से विभिन्न दार्शनिक दृष्टाओं ने इसको अलग-अलग ढंग से परिभाषित किया है। एक मतानुसार धर्म सही व गलत को पहचान कर सम्यक् सदाचरण में प्रवृत्ति तथा असम्यक् असदाचरण से विमुखता ही है।^५ इस अर्थ में यह एक संपूर्ण जीवन-दर्शन है। धर्म की इसी से मिलती-जुलती परिभाषा के अनुसार ‘अपना कर्तव्य करना ही धर्म है’।^६ एक धारणानुसार जो धारण करता है वही धर्म है।^७ जैन मतानुसार किसी भी वस्तु का अपने स्वभावानुसार आचरण ही धर्म है।^८

धर्म की जैन परिभाषाके अनुसार जैनाचार में केवल उन्हीं क्रियाओं पर जोर दिया जाता है जो इसके मतावलंबियों को उनके वास्तविक स्वाभाविक स्वभाव की ओर ले जाय। जैन-धर्म के तीन लक्षण - अहिंसा, संयम और तप ऐसी ही क्रियाएँ हैं जो व्यक्ति (आत्मा) को वास्तविक आत्म-स्वभाव ‘शुद्धता’ तथा इसके वास्तविक लक्ष्य - सांसारिक दुःखों से छुटकारे की ओर ले जाते हैं। इस दुःख-मुक्ति की स्थिति को ही धर्म-शास्त्रों में आत्म-मुक्ति (Spiritual salvation), आत्म विकास की पराकाष्ठा (Spiritual emancipation), अंतिम मुक्ति (Final deliverance), मुक्ति (Liberation), निर्वाण तथा मोक्ष आदि शब्दों से व्यक्त किया गया है।

तीन लक्षण -

प्राणीमात्र के समस्त कार्य-कलापों का चरम लक्ष्य सुख प्राप्त करना होता है। सुख दो प्रकार के - शारीरिक, जो शरीर व ज्ञानेन्द्रियों को भले लगें, व आत्मिक, जो आत्मा के लिये आनंदप्रद हों, हो सकते हैं। आत्मिक

^५ कर्तव्याकर्तव्य बोधः सः धर्मः।

^६ कर्म ही धर्म है।

^७ धारयति सः धर्मः।

^८ वत्थुसहावो धम्मो।

सुख को ही आनन्द की संज्ञा दी जाती है। यह हमारा परीक्षित अनुभव है कि शुभ-कार्य मंगलकारी व आनन्दप्रद होते हैं तथा अशुभ-कार्य अमंगलकारी व दुःखदायी। धर्म जो सम्यक्लक्षी है, कर्तव्याभिमुख है तथा स्वभावमणता का द्योतक है शुभ और मांगलिक होना ही चाहिये। जैन दृष्टाओं ने कहा है कि धर्म ही परम-मंगल है किंतु उन्होंने मंगलकारी धर्म को परिभाषित कर दिया कि केवल वही धर्म उत्कृष्ट मंगल है जो अहिंसा, संयम और तप रूप है। उन्होंने कहा कि स्वर्ग के देवता भी उनको नमन करते हैं। जिनका मन सदा ऐसे मंगलकारी धर्म में रत रहता है।^६

अहिंसा -

अहिंसा जैन-धर्म का सर्वप्रथम सिद्धांत है। हरएक जैन संज्ञक व्यक्ति अपने आप को अहिंसक कहता है तथा इसमें गौरव का अनुभव करता है। वह अहिंसा को अपना सर्वप्रथम कर्तव्य मानता है। उसका उद्घोष होता है - 'अहिंसा परमो धर्मः।' 'अहिंसा' शब्द से ही यह भासित होता है कि यह सभी प्राणियों के प्रति सब प्रकार की हिंसा से विरत होता है। अतः हमारे लिये यह जानना संगत होगा कि हिंसा क्या है? हम इस विषय की समीक्षा तीन स्तरों पर करेंगे - १. हिंसा किसे कहा जाय? २. हिंसा के लक्षण क्या हैं? तथा ३. हिंसा के शिकार कौन हैं?

हिंसा क्या है?

स्थूल दृष्टि से हिंसा का अर्थ है किसी दृष्टिगोचर प्राणी को जान-बूझ कर या अनजाने ही मारना, पीटना, चोट पहुँचाना आदि। सूक्ष्म दृष्टि से तो इसके कई फलित होते हैं। सामान्यतया हिंसा से तात्पर्य किसी हिंसक कृत्य द्वारा किसी प्राणी को मारना, काटना, घायल कर देना, चोट पहुँचाना, नुकसान पहुँचाना, वंचित करना, तोड़ना-मरोड़ना, आकृति

^६ प्रसिद्ध जैनागम 'दशवैकालिकसूत्र' के प्रथम अध्याय का प्रथम श्लोक है -
 "धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा-संजमो तवो।
 देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मो सयामणो।।"

बिगाड़ना, पीड़ा पहुँचाना आदि है। फिर हिंसा शारीरिक (द्रव्य-हिंसा) या वैचारिक अथवा संकल्पजन्य (भाव-हिंसा) हो सकती है। वाचक उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार असका अर्थ है - 'किसी भी प्राणी के यहाँ तक कि सूक्ष्मातिसूक्ष्म (निगोद) प्राणी के भी दस में से एक भी प्राण (जीवन-शक्ति) का हनन या पीड़न हिंसा है।' हिंसा का विषय प्राणियों के प्राणों के साथ इस प्रकार से संबद्ध है कि जैन शास्त्रों में तो हिंसा को 'प्राणातिपात' ही कहा गया है। प्राणातिपात अर्थात् प्राणों का अतिपात या पीड़न। इस विषय में आगे बढ़ने से पहले हमें प्राण के विषय में स्वल्प विचार कर लेना चाहिये।

प्राण का अर्थ है जीवन-शक्ति। प्राण दस होते हैं। सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्राणी में भी कम से कम चार प्राण तो अवश्य ही होते हैं, अधिक विकसित प्राणियों में प्राणों की संख्या भी अधिक होती है। संज्ञी पंचेन्द्रिय प्राणी में दसों प्राण होते हैं - १. स्पर्शबल-प्राण, २. रसबल-प्राण, ३. घ्राणबल-प्राण, ४. चक्षुबल-प्राण, ५. शब्दबल-प्राण, ६. श्वासोच्छ्वास-बल-प्राण, ७. आयुबल-प्राण, ८. शरीरबल-प्राण, ९. वचनबल-प्राण, तथा १०. मनोबल-प्राण। किसी प्राणी को मार देना उसके सभी प्राणों को समाप्त कर देता है जबकि उसे चोट पहुँचाने से उसके एकाधिक प्राण स्थाई या अस्थायी रूप से निष्क्रिय होजाते हैं। यह भी समझ लेना आवश्यक है कि सभी प्राणियों में प्राणों की संख्या समान नहीं होती है। एकेन्द्रिय जीवों में स्पर्श, श्वासोच्छ्वास, आयु, व शरीरबल प्राण ही होते हैं तथा दसों प्राण तो केवल विचार-शक्ति से युक्त संज्ञी पंचेन्द्रिय प्राणियों में ही होते हैं।

हम एक बार पुनः हिंसा के प्रश्न पर आते हैं। सूक्ष्मतम एकेन्द्रिय जीव के किसी एक प्राण को अस्थायी रूप से हानि पहुँचाना भी हिंसा है क्योंकि सूक्ष्मतम एकेन्द्रिय जीव - निगोद - में भी चेतना (उपयोग या वेदन-शक्ति, मेहसूस करने की ताकत) होती है तथा वह भी सुख-दुःख का अनुभव कर सकता है, उसे भी सुख प्रिय है व दुःख अप्रिय है; वह भी

अपने सभी प्राणों का अहसास करना चाहता है, उनसे मिल सकने वाले सुख को अनुभूत करना चाहता है। ऐसे चैतन्य प्राणी के किसी भी प्राण को क्षतिग्रस्त करना उसे दुःख देना है, अतः वह हिंसा है। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि निगोद से अधिक विकसित प्राणियों में तो यह चेतना और अधिक विकसित होती है तथा वे हिंसा के परिणामों को अधिक स्पष्टता से अनुभूत कर सकते हैं। हिंसा और प्राणातिपात के संदर्भ में यह विचार भी आवश्यक है कि 'क्या सभी प्रकार के प्राणातिपात हिंसा की श्रेणि में रखे जा सकते हैं?' इस प्रश्न का उत्तर स्पष्टतया 'नहीं' में ही हो सकता है। क्योंकि जीवन कर्म से जुड़ा हुआ है तथा कोई भी कर्म सर्वथा प्राणातिपात से मुक्त नहीं हो सकता। ज्यों ही हम कुछ करते हैं हमारे कर्म द्वारा किसी न किसी प्राणी को चोट अवश्य पहुँचती है क्योंकि समस्त आकाश प्रदेश सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीवों से भरा पड़ा है और हमारे श्वासोच्छ्वास तक से किसी न किसी सूक्ष्म प्राणी को कष्ट होता ही है। डॉक्टर मरीज के फोड़े को चीरा लगाता है तो उसे कष्ट होता है, न्यायाधीश अपराधी को दण्ड देता है तो उसे कष्ट होता है, माता-पिता बालकों को अनुशासित करते हैं तो उन्हें बुरा लगता है, आदि कर्मों के ऐसे उदाहरण हैं जिनसे यह फलित होता है कि किसी भी कर्म से किसी न किसी प्राणी को कष्ट होता ही है। जहाँ तक दोष का प्रश्न है इतने मात्र से हिंसा नहीं हो जाती है कि हमारे कर्म से किसी को कष्ट हुआ है। हिंसा तब होती है जब हम राग या द्वेष की भावना से किसी को कष्ट देना चाहें। यही कर्म के साथ भावना या द्रव्य-कर्म के साथ भाव-कर्म का महत्त्व स्पष्ट होता है।

हिंसा को परिभाषित कर लेने के पश्चात् अब हम अहिंसा की परिभाषा दे सकते हैं कि 'जानबूझकर या अनजाने में किसी भी प्राणी के किसी भी प्राण को किसी भी प्रकार से हत या आहत नहीं करना ही अहिंसा है।' यह अलबत्ता पूर्ण अहिंसा की आदर्श स्थिति है। व्यवहार में इस प्रकार की आदर्श अहिंसा का पालन शायद संभव नहीं भी हो सकता

है। अतः हमें 'निश्चय अहिंसा' व 'व्यवहार अहिंसा' में अंतर करना पड़ेगा। व्यवहार में यदि हम किसी भी प्राणी के किसी भी प्राण को जानबूझकर, संकल्पपूर्वक क्रिया द्वारा अथवा प्रमादपूर्ण कार्य द्वारा हताहत नहीं करें तो यह व्यवहार अहिंसा की श्रेणि में आएगा। जब तक हम संसार में जीवन धारण करते हैं हम अपने पर्यावरण के साथ निरंतर संपर्क में आते हैं। पर्यावरण में सूक्ष्म व स्थूल प्रकार के जीव तथा अजीव वस्तुएँ होती हैं तथा किसी न किसी प्रकार से अनजाने में ही इन जीवों के - विशेषकर अदृश्य सूक्ष्म जीवों के किसी न किसी प्राण को हानि पहुँचना असंभव नहीं है। कई बार तो हमारे द्वारा प्रमादवश स्थूल दृश्यमान जीवों का भी प्राणातिपात भी हो जाता है। सामान्यतया प्रथम प्रकार का प्राणातिपात अपरिहार्य होता है तथा यह हमेशा ही अनजाने में ही हो जाता है। संभवतया इसके बिना हमारा जीवनयापन भी संभव नहीं हो पाय। किंतु दूसरे प्रकार का स्थूल दृश्यमान जीवों का प्राणातिपात जो प्रमादपूर्वक या संकल्पपूर्वक की गई क्रियाओं द्वारा होता है वह परिहार्य होता है तथा पाप-कर्म की श्रेणि में ही रखे जाने योग्य है। इन दोनों में से भी जानबूझकर संकल्पपूर्वक की गई क्रिया द्वारा होने वाला प्राणातिपात सर्वथा निन्दनीय, शोचनीय, घृणित तथा बीभत्स है तथा शान्ति, सद्भाव, सामंजस्य एवं बहुजीव-हिताय पूर्णतया त्याज्य है। प्रमत्ताचरण या असावधानीपूर्वक क्रिया द्वारा से होने वाला प्राणातिपात यद्यपि उतना घृणित नहीं है, फिर भी उसे सम्यक् विचारवान लोगों द्वारा, जो स्वयं तथा अन्य प्राणियों के हित में विश्वास रखते हैं, अप्रमाद द्वारा त्यागा जाना चाहिये। यह स्थिति केवल अहिंसक विचारों तथा अत्यंत सावधानीपूर्वक अप्रमत्त आचरण द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है।

जीवन में अप्रमाद का कितना महत्व है यह इस गौतम-महावीर संवाद से प्रकट होता है - गणधर गौतमस्वामी ने जब भगवान महावीर से पूछा कि 'कोई व्यक्ति कैसे चले, कैसे खड़ा रहे, कैसे बैटे, कैसे सोए, कैसे खाए व कैसे बोले कि उसे पाप-कर्म का बंध न हो', तो भगवान ने

अप्रमत्त आचरण की महत्ता का प्रतिपादन करते हुवे फरमाया कि 'जो व्यक्ति जयणा (सावधानी या अप्रमाद) पूर्वक चलता है, जयणा पूर्वक खड़ा रहता है, जयणा पूर्वक बैठता है, जयणा पूर्वक सोता है, जयणा पूर्वक खाता है व जयणा पूर्वक बोलता है, पाप-कर्म का बंध नहीं करता है।'^{१०}

क्योंकि प्रमाद या असावधानी पूर्वक किये गए कृत्य ही परिहार्य हिंसा के प्रमुख कारण हैं, इन पर तनिक विचार कर लेना यहाँ अप्रासंगिक नहीं होगा। प्रमाद निम्न पंद्रह में से किन्हीं एक या अधिक कारणों से होता है: -

१. मद,	२. निद्रा,
३. क्रोध,	४. मान,
५. माया,	६. लोभ,
७. स्पर्शनेन्द्रिय दुष्प्रयोग,	८. रसनेन्द्रिय दुष्प्रयोग,
९. घ्राणेन्द्रिय दुष्प्रयोग,	१०. चक्षुरेन्द्रिय दुष्प्रयोग,
११. कर्णेन्द्रिय दुष्प्रयोग,	१२. भक्त-कथा,
१३. स्त्री-पुरुष (काम)-कथा,	
१४. राज-कथा, तथा	
१५. देश-कथा.	

कार्य-कलाप तीन प्रकार के होते हैं - मानसिक, वाचिक तथा कायिक। अतः अप्रमत्तता भी कार्य-क्षेत्र के इन तीनों दायरों में होनी चाहिये। पाप-भीरु व्यक्ति को सोचने, बोलने तथा करने में सावधानी बरतनी होगी।

हम व्यवहार अहिंसा पर इस विमर्श को यह कह कर विराम दे

^{१०} "कहं चरे, कहं चिट्ठे, कहमासे कहं सए ।
कहं भुंजंतो भासंतो, पाव-कम्मं न बंधइ?।।"
"जयं चरे, जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए ।
जयं भुंजंतो भासंतो, पाव-कम्मं न बंधइ?।।"

सकते हैं कि जो व्यक्ति अपने मानसिक, वाचिक तथा कायिक कार्य-कलापों में सावधानी बरतता है; जिसके विचार, वचन व कर्म जयणापूर्वक होते हैं; जो न किसी के लिये बुरा सोचता है, न किसी को बुरा कहता है तथा न किसी का बुरा करता है; जो किसी भी प्राणी के किसी भी प्राण को हताहत करने के बारे में न तो सोचता है, न कहता है न करता है वह व्यवहार अहिंसा का पालन करता है। दूसरे शब्दों में 'न सोच बुरा, बोल बुरा, कर बुरा' का आचरण करने वाला व्यक्ति व्यवहार अहिंसा का पालन करता है।

इस विमर्श से हिंसा के दो पक्ष उभर कर सामने आते हैं - प्रमाद व प्राण का हताहत होना। ये दो निम्न चार युग्म बनाते हैं: -

१. प्रमाद व प्राणातिपात दोनों का अभाव,
२. अप्रमत्त-आचरणोपरान्त हुवा प्राणातिपात,
३. प्रमत्त-आचरण के बावजूद प्राणातिपात का न होना, तथा
४. प्रमाद व प्राणातिपात दोनों की विद्यमानता.

हम यह भलीभाँति समझ सकते हैं कि प्रथम स्थिति आदर्श अहिंसक स्थिति है। द्वितीय स्थिति व्यवहार अहिंसा की परिधि में आती है क्योंकि कोई भी व्यक्ति सावधानी पूर्वक आचरण करने के अतिरिक्त और कर ही क्या सकता है। अगर अप्रमत्ताचरण के उपरांत भी किसी प्राणी का कोई प्राण हताहत होता है तो वह हिंसा अपरिहार्य हिंसा है। तीसरी स्थिति को हम अहिंसक नहीं कह सकते हैं क्योंकि यह केवल एक संयोग ही है कि प्रमादपूर्ण आचरण के बावजूद कोई हिंसा नहीं हुई, वह हो सकती थी, इसमें प्रमत्त व्यक्ति के पक्ष में कुछ भी नहीं है। इस स्थिति में यद्यपि द्रव्य-हिंसा नहीं हुई किंतु प्रमाद के कारण भाव-हिंसा तो हुई ही और उसे त्यागा जाना चाहिये। चतुर्थ स्थिति जिसमें प्रमाद तथा प्राणातिपात दोनों हुवे हैं वह तो सबसे निकृष्ट स्थिति है ही तथा ऐसी स्थिति तो हर हालत में त्याज्य है। इससे यह स्पष्ट है कि प्रमाद ही (भाव) हिंसा है फिर चाहे वह प्राणातिपात में परिणत हो या नहीं। यह पूर्णतया तर्कसंगत भी है, क्योंकि

असावधानी या बेध्यानी एक मानसिक स्थिति है तथा ऐसी मानसिकता में किया गया कोई भी कार्य हिंसा की संभावना से युक्त होता है अतः यह भाव-हिंसा है।

हिंसा के बारे में एक और बात बड़े ध्यानपूर्वक समझने की है। हम अक्सर यह सोचते हैं कि हिंसा वह गतिविधि है जिससे दूसरों को चोट पहुँचती है। लेकिन यह भी समझना होगा कि यह बात चाहे द्रव्य-हिंसा के बारे में सही हो, भाव-हिंसा तो दूसरों से ज्यादा स्वयं को आहत करती है। हिंसात्मक भाव तथा संकल्प और दूसरों के प्रति दुर्भावनाएँ आत्मा की समता व समाधि को विचलित करते हैं तथा उसके स्वभाव को नष्ट करके उसे आहत करते हैं। इसलिये भाव-हिंसा स्व-हिंसा है।

हिंसा का प्रकटीकरण -

जैन विचारकों के अनुसार हिंसा का प्रकटीकरण अलग-अलग परिस्थितियों में अलग-अलग तीव्रता के हिंसात्मक कार्यों के रूप में होता है। हिंसात्मक कार्यों का वर्गीकरण उनकी पृष्ठभूमि में रहे हुवे भावों तथा उनकी परिस्थितियों के आधार पर निम्न चार प्रकार से किया गया है -

१. संकल्पी हिंसा - यह वह हिंसात्मक कार्य है जो जानबूझकर, संकल्पपूर्वक, आक्रमकतापूर्ण तथा अकारण ही किया जाता है। यह तो केवल हिंसा के लिये हिंसा होती है जिसका किसी को कोई लाभ नहीं होता है। इस प्रकार की हिंसा के उदाहरण हैं - आतंककारी गतिविधियों, शिकार, जानवर लड़ाना, ग्लेडियेटर्स का मरणान्तक द्वंद्व-युद्ध आदि।
२. विरोधी हिंसा - यह वह आवश्यक हिंसा है जो आत्म-रक्षा में की जाती है जब कि स्वयं की अथवा स्वाश्रितों के जीवन या संपत्ति को संकट उपस्थित होता है तथा उस संकट के प्रतिकार में कोई हिंसा की जाती है या हो जाती है। इसे प्रतिरक्षात्मक हिंसा भी कहा जा सकता है क्योंकि यह सदा ही स्वयं या अन्य लोगों के

जीवन व अस्मिता की रक्षा के लिये अथवा राष्ट्रीय या सामाजिक जीवन में शान्ति व व्यवस्था की स्थापना के लिये की जाती है।

३. उद्योगी हिंसा - उद्योग अर्थात् जीवनयापन के कार्यों में होने वाली हिंसा इस श्रेणि में आती है। गृहस्थों के लिये, जिन्हें जीवनयापन के लिये विभिन्न उद्योग-धंधे लगाने या करने पड़ते हैं, इस हिंसा का त्याग कठिन होता है। खेती-बाड़ी, कल-कारखानों आदि में होने वाली हिंसा इस प्रकार की हिंसा के उदाहरण हैं। इसे आवश्यक हिंसा भी कहा जा सकता है लेकिन केवल उन परिस्थितियों में जहाँ कि उद्देश्य अल्पतम हिंसा-कार्यों से जीवनयापन करना हो। इसमें कई बार सूक्ष्म व एकेन्द्रिय जीवों की जानबूझकर की गई हिंसा भी क्षम्य होती है किंतु जैन-मतानुसार गृहस्थों के लिये भी द्विन्द्रिय आदि उच्च श्रेणि के जीवों की ऐसी संकल्पपूर्वक की गई हिंसा वर्ज्य है। अतःएव वे ऐसे उद्योग-धंधों से विमुख रहते हैं जिनमें अनावश्यक अतिहिंसा होती हो। उदाहरणार्थ वे कल्लखानों, कुक्कुटखानों, वन-कर्म, भाड़-कर्म, खनि-कर्म, आदि अत्यंत हिंसात्मक उद्योग-धंधे नहीं लगाते हैं तथा लक्ष्य-वाणिज्य, केश-वाणिज्य जैसे व्यापार-व्यवसाय भी नहीं करते हैं।

४. आरंभी हिंसा - यह वह हिंसा है जो दैनन्दिन सामान्य जीवन में विभिन्न प्रकार के कार्य संचालन के लिये आवश्यक होती है जैसे कि चलना-फिरना, बोलना-चालना, नहाना-धोना, खाना-पकाना आदि। इस प्रकार की हिंसा सदैव बिना किसी बुरे विचार के तथा अपना आवश्यक कार्यसंपादन के इरादे से ही होती है। यह द्रव्य हिंसा तो जरूर होती है किंतु हिंसा होते हुवे भी भावों की शुद्धि के कारण विशेष अशुभ फलदायी नहीं होती है। स्पष्ट है कि हिंसा के फल देने में भावों का विशेष महत्त्व है।

हिंसा के शिकार कौन होते हैं?

यदि हम अपने जीवन में सूक्ष्म व स्थूल हिंसा से बचना चाहते हैं तो हिंसा व उसके प्रकटीकरण पर विचार करने के पश्चात् हमें 'हिंसा के शिकार कौन होते हैं?' इस प्रश्न पर भी ध्यान देना चाहिये। अब तक यह स्पष्ट हो गया है कि हिंसा का अर्थ हिंसक भावना युक्त प्राणातिपात होने से लोक के चार से दस प्राणों से युक्त सभी प्रकार के सूक्ष्म व स्थूल प्राणी हिंसा के शिकार हो सकते हैं। इसमें से सूक्ष्म अचर एकेन्द्रिय प्राणियों के प्रति अनजाने में हुवा प्राणातिपात (सूक्ष्म हिंसा) तो सामान्यतया अपरिहार्य होने से क्षम्य माना जाता है किंतु उनके प्रति भी तथा विशेषतया द्वीन्द्रिय व उनसे भी विकसित चर प्राणियों के प्रति जान-बूझ कर किया गया प्राणातिपात (स्थूल हिंसा) सर्वथा त्याज्य है।

रचनात्मक अहिंसा -

अब तक हमने हिंसा के जितने उदाहरण लिये हैं वे सब ध्वंसात्मक प्रकृति के हैं तथा उनके संदर्भ में अहिंसा की परिभाषा ऐसी ध्वंसात्मक गतिविधि के त्याग के रूप में ही की गई है। किंतु हम यह अनुभव कर सकते हैं कि नकारात्मक अनुशासन के अनुसार जिया जाने वाला जीवन एक परिपूर्ण जीवन नहीं हो सकता है अपितु एक बोझ बन कर रह जाता है। अहिंसा के अनेक सकारात्मक पहलू भी हैं जिनकी हमें उपेक्षा नहीं करना चाहिये। स्मरण करें कि हिंसा का अर्थ प्राणियों के दस प्राणों में से किसी भी एक प्राण को हताहत करना है, अतः यह भी सही होना चाहिये कि ऐसे कार्य-कलाप जो इन प्राणों का कल्याण या संवर्द्धन करें अहिंसा कहे जाने चाहियें। यही अहिंसा का रचनात्मक पक्ष है। दान, सेवा, क्षमा, असहायों को शरण देना व उनकी रक्षा करना आदि ऐसे कार्य हैं जो रचनात्मक अहिंसा के दायरे में आते हैं।

जैसा कि हम पूर्व में कथन कर चुके हैं, अहिंसा जैन-धर्म का मूलाधार है अतः इसके समग्र सिद्धान्त व चर्याएँ इसी एक उद्देश्य - सतत अहिंसा - को सुनिश्चित करने के लक्ष्य से प्ररूपित किये गए हैं।

संयम -

जैन-धर्म का दूसरा लक्षण संयम है। संयम का अर्थ है नियंत्रण। यहाँ संयम का अर्थ प्रभावी आत्म-नियंत्रण के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। नियंत्रण अनियंत्रण का ठीक उल्टा है तथा अनियंत्रण असावधानी के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है जिसकी चर्चा हम पिछले 'अहिंसा' खण्ड में कर चुके हैं। क्योंकि असावधानी प्रमाद का ही प्रातिरूप है अतः संयम अप्रमादजन्य है। और अधिक स्पष्टता से हम यह कह सकते हैं कि संयम का अर्थ स्वयं के शरीर, मन व वाचा पर तथा साथ ही क्रोध, मान, माया व लोभ रूपी कषायों पर भी नियंत्रण रखना है। यह समझना कठिन नहीं है कि कोई भी प्राणी जो इन कषायों के वशीभूत हो तथा अपने मन, वचन, काया पर नियंत्रण रखने में असमर्थ हो वह निश्चित रूप से असंयमी व असावधान होगा ही। जैन-आचार का आधार संयम ही है, इस अर्थ में इसे विनय भी कहा गया है। संयम या विनय की महत्ता इस बात से ही स्पष्ट है कि (जैन) धर्म को ही विनयाधारित कहा गया है।^{११}

पूर्ण व देश-संयम - पूर्ण संयम का अर्थ है सावधानी पूर्वक सभी पापक कर्मों से बचना व कोई पाप-कर्म नहीं करना। इसका फलितार्थ है कषायों का पूर्ण दमन तथा कर्म के तीन *योग* - मन, वचन व काया तथा तीन *करण* - कृत्य, कारित्व व अनुमोदना का पूर्ण नियंत्रण। यह एक आदर्श स्थिति है जिसे प्राप्त करना अति कठिन है। केवल अत्यंत शीलवंत महात्मा श्रमण ही इस स्थिति को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। फिर भी कषायों व कर्म-योगों व करणों पर आंशिक नियंत्रण भी एषणीय है क्योंकि जितने अंशों में भी इन पर नियंत्रण कर लिया जाता है उतने ही अंशों में हम पाप-कर्मों से बचे रहते हैं। यह समझने योग्य है कि सभी असंयमित कार्य-कलाप कर्मबंधक होते हैं तथा वे आत्मा को कर्म-मल से मलिन करते हैं, धुंधला करते हैं, विकृत करते हैं। पूर्ण-संयम आत्मा को कर्मबंधनों से

^{११} “विणयमूलओ धम्मो।”

पूर्णतया बचाता है जब कि देश-संयम उतने ही अंशों में आत्मा को कर्मबंधनों से बचाता है जितने अंशों में उसकी पालना की जाती है। अतः देश-संयम का पालन करते हुवे भी ध्येय पूर्ण-संयम होना चाहिये।

संयम के प्रकार ¹² - जैन साहित्य में विभिन्न प्रकार के संयमों की चर्चा की गई है। उनका वर्गीकरण कार्य संपादन के उपादानों, करणों व उनसे प्रभावित होने वाले प्राणियों के आधार पर किया गया है। इन विभिन्न चलकों - योग (मन, वचन, काया); करण (कृत्य, कारित्व, अनुमोदन) व प्रभावितों (समस्त जीव-जगत) के आधार पर चार प्रकार से संयमों की सूचियाँ प्रस्तुत हैं: -

प्रथम - यह सूचि इंद्रिय-संयम तथा दस प्राणों से संबंधित जयणा (विवेक) पर आधारित है। इसमें वर्णित संयम निम्नानुसार हैं -

क. इंद्रिय-संयम में निम्न संयमों का समावेश है -

- १ स्पर्शनेन्द्रिय संयम,
- २ रसनेन्द्रिय संयम,
- ३ चक्षुरेन्द्रिय संयम,
- ४ घ्राणेन्द्रिय संयम,
- ५ कर्णेन्द्रिय संयम,
- ६ मनः संयम (मन को अर्द्धेन्द्रिय माना गया है), तथा
- ७ वचन संयम (वचन जिह्वा तथा मस्तिष्क का कार्य होने से वचन संयम भी इंद्रिय-संयम के अंतर्गत ही आता है),

ख. दस प्राणों की जयणा या प्राण-संयम -

- ८ स्पर्शबल-प्राण संयम या किसी भी प्राणी की स्पर्शन-शक्ति को हताहत नहीं करना,
- ९ रसबलप्राण-संयम या किसी भी प्राणी की रसना-शक्ति को हताहत नहीं करना,
- १० चक्षुबलप्राण-संयम या किसी भी प्राणी की देखने की शक्ति

- को हताहत नहीं करना,
- ११ घ्राणबलप्राण-संयम या किसी भी प्राणी की घ्राण-शक्ति को हताहत नहीं करना,
- १२ श्रोत्रबलप्राण-संयम या किसी भी प्राणी की सुनने की शक्ति को हताहत नहीं करना,
- १३ श्वासोच्छ्वासबलप्राण-संयम या किसी भी प्राणी की श्वसन शक्ति को हताहत नहीं करना,
- १४ आयुबलप्राण-संयम या किसी भी प्राणी की जीवन-अवधि को हताहत नहीं करना,
- १५ शरीरबलप्राण-संयम या किसी भी प्राणी की शारीरिक शक्ति को हताहत नहीं करना,
- १६ वचनबलप्राण-संयम या किसी भी प्राणी की अभिव्यक्ति की शक्ति को हताहत नहीं करना, तथा
- १७ मनःबलप्राण-संयम या किसी भी प्राणी की विचार शक्ति को हताहत नहीं करना,

द्वितीय - इस सूचि में हमारे कार्य-कलापों से प्रभावित होने वाले प्राणियों की जयणा तथा विभिन्न अन्य संयमों के बारे विचार किया गया है। इसमें वर्णित सत्रह प्रकार के संयम निम्नानुसार हैं: -

क. पाँच स्थावर एकेन्द्रिय जीवों के प्रति विवेक का संयम -

- १ पृथ्वीकायिक जीवों के प्रति जयणा का संयम,
- २ अष्कायिक जीवों के प्रति जयणा का संयम,
- ३ वायुकायिक जीवों के प्रति जयणा का संयम,
- ४ तेजस्कायिक जीवों के प्रति जयणा का संयम, तथा
- ५ वनस्पतिकायिक जीवों के प्रति जयणा का संयम,

ख. चार त्रसकायिक जीवों की जयणा का संयम -

- ६ द्वीन्द्रिय जीवों के प्रति जयणा का संयम,
- ७ त्रीन्द्रिय जीवों के प्रति जयणा का संयम,
- ८ चतुरेन्द्रिय जीवों के प्रति जयणा का संयम, तथा

६ पंचेन्द्रिय जीवों के प्रति जयणा का संयम,

ग. विविध प्रकार के संयम -

१० परिग्रह संयम,

११ इर्या, शय्या-संधारा आदि का संयम,

१२ सांसारिकता के प्रति उदासीनता का संयम,

१३ उत्सर्ग-संयम,

१४ प्रतिलेखन-संयम,

१५ विचार-संयम,

१६ वाणी-संयम, तथा

१७ कायिक संयम,

तृतीय - इस सूचि में भी सत्रह प्रकार के संयमों का उल्लेख है, जो निम्नानुसार हैं -

क. इन्द्रिय-संयम में निम्न पाँच संयमों का समावेश है -

१ स्पर्शनेन्द्रिय संयम,

२ रसनेन्द्रिय संयम,

३ चक्षुरेन्द्रिय संयम,

४ घ्राणेन्द्रिय संयम, तथा

५ कर्णेन्द्रिय संयम,

ख. पाँच आस्रव-द्वारों का संयम -

६ हिंसा-संयम,

७ असत्य-संयम,

८ अदत्त-संयम,

९ अब्रह्म-संयम, तथा

१० परिग्रह-संयम,

ग. चार कषाय-विजय -

११ क्रोध-संयम,

१२ मान-संयम,

१३ माया-संयम, तथा

- १४ लोभ-संयम,
घ. योग-संयम,
१५ मन-संयम,
१६ वचन-संयम, तथा
१७ काय-संयम,

चतुर्थ - इस सूचि में कर्म-साधनों के प्रयोग में संयम बरतने का उल्लेख है। इसके चार भाग इस प्रकार हैं -

१. मनः संयम,
२. वचन संयम,
३. काय संयम, तथा
४. उपकरण संयम

इस विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि जैन-धर्म स्वनियंत्रण को उच्च प्राथमिकता देता है तथा इसकी जो विषय व्याख्या यहाँ की गई है वह इस बात का द्योतक है कि संयम जैन आचार का एक अभिन्न अंग है। इससे यह भी स्पष्ट है कि आत्म संयम तथा अहिंसा एक-दूसरे के पूरक हैं तथा एक के बिना दूसरे का निबाह कठिन है।

तप -

जैन-धर्म का तीसरा लक्षण तप है। अहिंसा तथा संयम के पालन से आत्मा नवीन कर्म-बंधनों से तो बचता है, संयम से निग्रह भी कर लेता है किंतु पूर्वबद्ध कर्म-बंधनों से छुटकारे (निर्जरा) के लिये तो व्यक्ति (जीव) को तप का ही आश्रय लेना होता है।^{१३} यह तो सर्व ज्ञात है कि पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा किये बिना जीवन के अंतिम लक्ष्य मुक्ति की प्राप्ति संभव नहीं है। तप ही कर्म-निर्जरा का एकमात्र साधन है। आत्मोन्नति के लिये साधना में तप की महत्ता इसी बात से सिद्ध है कि तप को धर्म के तीन

^{१३} “णाणेण जाणइ भावे, दंसणेण दंसइ । संजमेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झइ।।”

लक्षणों में स्थान दिया गया है। जब आत्मा के कर्म-बंधन निर्जरित होने लगते हैं आत्मा शुद्ध और शुद्धतर होती जाती है। जब आत्मा से मोह, व अंतराय छूट जाते हैं तो उसके अनंतज्ञान व अनंतदर्शन को आवृत्त करने वाले आवरण हट जाते हैं तथा आत्मा सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो जाती है। समय के साथ जब जीव के चार अघातिया कर्म - वेदनीय, आयुष्य, नाम व गोत्र - भी वेदन व भोग के पश्चात छूट जाते हैं तो आत्मा सभी कर्म-बंधनों से मुक्त होकर सिद्ध-बुद्ध और मुक्त हो जाता है, उसका निर्वाण हो जाता है।

तप के प्रकार -

गुणात्मक दृष्टि से तप दो प्रकार के होते हैं - १. बाल-तप या अज्ञानियों का तप जो लौकिक सुखों की आकांक्षा की दृष्टि से किया जाता है। इस प्रकार का तप करने वाले साधक की दृष्टि सदैव धनप्राप्ति, सांसारिक क्लेशों से मुक्ति, शारीरिक स्वास्थ्य, चमत्कारिक उपलब्धियों आदि पर रहती है; तथा २. पंडित-तप जो बिना किसी प्रकार की लोकेषणा के शुद्ध आत्मिक दृष्टि से कर्म-निर्जरा के उद्देश्य से किया जाता है। इस प्रकार के तप-साधक की दृष्टि सदैव आत्म-मुक्ति या निर्वाणोन्मुख ही रहती है। कहना नहीं होगा कि आत्मोपलब्धि की दृष्टि से द्वितीय प्रकार का तप ही वास्तविक या सम्यक् तप होता है जिसमें साधक का लक्ष्य सांसारिकता, एषणा व कषायों से विमुख तथा निर्वाण-मुक्ति की ओर रहता है।

बाह्य व अंतः तप -

साधना की दृष्टि से भी तप के दो प्रकार माने गए हैं - १. बाह्य व २. आंतरिक। बाह्य-तप वह दृष्ट तप होता है जो सब को दिखाई देता है। इस प्रकार का तप सामान्यतया शरीरिक स्तर पर किया जाता है तथा इसका संबंध भी बाह्य साधनों से ही होता है। इसके विपरीत अंतःतप वह अदृष्ट तप होता है जो मानसिक तथा आत्मिक स्तर पर किया जाता है एवं उसका बाह्य साधनों से कोई संबंध नहीं होता है। बाह्य व अंतः तप के प्रत्येक के छः-छः प्रकार होते हैं जो निम्नानुसार हैं: -

बाह्य तप	आंतरिक तप
१. अनशन	१. प्रायश्चित्त
२. अवमौदर्य (उनोदरी)	२. विनय
३. भिक्षाचर्या	३. वैयावृत्य (सेवा)
४. रसपरित्याग	४. स्वाध्याय
५. कायक्लेश, तथा	५. ध्यान, तथा
६. प्रतिसल्लीनता	६. व्युत्सर्ग

बाह्य व अंतः तपों में इन सुस्पष्ट अंतरो के उपरांत भी ये दो प्रकार के तप आपस में एक-दूसरे से गहरा तादात्म्य रखते हैं क्योंकि प्रत्येक प्रकार का बाह्य तप अपने से संबद्ध अंतः-तप की साधना में सहायक होता है। उदाहरणार्थ अनशन तप प्रायश्चित्त का साधन व सहायक है; उनोदरी तप से साधक विनयशील होता है; भिक्षाचर्या तप का सीधा संबंध वैयावृत्य - शैक्ष, बाल, वृद्ध व ग्लान साधुओं की सेवा - से है जो साधक अन्यथा भाव (स्व शरीर-पोषण या रसलोलुपता) से भिक्षाचर्या करता है वह तो साधु नहीं होकर स्वादु ही कहलाएगा; रसपरित्याग से आलस्य-प्रमाद पर विजय प्राप्त कर साधक अध्ययनशील बनता है, रसलोलुप व्यक्ति तो अतिभोजी व आलसी-प्रमादी ही हो सकता है; काय-क्लेश तप या शारिरिक कष्टों के प्रति उदासीनता या सहनशीलता से ही व्यक्ति को ध्यान में रम सकने योग्य स्थिरता प्राप्त होती है, जो व्यक्ति इन कष्टों के प्रति उदासीन नहीं है उसका ध्यान तो बार-बार उचटता रहेगा वह गहन-ध्यान में मग्न हो ही नहीं सकता; अंत में सांसारिकता से विराग या प्रतिसल्लीनता ही वह मनस्थिति है जो साधक को व्युत्सर्ग या अपने शरीर के प्रति भी सर्वथा माया-ममता त्याग कर सर्वत्यागी बनने की सामर्थ्य प्रदान करता है। तप के इन विभिन्न प्रकारों की समीक्षा निम्नानुसार है -

बाह्य तप -

१. अनशन या उपवास तप - अशन का अर्थ है आहार। अतः

अनशन से तात्पर्य उस तप से है जिसमें व्यक्ति आहार का त्याग करता है। आहार चार प्रकार का होता है - १. अशन या मुख्य खाद्य, २. पान या पेय आहार जैसे पानी व अन्य तरल पेय, ३. खादिम या विशेष पुष्टिकारक आहार तथा ४. स्वादिम या वे आहार जो मुख-शुद्धि के साथ-साथ वात-पित्त-कफ को नियंत्रित कर स्वास्थ्य-रक्षण भी करते हैं। अनशन से तात्पर्य स्वेच्छा से इन में से एकाधिक आहारों का त्याग करना ही नहीं अपितु इनकी इच्छा करने का भी त्याग करना है। अनशन पूर्वनिर्धारित अवधि का (इत्वरिक) अथवा आमरण (यावत्कथित) हो सकता है। इत्वरिक अनशन की साधना विभिन्न प्रकार से यथा एक उपवास, बेला, तेला, चोला, पोंच, मासक्षमण, इनकी लड़ियों आदि क्रम-संकम परिवर्तन से अनेक प्रकार से की जा सकती है जब कि यावत्कथित अनशन की साधना भी १. भक्त-प्रत्याख्यान (आहारत्याग किंतु अन्य किसी प्रतिबंध से रहित), २. इंगिनीमरण (भक्तप्रत्याख्यान के साथ क्षेत्र व सुश्रुषा की मर्यादा) व ३. पादपोषगमन, पादोपगमन या प्रायोपगमन (आहारत्याग के साथ निर्हारातिरिक्त किसी भी प्रकार के हलन-चलन तथा स्व व पर सुश्रुषा का भी त्याग कर कटे वृक्ष की भोंति निश्चल रहना) के रूप में तीन प्रकार से की जा सकती है।

२. अवमौदर्य या उनोदरी तप - अपने आहार, वस्त्र-पात्रादि व कषाय में कमी करना ही उनोदरी तप है। प्रथम दो न्यूनताएँ शारिरिक स्तर पर की जाती हैं व उन्हें द्रव्य-उनोदरी कहा जाता है। तीसरी प्रकार की न्यूनता - कषाय-न्यूनता मनःस्तर पर होती है तथा उसे भाव-उनोदरी कहते हैं। इनमें से प्रत्येक के कई-कई उप-प्रकार होते हैं।

३. भिक्षाचर्या तप - अपने मान यहाँ तक कि स्वाभिमान को भी तिलांजलि देकर जीवनयापन के साधनों को याचक के रूप में भिक्षा द्वारा प्राप्त करना भिक्षाचर्या तप है। द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव के अनुसार यह तप भी चार प्रकार का होता है। यहाँ यह स्पष्ट रूप से समझ लिया जाना चाहिये कि जैन श्रमण की भिक्षाचर्या दरिद्रता के कारण नहीं है अपितु अपनी आवश्यकताओं के सीमन तथा मान-जय के उद्देश्य से है।

जैन भिक्षु किस प्रकार का आहार तथा अन्य जीवनोपयोगी साधन भिक्षा में प्राप्त कर सकता है इस पर अनेक नियमों-उपनियमों के प्रतिबंध हैं तथा वह ऐसी ही सामग्री ले सकता है जिससे उसकी आध्यात्मिक साधना में कोई व्यवधान न हो बल्कि संबल मिले।

४. रसपरित्याग तप - जैन-मतानुसार आहार ग्रहण करने का उद्देश्य जीवन रक्षण है न कि रसना-तृप्ति। जैन श्रमण जीने के लिये खाता है, खाने के लिये नहीं जीता। फिर यह भी तो संभव है कि सुस्वादु भोजन आवश्यकता से अधिक ही खाया जाय और परिणाम में आलस्य व प्रमाद पैदा करे तथा आध्यात्म साधना में विघ्नकारक सिद्ध हो। छः प्रकार के विशेष स्वादिष्ट व पौष्टिक आहार जो इस प्रकार की संभावना रखते हैं उन्हें जैन विचारकों ने विकृतियों की संज्ञा दी है तथा उन्हें सामान्य स्थितियों में श्रमणों के लिये वर्ज्य बताया है। वे छः विकृतिकारक विशिष्ट खाद्य-पदार्थ हैं - दूध, दही, घृत, तैल, मिष्ठान्न व तले हुवे खाद्य।

५. कायक्लेश तप - इस तप का उद्देश्य शरीर को इतना सहनशील बना देना है कि जब श्रमणचर्या की कठिनाइयाँ सम्मुख हों तो वह प्रतिरोध न करे। लेकिन साथ ही यह भी ध्यान रखना होगा कि शरीर ही समस्त धर्म-क्रियाओं का माध्यम भी है तथा इसे अवांछित पीड़ा द्वारा इतना भी तोड़ा न जाय कि वह धर्म-साधनाके लिये ही अनुपयुक्त हो जाय। अपने आप को शारिरिक कष्ट सहने के लिये इस प्रकार से प्रशिक्षित करना कि वह शारिरिक सुविधाओं के प्रति उदासीन हो जाय तथा आध्यात्मिक जीवन की कठिनाइयों को सुगमतापूर्वक सहन कर सके यही कायक्लेश तप की सम्यक् साधना होगी। जैन-श्रमण इस प्रकार के प्रशिक्षण के लिये विभिन्न आसनों को सिद्ध करना, परीषह-सहन तथा केशलुंचन आदि करते हैं। ऐसा भी नहीं है कि कायक्लेश सदा ही कष्टदायक ही हो। यह तो आध्यात्म-पथ के पथिक के लिये वह शारिरिक साहसपूर्ण अभियान है जिसमें आध्यात्मिक साधक को वही आनन्द मिलता है जो एक पर्वतारोही को दुर्गम एवं कष्टकारी पर्वतारोहण अभियान में मिलता है, जो एक मैरेथोन धावक को कठिन श्रमसाध्य कोसों लम्बी दौड़ में मिलता है।

६. **प्रतिसंलीनता तप** - इस तप-साधना का अर्थ है कि साधक सभी प्रकार की सांसारिकता से विरक्त होकर वैराग्य में स्थिर होकर अपने आप को केवल आध्यात्मिक साधना में ही समर्पित कर दे। दूसरे शब्दों में साधक द्वारा सभी बाह्य रुचियों त्याग दी जाती हैं तथा स्वयं को सर्वथा आंतरिक साधना की ओर उन्मुख किया जाता है, तन-मन-वचन सबकी निरंतर समीक्षा करते हुवे उन्हें अंतर्मुखी किया जाता है। यह प्रयास भी सर्वथा सफल तभी होता है जब कि बाह्य वातावरण भी ऐसी संलीनता के पक्ष में हो। अतः एकान्त स्थान जो नर-नारियों-नपुंसकों व पशुओं के आवागमन से भी मुक्त हो तथा, जहाँ विभिन्न प्रकार की ध्वनियाँ, गंध, दृश्य, रस व स्पर्श साधक का ध्यान न बटाए ऐसी साधना के लिये अत्यंत उपयुक्त रहते हैं। सल्लीनता तप का सुपरिणाम कषायजय तथा तृष्णामुक्ति के साथ समग्रतः आध्यात्म में तल्लीनता के रूप में प्राप्त होता है।

आभ्यंतर तप -

१. **प्रायश्चित्त तप** - ग्रहित व्रतों के पालन में हुई शिथिलताओं व कषायवश हुवे पापाचार आदि त्रुटियों को स्वीकार करके उनके परिमार्जनार्थ पश्चाताप पूर्वक आवश्यक कार्यवाही करना तथा भविष्य में उन्हीं त्रुटियों की पुनरावृत्ति न हो ऐसा संकल्प कर लेना ही प्रायश्चित्त तप है। अपने से वरिष्ठ गुरुओं के सम्मुख अपनी गलतियों को स्वीकारना व उनके लिये पश्चाताप करना तथा गुरु-प्रदत्त दंड, जो वैयावृत्य, अनशन, दीक्षाछेद व श्रमणसंघ से निष्कासन स्वरूप कुछ भी हो सकता है, को सरलता व विनयपूर्वक स्वीकार करना ही प्रायश्चित्त करना है। सामान्यतया अनशन ही प्रायश्चित्त का प्रमुख साधन होने से अनशन-तप को प्रायश्चित्त-तप का सहायक तप माना गया है।

२. **विनय-तप** - स्वयं से दीक्षा, ज्ञान, गुण आदि में वरिष्ठ जनों के प्रति वंदन, अभ्यर्थना, स्वागत, अभ्युत्थान, गुणानुवाद, प्रमोदभाव आदि द्वारा सम्मान प्रदर्शित करना विनय है। ज्ञानियों के प्रति विनय ज्ञान-विनय है; दृढसम्यक्त्व के प्रति विनय दर्शन-विनय है; दृढ चारित्र्य के प्रति विनय चारित्र-विनय है; अभ्यर्थनीय के प्रति प्रमोदभाव होना, उनके लिये

पूजनीय-अर्चनीय भाव रखना मनःविनय; वाचा द्वारा विनय का प्रदर्शन वचन-विनय; शरीर से अभ्युत्थान आदि द्वारा प्रदर्शित विनय काय-विनय तथा शिष्टाचार के निबाह के लिये किया गया विनय लोकोपचार विनय कहलाता है। हमें यह मानना होगा कि शिष्टाचार व विनय सामान्य सांसारिक जीवन में भी महत्व रखते हैं, श्रमण जीवन का तो कहना ही क्या?

३. **वैयावृत्त्य-तप** - जिनको भी सेवा की आवश्यकता हो उनकी मनोयोगपूर्वक सेवा करना ही वैयावृत्त्य तप है। श्रमणसंघ में स्वयं से वरिष्ठ श्रमणों, नवदीक्षित तथा बाल-श्रमणों, अध्ययन-अध्यापन में संलग्न शैक्ष व शिक्षक श्रमणों, वृद्ध व ग्लान (रुग्ण) श्रमणों की आवश्यकतानुसार सेवा करना तप कहा गया है क्योंकि इस प्रकार के सेवा कार्य के लिये सेवा देने वाले व्यक्ति में जिस प्रकार के धैर्य, सहिष्णुता, वैयावृत्त्य के पात्र श्रमणों की आवश्यकताओं का ध्यान रखने तथा असामान्य इच्छाशक्ति आदि गुणों की आवश्यकता होती है, वह किसी तप से कम नहीं है। वैयावृत्त्य तप की महत्ता इसी बात से प्रकट है कि इसे वरीयता में स्वाध्याय से ऊपर स्थान दिया गया है। यह कहा गया है कि जो सेवाभावी साधक सुपात्रों की उत्कृष्ट मनःस्थिति में निःस्वार्थ भाव से सेवा करता है वह तीर्थंकर नाम-कर्म का बंध करता है।^{१४} उत्तम सेवा का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष है इसका निःस्वार्थ होना तथा इसमें श्रावकों के द्वारा भक्त-पान-वस्त्र-पात्र, शय्यासन व औषधि दान भी सम्मिलित हैं।

४. **स्वाध्याय-तप** - स्वाध्याय में शास्त्राध्ययन, अध्यापन, मनन-चिंतन व सम्यग्ज्ञान का प्रसारण सम्मिलित है। इसे अत्यंत उच्चकोटि का तप कहा गया गया है क्योंकि इसीसे व्यक्ति को सम्यग्ज्ञान प्राप्त होता है जिस पर आध्यात्मिक उपलब्धियों के पूरे प्रासाद का निर्माण होता है। स्वाध्याय के अंग हैं - शास्त्र पठन-पाठन (वाचना), शंकाएँ दूर करने के लिये प्रश्न व प्रतिप्रश्न पूछना (पृच्छना), अर्जित ज्ञान को स्मृति में संजोने के लिये

पुनरावृत्ति करना (परावर्तना), ज्ञान के विशिष्ट अर्थ के उद्घाटन के लिये चिंतन-मनन व ध्यान (अनुप्रेक्षा) व सदज्ञान के प्रचार-प्रसार के लिये धर्मोपदेश देना (धर्म-कथा) हैं। स्वाध्याय के द्वारा व्यक्ति ज्ञानावरणीय कर्मों का क्षय भी करता है।^{१५}

५. ध्यान-तप - तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार 'किसी उत्तम संहनन (शरीर-संरचना) वाले व्यक्ति द्वारा किसी एक वस्तु पर निश्चित होकर ध्यान केन्द्रित करना ही ध्यान है'।^{१६} किसी असंबुद्ध संसारी व्यक्ति के किसी वस्तु पर ध्यान केन्द्रित करने की अधिकतम अवधि एक अंतर्मुहुर्त (४८ मिनट से न्यून) तक की होती है तत्पश्चात् उसका ध्यान किसी अन्य वस्तु पर चलित हो जाता है। जैन-मतानुसार ध्यान के चार प्रकार हैं -

क. आर्तध्यान - जो विचारसरणी दुःख व शोक अथवा उनके होने के डर पर केन्द्रित हो वह आर्तध्यान कहलाती है। इस प्रकार के विचारों के कारण हैं - १. कुछ अप्रत्याशित होने का भय, २. स्वजनों के बिछुड़ने का भय, ३. रुग्णता का डर, तथा ४. सांसारिक भोगों की प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा। आर्तध्यान के लक्षण हैं रोना, क्रंदन करना, अश्रुपात करना व शोकमग्न होना।

ख. रौद्रध्यान - निर्दय व क्रूर विचार-शृंखला जिसकी दिशा हिंसा, असत्य, चोरी, दुश्शील व सांसारिक भोगों की ओर हो रौद्रध्यान है। इस प्रकार के ध्यान सतत रौद्रध्यान, संपूर्ण रौद्रध्यान, विभिन्न प्रकार के रौद्रध्यान आजीवन रौद्रध्यान स्वरूप चार प्रकार के हो सकते हैं।

ग. धर्मध्यान - जिन-वचनों, कर्मास्रव के कारणों तथा उन्हें रोकने के उपायों, कृत्कर्मों व उनके द्वारा बद्ध कर्मों के फल-विपाक की सुनिश्चितता, सम्यक्चारित्र्य व उसके आत्महितकारी प्रभावों के

^{१५} वही, २६.१६।

बारे में चिंतन करना धर्म-ध्यान है। धर्मध्यान के चार प्रकार हैं - १. आज्ञाविचय धर्मध्यान जिसमें जिनोपदेश पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है, २. कुविचारों, राग-द्वेष व कुकर्मों से बचने के उपायों के बारे में सोचना अपायविचय धर्मध्यान है, ३. शुभ व अशुभ भावों व कर्मों के सुनिश्चित विपाक के बारे में सोचना विपाकविचय धर्मध्यान है तथा ४. लोक के स्वरूप (संस्थान) के बारे में सोचना संस्थानविचय धर्मध्यान है। धर्म-ध्यान में रत व्यक्ति की पहचान उसके सुधर्म तथा धर्मशास्त्रों में स्वतःस्फूर्त रुचि, श्रद्धा व विश्वास से होती है।

घ. शुक्लध्यान - वह ध्यान जो साधक के सांसारिकता से राग-द्वेष-मोह से पूर्णरूपेण विरक्त हो जाने तथा शुद्ध आत्मचिंतन व आध्यात्मिकता में रत रहने पर होता है शुक्लध्यान कहलाता है। यह ध्यान उत्तरोत्तर वृद्धिगत है तथा १. पूर्वानुसार द्रव्य व उसकी पर्यायों के चिंतन से प्रारंभ होकर २. एक वस्तु के द्रव्य-पर्याय के चिंतन से ३. केवली भगवंतों के अंतिम श्वासोच्छ्वास पर ध्यान से ४. निर्वाण के अंतिम क्षणों में होने वाले योग निरुंधन के समय शुद्धात्मस्वरूप के चिंतन तक होता है। यह स्पष्ट है कि यह ध्यान केवल उन्हीं साधकों द्वारा साधा जा सकता है जो इतनी आत्मिक शुद्धता प्राप्त कर लेते हैं कि वे निर्वाण पथ पर अटल रूप से आरुढ़ हो जाते हैं। इस ध्यान की विशिष्टताएँ हैं - विवेक, व्युत्सर्ग, अव्यथा एवं असम्मोह।

६. व्युत्सर्ग तप - स्वात्म के अतिरिक्त सभी जीव-अजीव पदार्थों का त्याग ही व्युत्सर्ग है। व्युत्सर्ग के विभिन्न आयाम हैं - १. शरीर-व्युत्सर्ग जिसमें साधक स्वशरीर के प्रति समस्त ममता का त्याग कर शरीरनिरपेक्ष हो जाता है, २. गण-व्युत्सर्ग में साधक श्रमण-गण के प्रति राग-भाव का उच्छेद कर

उसका त्याग कर एकाकी विचरण करता है, ३. उपधि-व्युत्सर्ग में वह श्रमण-उपधि का भी त्याग कर सर्वथा उपधि व उपाधि रहित हो जाता है, ४. भक्तपान-व्युत्सर्गमें वह खानपान का त्याग कर भक्तप्रत्याख्यान नामक समाधिमरण व्रत ग्रहण कर लेता है, ५. कषाय-व्युत्सर्ग जिसमें साधक क्रोध, मान, माया व लोभ कषायों का त्याग करता है, ६. संसार-व्युत्सर्ग जिसमें वह सभी सांसारिक इच्छाओं का त्याग कर देता है तथा ७. कर्म-व्युत्सर्ग जिसमें वह अष्टकर्मों के त्याग से कर्म-मुक्त होकर मुक्तिंगामी होता है। कहना नहीं होगा कि व्युत्सर्ग तप ही तप का चरमोत्कर्ष है।

सत्ता-स्वरूप -

विभिन्न भारतीय धर्म-दर्शन सत् (वास्तविकता) को अलग-अलग ढंग से परिभाषित करते हैं। वेदान्त के अनुसार सत् ध्रुव या नित्य है, बौद्ध-दर्शन सत् को निरन्वय-क्षणिक मानता है, सांख्य-दर्शनानुसार, जीव-सत् कूटस्थ-नित्य है तो अजीव-सत् परिणामी-नित्य या नित्यानित्य है तथा न्याय व वैशेषिक दर्शनों के अनुसार सत् का कुछ अंश नित्य तथा कुछ अंश अनित्य है। सत्ता-स्वरूप के बारे में विभिन्न धर्म-दर्शनों द्वारा व्यक्त ये प्रमेय सत्ता के सभी पक्षों को व्यक्त नहीं कर सकते हैं तथा प्रत्येक के कुछ अविश्लेषित पक्ष रह जाते हैं। जैन-दर्शन के अनुसार यथा संदर्भ सत् 'उत्पाद (उत्पन्न होने)', 'व्यय (नष्ट होने)' व 'ध्रौव्य (अपरिवर्तित रहने)' के गुणों का समन्वय है।^{१७}

हर वस्तु, चाहे वह सजीव हो या अजीव, दो पक्षों में देखी जा सकती है - एक पक्ष जो सतत परिवर्तनशील है तथा दूसरा जो सर्वथा अपरिवर्तनीय है। पहला किसी भी वस्तु का पर्याय पक्ष है जो सतत परिवर्तनशील है प्रतिसमय पदार्थों की कोई न कोई (पूर्ववर्ती) पर्याय नष्ट होती है तथा उसकी जगह उसी की उत्तरवर्ती पर्याय ले लेती है। दूसरा

पक्ष उसी पदार्थ का द्रव्य पक्ष है जो इस सतत पर्याय परिवर्तन के बीच भी अपरिवर्तित रहता है। इस अंतर्विरोध से लगने वाले सिद्धांत को हम एक उदाहरण द्वारा आसानी से व्याख्यायित कर सकते हैं। सजीव सत्ता के उदाहरण के रूप में हम आत्म तत्त्व को ही लेते हैं। जब भी एक आत्मिक स्थिति परिवर्तित होती है तो आत्मा की एक पर्याय नष्ट (व्यय) होकर दूसरी पर्याय को उत्पन्न (उत्पाद) करती है जब कि आत्म-द्रव्य तो हर हाल में त्रिकालवर्ती वही (ध्रुव) रहता है। अजीव सत्ता का उदाहरण और भी सरलता से समझ में आने वाला है। पानी सामान्यतया तरल जल के रूप में पाया जाता है यह इसकी तरल पर्याय है; जब पानी को जमा कर बर्फ बनाया जाता है तो पानी की तरल पर्याय नष्ट (व्यय) हो जाती है तथा बर्फ के रूप में ठोस पर्याय उत्पन्न (उत्पाद) होती है किंतु दोनों ही स्थितियों में जल-द्रव्य (**Water-matter – Hydrogen Oxide or H₂O**) तो विद्यमान (ध्रुव) ही रहता है। इसी प्रकार जब पानी का वाष्पीकरण होता है तो तरल पर्याय नष्ट होकर वायु (वाष्प) पर्याय में परिवर्तित (उत्पन्न) हो जाती है किंतु जल-द्रव्य दोनों ही स्थितियों में ध्रुव रहता है।

आत्मा और कर्म -

पूर्व में हमने सजीव-द्रव्य व अजीव-द्रव्य की चर्चा की है। सजीव-द्रव्य ही जीव या आत्मा कहा जाता है। जैन-मत आत्माओं की अनेकता में विश्वास करता है। उसके अनुसार लोक में अनंत आत्माएँ निवास करती हैं जिनमें से प्रत्येक आत्मा दूसरी आत्मा के समान ही एक चैतन्य इकाई है। आत्माओं की समानता इस बात में है कि अपनी शुद्ध अवस्था में प्रत्येक आत्मा अनाकार, निरपेक्ष, निष्कांक्ष व अनंत-ज्ञान, अनंत-दर्शन, अनंत-सुख व अनंत आत्म-सामर्थ्य से युक्त होती है। अपनी संसारी अवस्था में आत्माएँ सशरीरी होती हैं तथा अजीव कर्म-द्रव्य के साथ संयुक्त होने की क्षमता रखती है। वे जिस शरीर में निवास करती हैं उसी का आकार ग्रहण कर लेती हैं। प्रत्येक संसारी जीव का कर्म-द्रव्य के साथ अनादि संबंध होता है तथा प्रति समय भी वे स्वयं के शरीर के मन-वचन

४८ : जैन-धर्म : जीवन-धर्म

व काया की शुभाशुभ गतिविधियों द्वारा या तो पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करती हैं या नवीन कर्मों का बंध करती हैं।

‘कर्म’ शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता है। कर्म का एक अर्थ है कार्य-कलाप तथा दूसरा अर्थ है कर्म-द्रव्य जो कि संसारी सशरीरी आत्मा के प्रत्येक कार्य के साथ ही या तो आत्मा की ओर आकृष्ट होकर उसके साथ आबद्ध होता है या आत्म प्रदेश से झड़ता है निर्जरित होता है। पहले अर्थ में कर्म क्रिया है तथा उसकी प्रतिक्रिया ही वह सुनिश्चित शुभाशुभ परिणाम (विपाक) है जो आत्मा को अवश्य भुगतना पड़ता है। दूसरे अर्थ में कर्म-द्रव्य आत्मा के साथ संयुक्त होकर उसकी शुद्धता को मलिन करता है तथा उसे संसार में रहने के लिये बाध्य करता है। कर्म दो प्रकार के होते हैं - १. पुण्य-कर्म जिनका विपाक सुखद होता है तथा २. पाप-कर्म जिनका विपाक दुःखद होता है। आत्मा को आबद्ध कर्म-द्रव्य से मुक्त करने का एकमात्र उपाय तपश्चरण है। जब आत्मा से कर्म निःशेष झड़ जाते हैं तो वह सांसारिक बंधन से मुक्त होकर ऊपर उठती है तथा लोक के सर्वोच्च शिखर पर स्थित सिद्धशिला पर निवास करने चली जाती है। हम इस विषय पर और अधिक चर्चा ‘कर्म-सिद्धांत’ विषयक अध्याय में करेंगे।

जैन-धर्म आस्तिक या नास्तिक? -

रूढिवादी वेदाधारित भारतीय धर्म-दर्शनों के अनुसार जैन-धर्म एक अपरंपरावादी नास्तिक धर्म-दर्शन है जो भगवान के त्रिदेव (कर्ता, भर्ता व हर्ता) स्वरूप की विद्यमानता को नहीं मानता है तथा तदनुसार वह उसके सभी के भाग्य-विधाता के रूप को भी नहीं मानता है। लेकिन भारतीय धर्म-दर्शनों के संदर्भ में यही सिद्धांत स्वनाशी है क्योंकि मीमांसा-दर्शन, जिसे चार परंपरावादी आस्तिक धर्म-दर्शनों में स्थान प्राप्त है, वह भी भगवान के कर्ता-भर्ता-हर्ता स्वरूप को नहीं मानता है तथा इस सिद्धांत के निरसन में जैन धर्म-दर्शन के साथ है कि जगत में जो कुछ भी है वह सब

भगवान का ही रूप है। वास्तव में आस्तिकता एक ऐसी धारणा है जिसमें भगवान को एकमात्र परब्रह्म माना गया है तथा जगत में जो भी चराचर पदार्थ हैं वे सब उसी सर्वज्ञ-सर्वत्रविद्यमान-सर्वशक्तिमान परब्रह्म के अंश माने गए हैं। जैन-मत तो अनेकात्मवादी है तथा मानता है कि सभी अनंतानंत आत्माओं में कर्म-द्रव्य की सर्वथा निर्जरा करके सर्वज्ञता, सर्वदर्शिता, अनंतसौख्य व अनंत आत्मसामर्थ्य को प्राप्त करके भगवान बनने की शक्ति है। जैनत्व की भगवान संबंधी परिकल्पना में उनके अवतार लेकर पुनः जगत में आने और अपने भक्तों का कल्याण करने तथा दुष्टों का नाश करने व सब के कार्यों तथा भाग्य के नियंत्रण जैसे सांसारिक कर्मों का कहीं स्थान नहीं है। कारण सुस्पष्ट है कि संसारमुक्त सिद्ध भगवान तो सर्वथा वीतराग हैं तथा किसी का भी भला या बुरा करने की इच्छा से सर्वथा मुक्त हैं। अतः वे कभी भी संसार में दुष्कृतों के विनाशार्थ या धर्म की स्थापनार्थ भी अवतार नहीं लेते हैं।

इस पृष्ठभूमि में जैन-धर्म की आस्तिकता का आधार यह है कि यह एक ऐसा धर्म-दर्शन है जो इस बात में विश्वास रखती है कि वह ऐसी आत्मा के अस्तित्व को मानती है जो अपनी संसारी अवस्था में तब तक पुनर्जन्म लेती रहती है जब तक उसके कर्म-बंधन सर्वथा टूट नहीं जाते व तब तक वह कर्म करती है, तदनुसार कर्म-बंधन करती है तथा स्वकृत कर्मों के फल-द्विपाक को प्राप्त करती है। जैन मतानुसार आत्मा अपना प्रभु स्वयं है जो स्व-साधना द्वारा ही कर्म-बंधनों से मुक्त होकर सिद्ध-बुद्ध और मुक्त हो जाती है, भगवत्पद प्राप्त करती है। अतः जैन धर्म-दर्शन एकात्मवादी न होकर अनेकात्मवादी आस्तिक धर्म-दर्शन है जो अनंत भगवत्क्षमता युक्त आत्माओं के अस्तित्व में विश्वास रखती है, वह नास्तिक धर्म-दर्शन नहीं है।

जैन ध्रुव-सत्य —

जैन-दर्शन तथा इसका न्याय (तर्क शास्त्र) कतिपय ध्रुव-सत्यों पर

आधारित है जो तर्क से परे हैं। वे ध्रुव-सत्य निम्नानुसार हैं: -

- क. लोक में अनंत आत्माएँ हैं जो अपने-अपने कर्मों की कर्ता हैं तथा उनके परिणामों की भोक्ता हैं।
- ख. कर्म-द्रव्य है जो आत्मा के साथ संबद्ध हो सकता है।
- ग. सभी आत्माओं का कर्म-द्रव्य के साथ अनादि संबंध है जो उन्हें संसार में भ्रमण कराता है।
- घ. संसारी अस्तित्व दुःखद है।
- ङ. संसार से मुक्ति है।
- च. संसार से मुक्ति के उपाय हैं।

इन ध्रुव-सत्यों में दृढ़ विश्वास के कारण ही प्रत्येक जैन धर्मानुयायी संसार-मुक्ति को ही अपना परम ध्येय मानता है तथा उसके लिये प्रयत्नशील रहता है। सभी जैन धर्म-प्रवर्तक इन ध्रुव-सत्यों का आभास करते हैं तथा इन पर आधारित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य रूपी रत्नत्रयी मोक्ष-मार्ग की प्ररूपणा करते हैं जिस पर चल कर भूतकाल में अनंत जीव मुक्त हो गए हैं, वर्तमान में अनेक मुक्त हो रहे हैं तथा भविष्य में भी अनंत जीव संसार-मुक्त होंगे।

समग्र जैन-दर्शन, इसकी विचार-प्रणाली, लोक-विज्ञान तथा आचार-गोचर इन्हीं ध्रुव-सत्यों पर आधारित हैं। हम इनका विश्लेषण आगे आने वाले खण्डों में करेंगे।

जैन-धर्म : जीवन-धर्म

द्वितीय खण्ड

जैन-दर्शन

अध्याय-३ : तत्त्वार्थ

अध्याय-४ : सम्यग्दर्शन

अध्याय-५ : सम्यग्ज्ञान

अध्याय-६ : अनेकान्त व स्याद्वाद

अध्याय-७ : कर्म-सिद्धान्त

अध्याय-८ : आत्म-विकास के सोपान : गुणस्थान

इस पुस्तक का द्वितीय खण्ड होते हुवे भी यह इसका सबसे अहं खण्ड है जो जैन-दर्शन व उसकी विचार-प्रणाली पर प्रकाश डालता है। अपेक्षा के अनुरूप ही यह खण्ड तत्त्वार्थों के विवेचन पर अध्याय से प्रारंभ होता है तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, अनेकान्त व स्याद्वाद, कर्म-सिद्धान्त व आत्म-विकास के सोपानों (गुणस्थानों) के विवेचन की ओर उन्मुख होता है।

अध्याय-३ : तत्त्वार्थ

तत्त्व -

जैन-मत की यह मान्यता है कि समस्त जीव-जगत का अंतिम उद्देश्य दुःखद एवं क्लेशकारक सांसारिक अस्तित्व से मुक्ति या निर्वाण प्राप्त करना है। संसार में जन्म, जरा, रोग व मरण सभी प्राणियों के लिये दुःख व क्लेश के कारण हैं। जैन-दर्शन ऐसे किसी सर्वशक्तिमान ईश्वर की सत्ता में भी विश्वास नहीं करता है जो कि अपनी भक्ति करने वाले प्राणियों पर प्रसन्न होकर उन्हें सभी दुःखों से त्राण देकर मुक्त कर दे व मोक्ष-सुख प्रदान करे। जैन-मतानुसार तो सभी जीव अपने-अपने भले या बुरे कर्मों के लिये उत्तरदायी होते हैं। अतः जैन दार्शनिकों ने दुःखमय संसार तथा इससे मुक्ति की इस गुरु-गंभीर समस्या का हल ढूँढने के प्रयास में नौ-तत्त्वों^१ का दिग्दर्शन किया जो जीव व अजीव की सत्ता, उनके संबंध व संबंधविच्छेद के क्रम से गुजरते हुवे मोक्ष तक पहुँचने का तर्कसंगत विवेचन करते हैं। जैन तत्त्व-चर्चा से उद्भूत मोक्ष-मार्ग का निर्देश करते हुवे तात्त्विकों ने सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति व तदनुरूप सम्यक्चारित्र की अनुपालना को ही मोक्ष प्राप्ति का एकमात्र साधन बताया।^२ संसार से मुक्ति के रास्ते के इन तीन पड़ावों में से सबसे पहला व आधारभूत पड़ाव है सम्यग्दर्शन, जिसका अर्थ है यथार्थबोध या जो वस्तु जैसी है उसे उसी रूप में देखने समझने की क्षमता या वस्तुओं को सही परिप्रेक्ष्य में देख पाने की क्षमता। सम्यग्दर्शन का महत्व इसी से प्रकट है कि इसके अभाव में ज्ञान भी सम्यक्-ज्ञान नहीं हो पाता है न चारित्र ही सम्यक् रह पाता है।

^१ वाचक उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्रानुसार तत्त्व सात ही हैं। वे पुण्य व पाप को अलग तत्त्व नहीं मानते हुवे उन्हें आस्रव व बंध तत्त्वों में ही सम्मिलित मानते हैं। यथा - “जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरा मोक्षास्तत्त्वम्।।”

वाचक उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में कहा है कि 'तत्त्वार्थों में श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है',^१ उनका वास्तविक ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है तथा उनके अनुसार आचरण ही सम्यक्चारित्र्य है। यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र में सात ही तत्त्वों की चर्चा की गई है, उत्तरवर्ती आचार्यों ने नौ तत्त्वों का निर्देश किया है तथा हम भी तदनुसार नौ तत्त्वों का वर्णन करेंगे।

यह अध्याय नौ तत्त्वों को नामित करके उनका संक्षिप्त वर्णन करता है। वे नौ तत्त्व हैं - जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा व मोक्ष।

इसके पूर्व कि हम इन तत्त्वार्थों का वर्णन करना प्रारंभ करें, हमारे लिये यह उचित होगा कि हम यह देखें कि ये तत्त्व कैसे अस्तित्व में आते हैं तथा वे आत्मा की संसार से मोक्ष तक की यात्रा को किस प्रकार प्रभावित करते हैं।

संपूर्ण लोक में केवल दो ही प्रकार के द्रव्य हैं - जीव-द्रव्य तथा अजीव-द्रव्य - तथा इस चित्र-विचित्र जगत में जितनी भी विभिन्नताएँ दिखाई देती है वह केवल इन दो द्रव्यों के आपसी मेल का ही खेल है। जीव-द्रव्य या लोक में विद्यमान अनंत आत्माएँ वास्तव में एकसमान ही हैं - चैतन्य व निराकार। अजीव द्रव्य तो फिर भी अनेक प्रकार के होते हैं किंतु इनमें से केवल एक - पुद्गल पदार्थ ही साकार व दृश्य होता है। जीव-द्रव्य या आत्मा का विशिष्ट प्रकार के अजीव पुद्गल पदार्थ - कर्म-पुद्गल-वर्गणा के साथ संयोग संभव है जिससे उसे शरीर व आकार मिलता है तथा मिलता है सांसारिक बंधन व तज्जन्य अनंत संसार में भ्रमण। जीव और अजीव ही पहले दो तत्त्व हैं। कर्म-पुद्गल परमाणुओं

^२ "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः॥"

- तत्त्वार्थसूत्र, १.१

^३ "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।"

- तत्त्वार्थसूत्र, १.२

का आत्म प्रदेश में आना कर्म-आस्रव है तथा उसका आत्मा के साथ एकाकार होजाना कर्म-बंध है। जीव के शुभ (पुण्य) व अशुभ (पाप) अध्यवसायों से ही जीव-आत्मा व अजीव-कर्म-पुद्गल का यह खेल चलता है तथा आस्रव व बंध होते हैं। जब तक आत्मा के साथ कर्म-पुद्गल संयुक्त हैं वह संसार से मुक्त नहीं हो सकती। इसका फलितार्थ यह है कि संसार-मुक्ति के लिये सर्व प्रथम तो आस्रव व बंध को रोकना होगा तथा पूर्वबद्ध कर्मों को आत्मा से अलग करना होगा। ये ही संवर व निर्जरा कहलाते हैं। जब कर्म-पुद्गल आत्मा से सर्वथा निर्जीर्ण हो जाते हैं, जीव संसार से मुक्त हो जाता है। यही मोक्ष है। अतः यदि हम इन नौ तत्त्वों को ध्यान से देखें तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि मूलतः तत्त्व दो ही हैं - जीव व अजीव। शेष सात तत्त्व तो इनके संयोग व वियोग के परिणाम स्वरूप ही अस्तित्व में आते हैं। अब समय आ गया है कि हम इनका तनिक विस्तार से विवेचन करें।

१. जीव-तत्त्व -

आत्मा या जीव ही एकमात्र ऐसा द्रव्य है जो चैतन्यता के गुण (उपयोग) से युक्त है। यह उपयोग ही है जो इसे सुख व दुःख की अनुभूति करवाता है। उपयोग जीव का ऐसा अभिन्न गुण है^४ कि वही जीव का लक्षण कहलाता है। जीव की एक अन्य उपयोगी परिभाषा है कि जीव वह है जिसमें न्यूनतम चार प्राण - इंद्रियबल प्राण, शरीरबल प्राण, आयुबलप्राण तथा श्वासोच्छ्वासबल प्राण हों। उपयोग या चेतना का अर्थ है अनुभव करने व देखने-जानने की क्षमता का होना। यहाँ देखने का अर्थ आँखों से देखना नहीं है अपितु पदार्थों के सामान्य ज्ञान से है, जानने का अर्थ विशिष्ट ज्ञान से है। ये ही दर्शन व ज्ञान हैं। (हम दर्शन व ज्ञान के विषय में विस्तृत चर्चा क्रमशः चौथे व पाँचवें अध्यायों में करेंगे।) यहाँ हम यह स्मरण करना चाहेंगे कि जीव स्वयं तो निराकार, अदृश्य व अनंत है, इसे संसारी अवस्था में अजीव-द्रव्य के साथ संयुक्त होने पर ही

^४ उपयोगो लक्षणम् ॥

आकार व दिखाई देने का गुण प्राप्त होता है। यह अजीव-द्रव्य ही आत्मा को शरीर व कर्म-भार देता है। इसके अन्य गुणों का वर्णन करते हुवे आचार्य नेमिचंद्र सिद्धान्तचक्रवर्ती कहते हैं कि आत्मा स्वदेहपरिणामी, कर्मों की कर्ता, उनके परिणामों की भोक्ता, संसारी या सिद्ध अवस्था में पाई जाने वाली तथा स्वभावतः ऊर्ध्वगति वाली होती है।

अब हम जीवों के वर्गीकरण के विषय पर आते हैं। पिछले अनुच्छेद में उल्लेख के अनुसार जीव या तो संसारी होते हैं या सिद्ध। संसारी जीव कर्म-बंधनों से युक्त होते हैं तथा सिद्ध जीव कर्म-बंधनों से मुक्त।

सिद्ध जीव -

सिद्ध-जीव सभी अष्ट प्रकार के कर्म बंधनों से रहित होते हैं। वे अशरीरी, अदृश्य, किंतु प्रदेशी तथा अगुरुलघु (न भारी न हल्के) होते हैं। वे अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख व अनंत आत्म-सामर्थ्य से युक्त होते हैं तथा सदा-सर्वदा के लिये लोकाग्र में स्थित सिद्धलोक या ईशत्प्राग्भार-पृथ्वी पर निवास करते हैं।

संसारी जीव भी निम्नानुसार चौदह प्रकार के होते हैं: -

पर्याप्तक	अपर्याप्तक
१. सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव	८. सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव
२. बादर (स्थूल) एकेन्द्रिय जीव	९. बादर एकेन्द्रिय जीव
३. द्वीन्द्रिय जीव	१०. द्वीन्द्रिय जीव
४. त्रीन्द्रिय जीव	११. त्रीन्द्रिय जीव
५. चतुरेन्द्रिय जीव	१२. चतुरेन्द्रिय जीव
६. असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव	१३. असंज्ञी पंचेन्द्रिय-जीव,
७. संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव	१४. संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव

इनमें से प्रथम, द्वितीय, अष्टम व नवम् वर्ग के जीव त्रिआयामी गति में असमर्थ होते हैं तथा स्थावर जीव कहलाते हैं। शेष वर्गों के जीव ऐसी गति करने में समर्थ होते हैं तथा वे गतिमान या त्रस जीव कहलाते हैं। स्थावर जीव एकेन्द्रिय ही होते हैं, इनमें पृथ्वीकायिक, अप्कायिक (जल के जीव), वायुकायिक, तेजस्कायिक (अग्नि के जीव) तथा वनस्पतिकायिक जीव होते हैं। द्वीन्द्रिय से संज्ञीपंचेन्द्रिय जीव गतिमान ही होते हैं। दो से चार इंद्रियों वाले जीव विकलेन्द्रिय तथा पाँचों इंद्रियों वाले जीव पूर्णेन्द्रिय जीव कहलाते हैं। वाचकउमास्वाति सहित कुछ विचारक वायुकायिक व तेजस्कायिक जीवों को भी त्रस-एकेन्द्रिय मानते हैं क्योंकि वे त्रिआयामी गति में समर्थ होते हैं।^५ निम्नानुसार पूर्ण विकसित प्राणों वाले जीव पर्याप्तक जीव तथा अल्पविकसित प्राणों वाले जीव अपर्याप्तक जीव कहलाते हैं।

विभिन्न प्रकार के पर्याप्तक जीवों में पाए जाने वाले प्राणों की संख्या व उनके नाम निम्नानुसार हैं: -

पर्याप्तक जीव	प्राणों की संख्या व नाम
१-२. सूक्ष्म व बादर एकेन्द्रिय जीव	चार - स्पर्शनेन्द्रिय, शरीरबल, आयुबल व श्वासोच्छवास
३. द्वीन्द्रिय जीव	छः - स्पर्शन व रसन इंद्रियों, वचनबल, शरीरबल, आयुबल तथा श्वासोच्छवासबल
४. त्रीन्द्रिय जीव	सात - स्पर्शन, रसन व घ्राण-इंद्रियों, वचनबल, शरीरबल, आयुबल तथा श्वासोच्छवासबल
५. चतुरेन्द्रिय जीव	आठ - स्पर्शन, रसन, घ्राण व चक्षुर् इंद्रियों, वचनबल, शरीरबल, आयुबल व श्वासोच्छवासबल

६.	असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव	नौ -	स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षुर् व कर्ण इन्द्रियों, वचनबल, शरीरबल, आयुबल तथा श्वासोच्छवासबल
७.	संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव	दस -	स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षुर् व कर्ण इन्द्रियों, वचनबल, शरीरबल, मनःबल, आयुबल तथा श्वासोच्छवासबल

नारक तिर्यच मनुष्य व देव -

जीवों का एक और वर्गीकरण लोक में उनके निवास्थान के आधार पर भी है। वह निम्नानुसार है: -

१. नारक जीव - जो जीव अधोलोक में स्थित सात नरक-भूमियों पर निवास करते हैं वे नारक जीव कहलाते हैं।
२. तिर्यच जीव - एकेन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय तथा कुछ संज्ञी पशु-पक्षी व जलचर जीव तिर्यच जीव कहलाते हैं। इनमें से सूक्ष्म एकेन्द्रिय (निगोद) जीव सभी भूमियों पर पाए जाते हैं शेष तिर्यच जीव मध्यलोक में पाए जाते हैं।
३. मनुष्य - मनुष्य भी मध्यलोक में ही पाए जाते हैं, तथा
४. देव - अधः, मध्य व ऊर्ध्वलोक में स्थित देव-विमानों में निवास करने वाले जीव देव हैं।

अब हमें जीवन व मृत्यु के प्रश्न पर भी कुछ चिंतन कर लेना चाहिये। हम पूर्व में कथन कर चुके हैं कि आत्मा अव्यक्त, अशरीरी व सनातन होती है। तब हम जो अपने आस-पास प्राणी देखते हैं वे कौन हैं? वे जन्म क्यों लेते हैं?, वे मरते क्यों हैं? कौन जन्मता और मरता है?

हाँ, आत्मा निश्चित ही अव्यक्त, अशरीरी व सनातन है किंतु अपने संसारी अस्तित्व में वही अव्यक्त व अशरीरी आत्मा अजीव पुद्गल-द्रव्य के साथ संयुक्त होकर, बद्ध होकर पुद्गल-निर्मित शरीर को प्राप्त करती है

तथा व्यक्त व शरीरी हो जाती है। हमें अपने आस-पास जो जीव हिलते-चलते दिखाई देते हैं वे सब ये ही संसारी आत्माएँ हैं जो पुद्गल शरीर से संयुक्त हैं, शरीरी हैं। हम अव्यक्त व अशरीरी मुक्त सिद्धात्माओं को न तो देखते हैं न ही कभी देख पाएंगे। जब सनातन आत्मा अपने संसारीपने में संसार-सागर में 'पुनरपि जन्म, पुनरपि मरण' के चक्कर में भटकती है तो उसके विभिन्न आयु व नाम कर्मों के अनुसार समय-समय अलग-अलग शरीरों से उसका संयोग व वियोग होता रहता है। आत्मा के किसी शरीर के साथ संयोग का प्रारंभ ही जन्म है तथा किसी शरीर से वियोग का ही नाम मृत्यु है। जब आत्मा किसी शरीर में जन्म लेती है तो आत्मा के कर्म-फलानुसार उसके उस शरीर में रहने की एक निश्चित अवधि होती है जिसे उसका आयुष्य-कर्म कहते हैं। जब वह आयुष्य समाप्त हो जाता है तो आत्मा को वह शरीर त्याग कर अन्य शरीर ग्रहण करना ही पड़ता है। यही मृत्यु व पुनर्जन्म है। यह वैसा ही है जैसे कि कोई व्यक्ति अपने जीर्ण-शीर्ण कपड़े उतार कर नए कपड़े पहन ले। श्रीमद्भगवद्गीता में श्राकृष्ण भी यही कहते हैं कि 'जिस प्रकार कोई व्यक्ति जीर्ण वस्त्रों को उतार कर नवीन वस्त्र ग्रहण करता है, वैसे ही आत्मा भी शरीर के जीर्ण हो जाने पर नवीन देह ग्रहण करती है।'⁶ अतः वास्तव में यह शरीर ही है जो बनता है व नष्ट होता है अथवा शरीर ही जन्मता है व मरता है, आत्मा तो सनातन है, अजर है, अमर है, सदा-सर्वदा ध्रुव रहती है।

२. अजीव तत्त्व -

पूर्वनिर्दिष्टानुसार लोक में जीव-द्रव्य तथा अजीव-द्रव्य होते हैं। यह भी कि जीव-द्रव्य का एक विशिष्ट प्रकार के अजीव-द्रव्य - कर्म-पुद्गल के सा-अनादि संबंध होता है जो कि जीव के संसारी होने तथा संसार-भ्रमण (संसारी चतुर्गतियों में पुनः पुनः जन्म-मरण) का कारण

⁶ “वासासि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि ग्रह्णाति नरोऽपराणि।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-नयन्यानि संयाति नवानि देही ॥”

होता है। अजीव-लोक में पाँच प्रकार के अजीव-पदार्थ होते हैं - १. पुद्गल, २. धर्म, ३. अधर्म, ४. आकाश व ५. काल। ये पाँचों पदार्थ एक-दूसरे से पर्याप्त भिन्नता रखते हैं तथा उनमें केवल एक ही समानता होती है कि वे सभी अजीव हैं। इनमें पुद्गल-द्रव्य ही व्यक्त तथा साकार होता है, अन्य सभी अव्यक्त तथा निराकार होते हैं। अध्याय के इस भाग में इन पाँचों अजीव पदार्थों का सम्यक् विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

पुद्गल : व्यक्त व साकार द्रव्य -

मूल द्रव्य या भैतिक पदार्थ जिसे भौतिक-तत्त्व या भौतिक-द्रव्य भी कहा जाता है उसे जैन वाङ्मय में पुद्गल की संज्ञा से जाना जाता है। यह पुद्गल ही अजीव-जगत का व्यक्त व दृश्य भाग है और जो कुछ भी हम अपने आस-पास देखते हैं। वह इस एकमात्र पुद्गल-द्रव्य की ही लीला है। इसमें रूप (आकार), रस (स्वाद), गंध, शब्द (आवाज), व स्पर्श (छू कर अनुभूत कर सकना) के गुण होते हैं अर्थात् इसे देखा, चखा, सूँघा, सुना व छुआ जा सकता है। पुद्गल अपने आप को अपनी पर्यायों के माध्यम से व्यक्त करता है जो इसके शब्द (आवाज करने), बंध (एक कण या भाग के दूसरों के साथ जुड़ सकने), सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान (विभिन्न प्रकार के आकार ग्रहण कर सकने), भेद (एक बड़े भाग के परमाणु पर्यन्त विभाजित होने), तम (अप्रकाशित होने), छाया (परछाई डालने), उद्योत (प्रकाशमान होने) व आतप (गर्म होने) के गुणों के कारण अस्तित्व में आते हैं। जो सतत परिवर्तनशील दृश्य जगत है वह सब पुद्गल के ही विभिन्न पर्यायों की अभिव्यक्ति है। यदि हम 'पुद्गल' शब्द का विश्लेषण करें तो पाते हैं कि यह शब्द 'पुद्' व 'गल' दो शब्दों से मिलकर बना है। 'पुद्' का अर्थ है जुड़ना, संयुक्त होना तथा 'गल' का अर्थ है विगलित होना, खण्ड-खण्ड होना, विभाजित होना। अतः अपने नाम से ही अभिव्यक्त स्वभावानुसार 'पुद्गल' सतत संयुक्त व विभाजित होकर अपनी पर्यायों परिवर्तित करता रहता है। यह पर्याय-परिवर्तन तीन प्रकार से होता है - १. स्वाभाविक रूप से जैसे कि बादलों के आकार लगातार स्वतः बदलते

रहते हैं। २. प्रयत्न पूर्वक जिसमें आकार-परिवर्तन के लिये प्रयत्न करना पड़ता है। तथा ३. इन दोनों तरीकों के सम्मिलित रूप से जिसमें कुछ अंशों में परिवर्तन स्वाभाविक रूप से होता है तथा शेष परिवर्तन प्रयत्न पूर्वक होता है। इसके सतत परिवर्तनशील स्वभाव के कारण पुद्गल को चार चलकों के द्वारा परिभाषित किया जाता है। वे चार चलक हैं - १. द्रव्य (पदार्थ), २. क्षेत्र (जगह), ३. काल (समय) व ४. भाव (पर्याय)। इन चारों को सम्मिलित रूप से स्व-चतुष्टय कहा जाता है।

पुद्गल-पदार्थ के आठ मुख्य प्रकार, जिन्हें पुद्गल-वर्गणा कहा जाता है वे हैं - १. ओदारिक-वर्गणा जो पदार्थ का वह प्रकार है जिससे संसारी प्राणियों के भौतिक शरीर निर्मित होते हैं। २. वैक्रिय-वर्गणा वह विशेष प्रकार का पुद्गल-पदार्थ है जिससे आकार में इच्छानुसार परिवर्तन हो सकने वाले शरीरों का निर्माण होता है। ३. आहारक-वर्गणा जिससे उच्च आध्यात्मिक उपलब्धियों वाले विशिष्ट सिद्धियों वाले साधकों के विशेष प्रकार के शरीर निर्मित होते हैं जो मध्यलोक में अंतर्क्षेत्रीय यात्राएँ करने में समर्थ होते हैं। ४. तैजस-वर्गणा जिससे संसारी प्राणियों के सूक्ष्म तैजस-शरीर का निर्माण होता है जो उन्हें तेज, ओज, शारीरिक ताप व जठराग्नि देते हैं। ५. कर्मण-वर्गणा वह कर्म-द्रव्य है जिससे संसारी प्राणियों के वे अतिसूक्ष्म कर्मण-शरीर बनते हैं जो उनकी आत्मा को संसार में आबद्ध रखते हैं, उनके संसार-भ्रमण के कारणभूत होते हैं तथा समय-समय पर उनकी भवितव्यता या भाग्य का निर्धारण करते हैं। ६. श्वासोच्छ्वास-वर्गणा वह वात-द्रव्य है जिससे प्राणीमात्र की श्वास व उच्छ्वास क्रिया संचालित होती है। प्राणी इस वर्गणा के पुद्गल द्रव्य को श्वास द्वारा ग्रहण करते हैं तथा उच्छ्वास द्वारा छोड़ते हैं। ७. भाषा-वर्गणा पुद्गल-द्रव्य का वह प्रकार है जिससे श्रव्य व बोधगम्य ध्वनियों बनती हैं। तथा ८. मनः-वर्गणा जिससे संज्ञी प्राणियों के मन में विचार उत्पन्न होते हैं।

संपूर्ण पुद्गल-पदार्थ सूक्ष्मातिसूक्ष्म अविभाज्य पुद्गल-कणों से बने होते हैं जिन्हें पुद्गल-परमाणु कहते हैं। ये पुद्गल परमाणु ही अन्य

परमाणुओं के साथ संयुक्त होकर अपेक्षाकृत बड़े आकार के स्कंधों का निर्माण करते हैं जो दिखाई देते हैं अन्यथा पुद्गल-परमाणु तो चर्म-चक्षुओं से ही नहीं अपितु साधारण सूक्ष्मदर्शी से भी दिखाई नहीं देते हैं। आज विज्ञान-सम्मत परमाणु (atom) तो बहुत पहले ही कई छोटे कणों में विभाजित हो चुका है अतः पुद्गल-परमाणु, जो कि पदार्थ का अंतिम अविभाज्य कण है, का अर्थ विज्ञान-ग्रंथों में वर्णित परमाणु से नहीं लिया जाना चाहिये। आधुनिक विज्ञान को ज्ञात लघुत्तम कण क्वार्क (quark) है किंतु क्या यह भी अंतिम और अविभाज्य है या नहीं यह तो भविष्य के गर्भ में है। अभी तो आधुनिक विज्ञान को सर्वज्ञता के स्तर के निकट पहुँचने के लिये भी खोजों के कई सीमांत पार करने हैं।

दो, तीन, या अधिक (संख्यात, असंख्यात या अनंत) पुद्गल-परमाणु मिलकर स्कंध बनाते हैं। चरम-कण (ultimate particle या पुद्गल-परमाणु) तो दृश्य नहीं है किंतु स्कंध दिखाई देते हैं तथा जो भी दृश्य जगत हमारे सामने है वह सब अलग-अलग आकार-प्रकार, रंग-रूप, रस-गंध व स्पर्श गुणों वाले स्कंधों के रूप में ही है। अपने आकार-प्रकार के अनुसार स्कंध छः प्रकार के होते हैं - १. सूक्ष्म-सूक्ष्म (अति सूक्ष्म), सूक्ष्म, सूक्ष्म-बादर (सूक्ष्म व स्थूल का मिला जुला रूप जो सूक्ष्मता के समीप हो), बादर-सूक्ष्म (सूक्ष्म व स्थूल का मिला जुला रूप जो स्थूलता के समीप हो), बादर (स्थूल) व बादर-बादर (अति स्थूल)। जैन विचारकों के अनुसार पदार्थ व ऊर्जा में पारस्परिक संबंध है तथा वे ऊर्जा को भी पदार्थ का ही एक रूप मानते हैं। यह मत आधुनिक विज्ञान सम्मत भी है। बीसवीं सदी के महान वैज्ञानिक आइंस्टीन ने यह सिद्ध कर दिया था कि पदार्थ और ऊर्जा आपस में परिवर्तनीय हैं तथा उन्होंने इनके आपसी संबंध को गणितीय सूत्र से भी प्रदर्शित किया था। उनका प्रसिद्ध पदार्थ-ऊर्जा समीकरण (Mass-Energy equation) $E = MC^2$ इसका साक्षी है।

व्यक्त पदार्थ के बारे में हमारा विश्लेषण तब तक अधूरा रहेगा जब

तक कि हम उसके स्थान घेरने के गुण का वर्णन न करें। सभी प्रकार के पदार्थ चाहे वे व्यक्त (concrete) हो या अव्यक्त (abstract) जगह घेरते हैं। यह स्थान उन्हें आकाश-द्रव्य द्वारा प्रदान किया जाता है। क्योंकि हम आकाश-द्रव्य का सविस्तार वर्णन आगे करेंगे, यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि घनत्व के अंतर से आकाश-द्रव्य की लघुत्तम इकाई - आकाश-प्रदेश में एक पुद्गल-परमाणु से लेकर अनंत पुद्गल परमाणुओं को स्थान देने की क्षमता होती है।

पुद्गल पर इस चर्चा को हम उसके निम्नांकित बीस गुणों व पौंच आकारों के उल्लेख के साथ ही संपन्न करते हैं -

बीस गुण -

- १-८ - आठ प्रकार के स्पर्श - शीतल, उष्ण, रूक्ष, स्निग्ध, हल्का, भारी, चिकना व खुरदुरा;
- ९-१३ - पौंच प्रकार के रस - अम्लीय (खट्टा), मधुर (मीठा), कटु, कसैला व तिक्त (तीखा);
- १४-१५ - दो प्रकार की गंध - सुरभि (सुगंध) व दुरभि (दुर्गंध);
- १६-२० - पौंच प्रकार के वर्ण - नीला, रक्त (लाल), हरा, पीत (पीला) व श्वेत।

पौंच प्रकार के आकार -

- १-५ - वृत्त (गोल), वलय (छल्ला), त्रिकोण, परिमंडल व आयत।
- अन्य सभी आकार इन्हीं आकारों से मिलकर बनते हैं।

धर्म-द्रव्य (गति) का माध्यम -

दूसरा अजीव पदार्थ है 'धर्म' जो एक ऐसा अव्यक्त अजीव पदार्थ है जो गति का उदासीन माध्यम है। अर्थात् वह लोक के समस्त चलते हुये जीवों तथा पुद्गल पदार्थों की आकाश-द्रव्य में गति में इस प्रकार सहायक होता है जैसे कि तैरती हुई मछली के लिये जल सहायक होता है। उदासीन सहायक होने से तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार जल मछली के

तैरने में सहायक तो होता है किंतु जो मछली विश्राम करना चाहे उसे चलने के लिये बाध्य नहीं करता है उसी प्रकार धर्म-द्रव्य भी चलते हुवे जीव व पुद्गल-पदार्थ को तो चलने में सहायता करता है किंतु स्थिर जीव व पुद्गल-पदार्थ को चलने के लिये प्रेरित नहीं करता है। यह केवल एक उदासीन माध्यम है जो न तो चलते के साथ चलता है न ही खड़े को चलाता है। यह पदार्थ सनातन है, त्रिकालवर्ती है तथा असंख्यप्रदेशी संपूर्ण लोकाकाश में व्याप्त है। यह उदासीन गति-माध्यम की परिकल्पना (concept) जैन-लोक-विज्ञान की विशेषता है तथा यद्यपि ऐसी परिकल्पना (concept) अन्य किसी भी धर्म-दर्शन में नहीं पाई जाती है, इसका तादात्म्य न्यूटन के गति के पहले नियम में वर्णित चल-जड़त्व (dynamic inertia) का सिद्धान्त जिसके अनुसार 'किसी भी गतिशील वस्तु की गति तब तक बनी रहेगी जब तक कि किसी बाहरी बल से उसकी स्थिति में परिवर्तन न लाया जाय' के साथ स्थापित होता है। धर्म-द्रव्य की तुलना हम आधुनिक विज्ञान द्वारा परिभाषित ईथर के साथ भी कर सकते हैं जिसमें विद्युत-चुंबकीय तरंगों सहित सभी वस्तुएँ गति करती हैं। ज्ञातव्य है कि धर्म-द्रव्य का प्रसार केवल लोकाकाश तक ही है, अतः लोकाकाश से परे अलोकाकाश में कोई गति संभव नहीं है।

अधर्म-द्रव्य (स्थिति का माध्यम) -

तीसरा अजीव पदार्थ है 'अधर्म' जो एक ऐसा अव्यक्त अजीव पदार्थ है जो स्थिति का उदासीन माध्यम है। अर्थात् वह लोक के समस्त रुके हुवे या स्थिर जीवों तथा पुद्गल पदार्थों की आकाश-द्रव्य में स्थिति में इस प्रकार सहायक होता है जैसे कि थके हुए पथिक के लिये छाया सहायक होती है। उदासीन सहायक होने से तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार छाया पथिक के रुकने में तो सहायक होती है किंतु जो पथिक चलते रहना चाहे उसे रुकने के लिये बाध्य नहीं करती है उसी प्रकार अधर्म-द्रव्य भी ठहरे हुवे जीव व पुद्गल-पदार्थ को तो स्थिर रहने में सहायता तो करता है किंतु चलते हुवे जीव व पुद्गल-पदार्थ को रुकने के लिये प्रेरित नहीं करता

है। यह केवल एक उदासीन माध्यम है जो न तो रुके हुवे के साथ रुकता है न ही चलते को रोकता है। यह पदार्थ सनातन है, त्रिकालवर्ती है तथा असंख्यप्रदेशी संपूर्ण लोकाकाश में व्याप्त है। यह उदासीन स्थिति-माध्यम की परिकल्पना (concept) जैन-लोक-विज्ञान की विशेषता है तथा यद्यपि ऐसी परिकल्पना (concept) अन्य किसी भी धर्म-दर्शन में नहीं पाई जाती है, इसका तादात्म्य न्यूटन के गति के पहले नियम में वर्णित अचल-जड़त्व (static inertia) का सिद्धान्त जिसके अनुसार 'किसी भी स्थितिशील वस्तु की स्थिति तब तक बनी रहेगी जब तक कि किसी बाहरी बल से उसकी स्थिति में परिवर्तन न लाया जाय' के साथ स्थापित होता है। अधर्म-द्रव्य की तुलना हम आधुनिक विज्ञान द्वारा परिभाषित एंटी-ईथर के साथ भी कर सकते हैं जिसमें विद्युत-चुंबकीय तरंगों सहित सभी वस्तुएँ गति नहीं कर सकती हैं। ज्ञातव्य है कि अधर्म-द्रव्य का प्रसार भी केवल लोकाकाश तक ही सीमित है, अतः लोकाकाश से परे अलोकाकाश में किसी भी वस्तु की स्थिति संभव नहीं है।

धर्म-द्रव्य व अधर्म-द्रव्य के इस विमर्श से दो निष्कर्ष निकलते हैं - १. वे आकाश में सभी जीव व अजीव पदार्थों के लिये गति व स्थिति के माध्यम हैं, तथा २. वे ही लोकाकाश की सीमा हैं, अर्थात् लोकाकाश केवल वहीं तक है जहाँ तक धर्म-द्रव्य तथा अधर्म-द्रव्य का प्रसार है। तदुपरांत आकाश का जो भी प्रसार है वह अलोकाकाश है। उसमें न किसी पदार्थ की गति संभव है न ही किसी पदार्थ की स्थिति।

आकाश-द्रव्य (अवगाहना देने का माध्यम) -

जैसा कि इसके नाम से ही भासित होता है, आकाश-द्रव्य या अवगाहना-पदार्थ वह अव्यक्त पदार्थ है जो अपने अंदर सभी अन्य पदार्थों - जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म व काल को अवकाश प्रदान करता है, समाहित कर लेता है। आकाश-द्रव्य की सूक्ष्मतम इकाई है आकाश-प्रदेश अवगाहित होने वाले पदार्थों के घनत्व के अनुसार उनके एक परमाणु से लगाकर अनंत परमाणुओं तक को अवगाहना देने में समर्थ होता है। यहाँ

यह जानना महत्वपूर्ण है कि पुद्गल या अन्य पदार्थों के एक परमाणु को अवगाहित करने के लिये भी एक आकाश-प्रदेश की आवश्यकता तो होती ही है जबकि एक आकाश-प्रदेश अनंत पुद्गल-परमाणुओं को भी अवगाहित कर सकता है। आकाश-द्रव्य का यह आश्चर्यजनक अवगाहन गुण 'अवगाहन-सिद्धि' कहलाता है। ब्लेक-होल, जिनमें बड़े-बड़े विमान विलीन होने की संभावनाएँ व्यक्त की जाती रही हैं, को हम आकाश के इस अवगाहन-सिद्धि के सिद्धान्त से व्याख्यायित कर सकते हैं कि हो सकता है ब्लेक-होल में यह गुण हो कि वे बड़ी-बड़ी वस्तुओं को अत्यंत उच्च घनत्व के पुद्गल-बिंदुओं में परिवर्तित करने की क्षमता रखते हों ताकि वे एक आकाश-प्रदेश में ही समा जाय।

जैन-मतानुसार आकाश के दो भाग हैं - १. लोकाकाश जिसमें कि सभी अन्य पदार्थ यथा सभी प्राणी, तथा सभी अजीव पदार्थ (पुद्गल, धर्म, अधर्म व काल) अवगाहित होते हैं, तथा २. अलोकाकाश जिसमें आकाश-द्रव्य के अतिरिक्त कुछ भी नहीं होता है, वहाँ अन्य किसी भी पदार्थ को अवकाश नहीं है। वहाँ न किसी अन्य पदार्थ की गति है न ही स्थिति क्योंकि गति व स्थिति के माध्यम - धर्म व अधर्म-द्रव्य ही वहाँ विद्यमान नहीं हैं। इसका तात्पर्य यह है कि केवल आकाश-द्रव्य ही ऐसा द्रव्य है जो कि लोकाकाश तक सीमित नहीं है, अन्य सभी पदार्थ लोकाकाश तक ही सीमित हैं। आकाश-द्रव्य के स्वभाव के बारे में जैन-मत भी अवगाहनयोग्य वास्तविक-शून्य की परिकल्पना के साथ मेल खाता है जो सबको अपने में समा लेता है।

काल-द्रव्य -

अगला अजीव पदार्थ है काल या समय। काल का स्वभाव है प्रवाह अर्थात् काल निरंतर प्रवाहित होता रहता है, कभी किसी के लिये नहीं रुकता है तथा अपने प्रवाह से वह सभी जीव व अजीव पदार्थों में परिवर्तन लाता है। काल की विद्यमानता भी लोकाकाश तक ही सीमित है।

काल अनादि-अनंत है तथा वह सूक्ष्मतम काल-खण्डों का संकलन है जिन्हें 'समय' कहते हैं। समय की परिभाषा के अनुसार यह वह सूक्ष्म काल-खण्ड है जो एक पुद्गल-परमाणु के एक आकाश-प्रदेश से पास वाले आकाश-प्रदेश तक गति करने में लगता है। समय कितनी सूक्ष्म इकाई है यह इसी से प्रकट है कि काल की समय से अगली बड़ी इकाई निमिष है जो समय से असंख्य गुणा बड़ी है। जैन-पदार्थ विज्ञान के अनुसार काल को दो प्रकार से विभाजित किया गया है - १. भूत, वर्तमान व भविष्य; तथा २. संख्यात-काल जिसे नापा जा सके, असंख्यात-काल जिसे नापा तो न जा सके किंतु फिर भी वह ससीम हो तथा अनंत काल जिसकी कोई सीमा न हो। संख्यात-काल को समय, निमिष, काष्ठ, कला, घटी, मुहुर्त, अहोरात्र, पक्ष, मास, वर्ष से पूर्व-कोटि पर्यन्त नापा जाता है। असंख्यात-काल को पत्योपम, सागरोपम आदि अमाप्य इकाइयों में व्यक्त किया जाता है। यद्यपि काल-गणना का विस्तृत विवेचन ग्यारहवें अध्याय में किया गया है, गणना के योग्य काल का एक प्रतिनिधि माप निम्नानुसार है-

संख्यात काल -

समय	-	सूक्ष्मतम काल-खण्ड
निमिष	-	असंख्य समय तुल्य,
काष्ठ	-	१५ निमिष तुल्य,
कला	-	२० काष्ठ तुल्य,
घटी या नाड़ी	-	२० कला (लगभग २४ मिनट) तुल्य,
मुहुर्त	-	२ घटि तुल्य (लगभग ४८ मिनट),
अहोरात्र	-	३० मुहुर्त तुल्य (२४ घंटे या एक दिन-रात),
पक्ष	-	१५ अहोरात्र (चंद्रमास की प्रथमा से अमा या पूर्णिमा तक का काल),
मास	-	२ पक्ष,
ऋतु	-	२ मास,
अयन	-	३ ऋतु,
वर्ष	-	१ अयन,

६८ : जैन-धर्म : जीवन-धर्म

पूर्व-वर्ष	-	७०५६X१० ^{१०} वर्ष
पूर्वकोटि वर्ष	-	१० ^९ पूर्व-वर्ष,

पंचास्तिकाय -

उपरोक्त छः - एक सजीव व पाँच अजीव - पदार्थों में पाँच (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश) ऐसे हैं जो अपने विद्यमानता के गुण के अतिरिक्त अपने परमाणुओं के संयुक्त होने से स्कंध निर्माण का गुण भी रखते हैं। इनके उन साझा गुणों के कारण उन्हें एक विशेष वर्ग में रखा गया है जिसे अस्तिकाय कहते हैं। 'अस्ति' का अर्थ है होना तथा 'काय' का अर्थ है शरीर या स्कंध अतः जिन पाँच पदार्थों में ये दोनों गुण हैं वे ही अस्तिकाय कहे गए हैं। काल-द्रव्य में विद्यमानता का गुण तो है किंतु उसके परमाणु संयुक्त होकर स्कंध का निर्माण नहीं करते हैं, वे किसी रत्न-राशि में सम्मिलित रत्नों के समान अलग-अलग ही रहते हैं अतः उसे अस्तिकाय नहीं कहा गया है। अलग-अलग व्यष्टि के रूप में उन्हें जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय तथा आकाशास्तिकाय कहा जाता है। एक साथ समष्टि के रूप में वे पंचास्तिकाय कहलाते हैं।

३. पुण्य-तत्त्व -

पुण्य से तात्पर्य ऐसे शुभ-कार्यों से है जिनका प्रतिफल या फल-विपाक कर्ता के लिये सुखद हो। पुण्य की यह परिभाषा कर्म (action) तथा उसके सुखद या दुःखद फल-विपाक के सिद्धान्त पर आधारित है। यह इस सिद्धान्त पर आधारित है कि जो भी कार्य किया जाता है उसका कुछ न कुछ सुनिश्चित प्रतिफल कर्ता को अवश्य मिलता है। प्रतिफल का सुखद या दुःखद होना कार्य की गुणवत्ता पर निर्भर करता है। अच्छे (पुण्य) या शुभ-कार्य से शुभ कर्म-पुद्गल परमाणुओं को आत्मा की ओर आकर्षित होते हैं तथा समुचित भाव-श्रृंखला का संबल पाकर उसके साथ संबद्ध होते हैं जो अबाधा काल समाप्त होने पर (समय आने

पर) उदय में आकर निश्चित रूप से सुखद विपाक देते हैं। इस प्रकार पुण्य-तत्त्व को आस्रव व बंध तत्त्वों से अलग करके नहीं देखा जा सकता है। वास्तव में यह तत्त्व इन दो तत्त्वों में समाविष्ट ही माना जा सकता है। वाचक उमास्वाति ने तो इसे ऐसा ही मान कर तत्त्वार्थसूत्र में सात तत्त्वों का ही समावेश किया है।

शुभ-कर्म (कार्य) जिन्हें पुण्यास्रव का कारणभूत माना गया है वे हैं - प्रशस्त राग (देव, गुरु व धर्म के प्रति ऐसा प्रशंसनीय अनुराग जो व्यक्ति को सदैव अच्छे पुण्यकारी कार्यों की ओर प्रेरित करता है), अनुकंपा या परदुःख कातरता का भाव, सुपात्र-दान जिसमें योग्य भिक्षुओं को भोजन, वस्त्र, पात्र, निवास आदि का दान दिया जाता है, दूसरों के प्रति सद्भावना रखना दुःखियों को सांत्वना देना, वृद्ध-जनों व गुरु-जनों की सेवा, जरूरतमंदों की सहायता, गुणियों के प्रति आदरभाव व उन्हें वंदन आदि द्वारा अभ्यर्थित करना, आदि।

पूर्वबद्ध कर्मों के फल-विपाक को प्राप्त करते समय हमारे द्वारा किये जाने वाले कार्य-कलापों से होने वाले आस्रव व बंध के संदर्भ में पुण्य दो प्रकार के हैं - १. पुण्यानुबंधी-पुण्य जिसमें पूर्वबद्ध पुण्य-कर्म के सुखद विपाक को भोगते हुवे व्यक्ति और अधिक पुण्य का बंध करता है। ऐसे पुण्य के उदाहरण स्वरूप हम ऐसे व्यक्ति को ले सकते हैं जो पूर्वबद्ध पुण्य के फलस्वरूप प्राप्त धन-राशि का उपयोग दानादि में करके और पुण्यार्जन करता है। २. पापानुबंधी-पुण्य या ऐसा पुण्य जिसके फल-विपाक को प्राप्त करते हुवे व्यक्ति पाप-कर्मों का बंध करता है। उदाहरण के लिये यदि कोई व्यक्ति पूर्वबद्ध पुण्य के फलस्वरूप प्राप्त धनराशि का उपयोग जुवा, मद्यपान आदि व्यसनो में करता है तो वह पापानुबंधी-पुण्य का सेवन ही करता है।

शुभ-कार्यों के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले सुखद विपाकों की सूचि तो बहुत लंबी है, किंतु उसमें से कुछ खास सुखद अनुभव निम्नानुसार हैं:-

१. सुखद अनुभूतियाँ,

२. उच्च प्रतिष्ठा,

३. मनुष्य-भव में पुनर्जन्म,	४. देव-भव में पुनर्जन्म,
५. उत्तम.व स्वस्थ शरीर,	६. प्रसिद्धि,
७. तीर्थंकर के रूप में जन्म, आदि	

यहाँ यह समझ लेना अत्यावश्यक है कि पुण्योपार्जन शुभ फलदायी होते हुवे भी सर्वथा उपादेय नहीं है। यह एक साथ ही ग्राह्य व अग्राह्य दोनों है। इसके सुख-विपाक के कारण सांसारिक दृष्टि से यह ग्राह्य है वहीं बंधकारक होने से आध्यात्मिक दृष्टि से अग्राह्य है। पुण्यास्रव व पुण्यबंध भी संसार से मुक्ति के मार्ग में उतना ही बड़ा अवरोध है जितना कि पाप-बंध। अंतर केवल इतना है कि एक स्वर्ण-बंधन है तो दूसरा लोह-बंधन; बंधन तो दोनों ही हैं तथा कोई एक आत्मा को उतना ही बांधता है जितना कि दूसरा।

४. पाप-तत्त्व -

पुण्य के विपरीत पाप ऐसे कार्य को कहा जायगा जिसका फल-विपाक दुःखद हो। पाप की यह परिभाषा भी कर्म (action) तथा उसके सुखद या दुःखद फल-विपाक के सिद्धान्त पर आधारित है। यह भी इस सिद्धान्त पर आधारित है कि जो भी कार्य किया जाता है कर्ता को उसका कुछ न कुछ सुनिश्चित प्रतिफल अवश्य मिलता है। प्रतिफल का सुखद या दुःखद होना कार्य की गुणवत्ता पर निर्भर करता है। बुरे (पाप) कार्य ऐसे कर्म-पुद्गल परमाणुओं को आत्मा की ओर आकर्षित करके उसके साथ संबद्ध करते हैं जो दुःख-विपाक के कारण होते हैं। तथा समुचित भाव-श्रृंखला का संबल पाकर उसके साथ संबद्ध होते हैं जो अबाधा काल समाप्त होने पर (समय आने पर) उदय में आकर निश्चित रूप से दुःखद विपाक देते हैं। इस प्रकार पाप-तत्त्व को भी आस्रव व बंध तत्त्वों से अलग करके नहीं देखा जा सकता है। वास्तव में यह तत्त्व इन दो तत्त्वों में समाविष्ट ही माना जा सकता है। वाचक उमास्वाति ने तो इसे भी ऐसा ही मान कर तत्त्वार्थसूत्र में सात तत्त्वों का ही समावेश किया है।

पंचास्तिकाय नामक ग्रंथ में कुंदकुंदाचार्य ने पाप की परिभाषा करते हुवे कहा है कि 'ऐसे कार्य जो मुख्यतया प्रमादाश्रित हों, दुष्ट परिणामजन्य हों, भोगासक्ति से प्रादुर्भूत हों तथा परदुःखकारी हों पाप-कर्म हैं।' हिंसक कार्य, असत्य भाषण, चोरी, व्यभिचार, पापक कार्य-कलापों में अपरिमित परिग्रह, असीमित भोग-विलास, मिथ्या दोषारोपण, चुगलखोरी, ईर्ष्या-द्वेष, मिथ्यात्व, भोगोपभोग व पाप-कर्मों के साधनों के प्रति अत्यंत गृद्धिभाव, अनुदार वृत्ति, दयालुता का अभाव व निर्दयता की भावना का होना, दूसरों का बुरा सोचना, दूसरों को दुःख देना आदि पापास्रव व बंध के कारण है।

पूर्वबद्ध कर्मों के फल-विपाक को प्राप्त करते समय हमारे द्वारा किये जाने वाले कार्य-कलापों से होने वाले आस्रव व बंध के संदर्भ में पाप दो प्रकार के हैं - १. पुण्यानुबंधी-पाप जिसमें पूर्वबद्ध पाप-कर्म के दुःखद विपाक को भोगते हुवे भी व्यक्ति पुण्य का बंध कर लेता है। ऐसे पाप के उदाहरण स्वरूप हम ऐसे व्यक्ति को ले सकते हैं जो पूर्वबद्ध पाप के फलस्वरूप प्राप्त कष्टों को समभाव से यह सोचते हुवे चुपचाप सहन कर लेता है कि ये दुःख तो मेरे द्वारा ही पूर्व में किये गए कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त हो रहे हैं, इसमें तो मेरा ही दोष है अन्य किसी का नहीं। ऐसा सोचते हुवे वह अपने कष्टों की चिंता किये बिना दूसरों के दुःख दूर करता है, दूसरों की सहायता करता है। ऐसा व्यक्ति निश्चित रूप पुण्यानुबंधी-पाप वाला होता है। २. इसके विपरीत पापानुबंधी-पाप ऐसा पाप है जिसके फल-विपाक को प्राप्त करते हुवे व्यक्ति और अधिक पाप-कर्मों का बंध करता है। उदाहरण के लिये यदि कोई व्यक्ति पूर्वबद्ध पाप के फलस्वरूप प्राप्त कष्टों को भोगते हुवे आर्तध्यान-रौद्रध्यान करता है, रोता-चिल्लाता है, दूसरों को भी दंख पहुँचाता है तो वह पापानुबंधी-पाप का ही सेवन करता है।

अशुभ पापक-कार्यों के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले दुःखद विपाकों की सूची भी बहुत लंबी है, किंतु उसमें से कुछ प्रमुख हैं निम्न कर्मों का बंधः -

१. ज्ञानावरणीय कर्म,

२. दर्शनावरणीय कर्म,

३. मोहनीय कर्म,	४. अंतराय कर्म,
५. अशुभ नाम-कर्म,	६. नीच गोत्र-कर्म,
७. अशातावेदनीय कर्म,	८. नीच-गति आयु कर्म

यहाँ भी यह समझ लेना अत्यावश्यक है कि पापोपार्जन तो सर्वथा उपादेय नहीं ही है। प्रथमतः तो अशुभ फलदायी होने के कारण यह सांसारिक दृष्टि से अग्राह्य है तथा दूसरे बंधकारक होने से आध्यात्मिक दृष्टि से भी अग्राह्य है। पापास्रव व पापबंध संसार से मुक्ति के मार्ग में एक बड़ा अवरोध है जो आत्मा को संसार में ही बंधनों में झकड़ कर रखता है। अतः हमें चाहिये कि हम पापाचार से विरत हों चाहे वे करते समय कितने ही सुहावने क्यों न लगे क्योंकि अंततोगत्वा तो वे दुःखदायी ही होते हैं।

५. आस्रव-तत्त्व -

जीवों के सभी प्रकार के कार्य-कलाप चाहे वे मानसिक हों, चाहे वाचिक या कायिक, ऐसे स्पंदनों को पैदा करते हैं जो कर्म-द्रव्य को उनकी आत्मा की ओर आकर्षित करते हैं। यह कर्म-द्रव्य का आत्मा की ओर आकर्षित होकर आत्म-क्षेत्र में प्रविष्ट होना ही आस्रव कहलाता है।

कर्मास्रव के कारणों के बारे में तीन विचारधाराएँ प्रतिपादित हुई हैं। वे इस प्रकार हैं -

- क. पहली विचारधारा के अनुसार कर्मास्रव कषाय व योग (मन, वचन व काया) की क्रियाओं के कारण होता है।
- ख. - दूसरी विचारधारा का निष्कर्ष है कि कर्मास्रव के कारण केवल कषाय व योग-क्रियाएँ ही नहीं अपितु मिथ्यात्व व अविरति (हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म व परिग्रह से विरत न होना) भी हैं।
- ग. तीसरी मान्यता है कि आस्रव-कारण पाँच हैं - मिथ्यात्व,

अविरति, प्रमाद, कषाय व योग (की क्रियाएँ)।

प्रकृति के अनुसार कर्मास्रव दो प्रकार का होता है। यथा -

- क. पुण्यास्रव - पुण्यास्रव का अर्थ है शुभ-फल-दायक कर्म-पुद्गल परमाणुओं का आत्म-क्षेत्र की ओर आकर्षित होना तथा उसमें प्रविष्ट होना। जीव के मन-वचन व काया की शुभ क्रियाओं के कारण शुभ कर्म-पुद्गलों का आस्रव होता है। देव, गुरु, धर्म व साधर्मिकों के प्रति प्रशस्त राग, दयालुता का भाव, व अप्रशस्त-अशुभ विचारों का अभाव आदि वे गुण हैं जो पुण्यास्रव में सहायक होते हैं।
- ख. पापास्रव - पापास्रव का अर्थ है अशुभ-फल-दायक कर्म-पुद्गल परमाणुओं का आत्म-क्षेत्र की ओर आकर्षित होना तथा उसमें प्रविष्ट होना। जीव के मन-वचन व काया की अशुभ क्रियाओं के कारण अशुभ कर्म-पुद्गलों का आस्रव होता है। प्रमादपूर्ण कार्य-कलाप, दूसरों के प्रति शत्रुता व उनका बुरा करने के भाव, अविवेक, अविरति, असंयम, भोग-विलास के प्रति गृद्धि-भाव आदि वे दुर्गुण हैं जो पापास्रव को आत्मा में आमंत्रित करते हैं।

आस्रव के स्तर के अनुसार भी यह दो प्रकार का होता है। यथा -

- क. द्रव्यास्रव - मन, वचन व काया की विभिन्न प्रकार की क्रियाओं द्वारा शुभ या अशुभ कर्म-पुद्गल-वर्णना के परमाणुओं का द्रव्य रूप में आत्म-प्रदेशों में प्रविष्ट हो जाना द्रव्यास्रव है।
- ख. भावास्रव - शुभ व अशुभ मनोभावों के कारण शुभाशुभ कर्म-पुद्गलों का आत्म-प्रदेशों की ओर आकर्षित होना भावास्रव कहलाता है।

कर्मास्रव के आत्मा के साथ संयुक्त हो जाने या बंध जाने की योग्यता अथवा इसके अभाव (अर्थात् आस्रव बंध में परिवर्तित हो सकेगा अथवा नहीं) के अनुसार भी कर्मास्रव दो प्रकार का ही होता है। यथा -

क. इर्यापथिक आस्रव - जब योग (मन, वचन व काया) के क्रिया-कलाप स्वभावतः बिना किसी प्रकार के कषायों के, बिना किसी प्रकार की इच्छा के तथा बिना किसी प्रकार की आसक्ति के स्वतः संचालित होते हैं, तो इन क्रियाओं के द्वारा जो कर्म-पुद्गल-परमाणु आत्मा की ओर आकर्षित होते हैं अथवा उसके प्रदेशों में प्रविष्ट भी हो जाते हैं वे उसके साथ आबद्ध नहीं हो पाते हैं अपितु तुरंत ही, अगले ही समय में आत्म प्रदेशों से झड़ जाते हैं। ऐसा आस्रव इर्यापथिक आस्रव कहलाता है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी इस प्रकार के कर्म को अनासक्त कर्म की संज्ञा दी गई है। इस प्रकार के कर्मास्रव को हम एक उदाहरण के माध्यम से सरलता पूर्वक समझ सकते हैं। यदि शुष्क रज-कणों (सूखी रेत) को सूखी व चिकनी दीवार पर फेंका जाए तो वह उस पर नहीं चिपक सकेगी अपितु तुरंत ही भूमि पर गिर पड़ेगी। रेत का दीवार की ओर जाना तथा उसके संपर्क में आने की तुलना कर्मास्रव से की जा सकती है किंतु किसी चिकनाई के अभाव में उसके दीवार से न चिपक पाने की तुलना हम आस्रवित कर्म-पुद्गलों के कषाय, प्रमाद, इच्छा, व आसक्ति के अभाव में आत्मा के साथ आबद्ध हो सकने के गुण के अभाव के साथ कर सकते हैं क्योंकि ये ही वे गौद हैं जिनसे कर्म-पुद्गल आत्मा के साथ चिपकते हैं।

ख. सांपरायिक आस्रव - दूसरी ओर जब योग (मन, वचन व काया) की विभिन्न क्रियाएँ कषाय, इच्छा व आसक्ति के सद्भाव में संचालित होती हैं उनके द्वारा आकर्षित व

आत्म-प्रदेशों में प्रविष्ट कर्म-पुद्गल-परमाणु आत्मा के साथ आबद्ध हो जाते हैं। यही सांपरायिक आस्रव है। पिछले अनुच्छेद में दिये गए उदाहरण में ही यदि रेत को गीली, चिकनी व खुरदुरी दीवार पर फेंका जाता तो निश्चित ही वह रेत उस दीवार पर चिपक जाती। इसी प्रकार आत्मा पर यदि कषाय, कामना व आसक्ति का गोंद लगा हो तो आस्रवित कर्म-द्रव्य उसके साथ आबद्ध हो जाता है।

- अब कर्मास्रव-कारणों पर भी कुछ चर्चा कर लेना उचित होगा -
१. मिथ्यात्व - मिथ्यात्व या गलत धारणाएँ व्यक्ति या जीव की दृष्टि को विकृत कर देती हैं। वह वस्तुओं व विचारों को उनके सही परिप्रेक्ष्य में नहीं देख पाता है तथा वह पापाचार में लिप्त भी होता है तो उसे पुण्य समझ कर। उदाहरण के लिये वे पुरोहित या व्यक्ति जो धर्म-कार्यों में पशु-बलि देते हैं वे इस प्रकार के जघन्य कार्यों को भी पुण्य समझ कर ही करते हैं। लेकिन प्रकृति का नियम-कानून तो अपना कार्य करेगा ही तथा उसके अनजाने ही उसकी आत्मा में भीषण पाप-कर्मास्रव हो जाता है। ऐसा व्यक्ति तो अपनी जो हानि कर रहा है उसका भान भी उसे नहीं होता है। ऐसे में उसके पाप-कर्म से विरत होने की संभावनाएँ भी अत्यंत क्षीण होती हैं। अतः मिथ्यात्व पाप-कर्मास्रव का अत्यंत शक्तिशाली कारण है।
२. अविरति - जब कोई व्यक्ति या जीव किसी कार्य में संलग्न होता है तो उन कार्यों से उत्पन्न आत्म-स्पंदनों के द्वारा कर्मास्रव होता है। यदि क्रिया-कलाप शुभ हों तो पुण्यास्रव होता है अथवा पापास्रव होता है। यद्यपि अविरति का विश्लेषण प्रधानतया हिंसा, अलीक (असत्य), चौर्य, अब्रह्म, अपरिमित परिग्रह व असीमित भोगोपभोग आदि पापक कर्मों के संदर्भ में ही किया जाता है, शुभ-कार्य भी आत्म बंधक होने से त्याज्य ही हैं।
३. प्रमाद - जब व्यक्ति या जीव स्वधर्म से जी चुराता है तथा जो भी

करता है उसमें मद, विषय-वासना, कषाय, निद्रा, आलस्य व विकथा (भोजन, राज्य, देश व काम कथा) से प्रभावित होकर विवेक पूर्वक कार्य नहीं करता है तो उसे प्रमत्त (प्रमादाचरण में रत) कहा जाता है। कहना नहीं होगा कि इन सब कारणों से वह (अशुभ) कर्मास्रव का शिकार होता है।

४. कषाय - जब कोई व्यक्ति या जीव क्रोध, मान, माया व लोभ रूपी कषायों के मकड़जाल में फँसा हुआ होता है, तो उसके कार्य-कलाप हिंसक, असत्य, मायावी व अनुदार होते हैं तथा वह निश्चित ही अशुभ-कर्मास्रव करता है।
१. योग - योग (मन, वचन व काया) के क्रिया-कलाप आत्म-प्रदेशों को स्पंदित करके कर्म-पुद्गल-परमाणुओं को उनकी ओर आकर्षित करते हैं तथा कर्मास्रव के द्वार खोलते हैं।

‘आस्रव-तत्त्व’ पर इस चर्चा का समापन हम कर्मास्रव के निम्नांकित बयालीस कारणों के उल्लेख के साथ कर सकते हैं: -

- १-५. पाँच इन्द्रियों - स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरेन्द्रिय व कर्णेन्द्रिय;
- ६-८. चार कषाय - क्रोध, मान, माया व लोभ;
- १०-१४. पाँच प्रकार की अविरति - हिंसा, अलीक, चौर्य, अब्रह्म व परिग्रह से;
- १५-१७. मन, वचन व काया की तीन योग-क्रियाएँ;
- १८-४२. शारीरिक, ईर्ष्या-जन्य, हिंसक, गृद्धि भाव से, असंयमित, मिथ्यात्व के प्रभाव में, मायाचार से, हिंसोपकरण प्रदान से, स्वयं द्वारा किये हुवे, अन्यो द्वारा कारित, अन्यो द्वारा किये हुवे की अनुमोदना, सामाजिक कार्यों, आदि पच्चीस क्रियाओं द्वारा।

६. बंध-तत्त्व -

आस्रव-तत्त्व की चर्चा करते हुवे हमने उल्लेख किया था कि

कर्मबंध के लिये मोह, राग-द्वेष, कषाय, कामना व आसक्ति आदि समुचित बंधक माध्यम मिलने पर आस्रवित कर्म-पुद्गल-परमाणु आत्मा के साथ आबद्ध हो जाता है। इसे ही कर्म-बंध कहते हैं तथा यह कर्मबंधक माध्यमों के बंधक गुण के कारण होता है। आत्मा के साथ आबद्ध कर्म-पुद्गल-परमाणु उसे अशुद्ध या कर्म-मल से मलिन व भारी करते हैं तथा उसे संसार में रहने के लिये बाध्य करते हैं। इसे हम आत्मा की अशुद्ध पर्याय भी कह सकते हैं। जब सम्यक्चारित्र के पालन से व तपश्चर्या से कर्म-पुद्गल-परमाणु आत्मा से पूर्णतया अलग कर दिये जाते हैं तो वह शुद्ध, निर्मल व हल्की हो जाती है तथा ऊपर उठ कर ऊर्ध्व गति से सदा सर्वदा के लिये लोकान्त में स्थित सिद्ध-शिला पर निवास करने के लिये गमन करती है। वह आत्मा की शुद्ध पर्याय कहलाती है। कर्मास्रव व कर्म-बंध का संबंध आत्मा की अशुद्ध पर्याय से है, तथा संवर व निर्जरा से आत्मा शुद्ध पर्याय को प्राप्त करती है।

यहाँ प्रश्न यह पैदा होता है कि आत्मा कब से कर्म-पुद्गल-परमाणुओं के बंधन में है? द्वितीय अध्याय में हमने कहा था कि आत्मा व कर्म-पुद्गल-परमाणुओं का अनादि संबंध जैन-धर्म का एक ध्रुव-सत्य है जिस पर कोई प्रश्नवाचक चिन्ह नहीं लगाया जा सकता। सभी संसारी प्राणियों पर कर्म-पुद्गल-परमाणुओं का प्रारंभिक भार होता है जिसे वे अपनी क्रियाओं तथा भावों की गुणवत्ता के आधार पर घटाते या बढ़ाते रहते हैं।

कर्म-बंध के कारण -

कर्म-बंध के व कर्मास्रव के कारण समान हैं। अंतर केवल मोह, राग-द्वेष, कषाय, कामना व आसक्ति आदि कर्मबंधक माध्यमों की उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति का है जिसकी वजह से आस्रवित कर्म-पुद्गल-परमाणु या तो आत्मा के साथ आबद्ध हो जाते हैं अथवा खिर जाते हैं। प्रथम स्थिति में कर्म-बंध हो जाता है तथा दूसरी स्थिति में वह नहीं होता है।

भाव व द्रव्य बंध -

वह सूक्ष्म भाव-कर्म के बंध की स्थिति जो जीव के राग, द्वेष, मोह आदि भावों के कारण बनती है भाव-बंध कहलाती है। इसमें कर्म-पुद्गल-परमाणुओं का वास्तविक द्रव्य रूप में आत्मा के साथ बंध नहीं होता है केवल बंध की संभावना बनती है।

इसके विपरीत कषाय सहित योग की क्रियाओं द्वारा कर्म-पुद्गल-परमाणुओं का वास्तविक द्रव्य रूप में आत्म-प्रदेशों के साथ संयुक्त हो जाना द्रव्य-बंध कहा जाता है।

चार प्रकार के कर्म-बंध -

जिस प्रकार भोजन पचने पर शरीर में अलग-अलग मात्रा में रक्त, मांस, अस्थि, मज्जा आदि में परिवर्तित हो जाता है व शरीर को शक्ति व ऊर्जा प्रदान करता है तथा प्रत्येक प्रकार के भोजन का शरीर में बने रहने का समय भी भिन्न-भिन्न होता है, उसी प्रकार हमारे विभिन्न प्रकार के क्रिया-कलापों से तथा उन-उन क्रियाओं को करते समय हमारे मनोभावों की तरतमता के अनुसार कर्म-पुद्गल-परमाणु भी आत्मा के साथ संयुक्त होते समय ही आत्म-प्रदेशों के साथ विभिन्न प्रकार के परिणाम देने वाले कर्मों के रूप में, विभिन्न काल-खण्डों तक आत्मा के साथ आबद्ध रहने वाले, विभिन्न प्रकार की तीव्रता वाले व विभिन्न मात्राओं में संयुक्त होते हैं। कर्म विज्ञान की भाषा में इन्हें क्रमशः १. प्रकृति-बंध, २, स्थिति-बंध, ३. अनुभाग-बंध व ४. प्रदेश-बंध कहा जाता है। इनका संक्षिप्त विवरण निम्नानुसार है: -

क. प्रकृति-बंध - कर्म-बंध के समय योग (मन, वचन, काया) की क्रियाओं तथा मनोभावों के अनुसार कर्म-पुद्गल-परमाणु अंततः, उदय में आने पर, विशिष्ट प्रकार के फल देने वाले, अलग-अलग प्रकृति के कर्मों में परिवर्तित हो जाते हैं। जैन-कर्म-सिद्धान्त के अनुसार ये कर्म निम्न आठ प्रकार की कर्म-प्रकृतियों में से

एकाधिक प्रकार में परिवर्तित होते हैं: -

१. सम्यग्ज्ञान को आवृत्त करने वाला ज्ञानावरणीय-कर्म,
२. सम्यग्दर्शन को आवृत्त करने वाला दर्शनावरणीय-कर्म,
३. अनुभव करने की क्षमता देने वाला वेदनीय-कर्म,
४. मोहाविष्ट करने वाला मोहनीय-कर्म,
५. किसी जन्म विशेष में आयुष्य निर्धारित करने वाला आयु-कर्म,
६. किसी जन्म विशेष में शरीर निर्धारित करने वाला नाम-कर्म,
७. किसी जन्म विशेष में स्व-समाज में जीव की स्थिति निर्धारित करने वाला गोत्र-कर्म, व
८. किसी जन्म विशेष में सम्यक् प्रकार से जीवन-यापन में बाधा उत्पन्न करने वाला अंतराय-कर्म,

ख. स्थिति-बंध - आत्मा के साथ आबद्ध इन आठ प्रकार के कर्मों में से प्रत्येक समयावधि विशेष के लिये ही आत्मा के साथ आबद्ध रहते हैं तथा अंततोगत्वा फल देकर आत्म-प्रदेशों से अलग हो जाते हैं। बंध से लगाकर निर्जरा तक की समयावधि उस कर्म-बंध की स्थिति कहलाती है।

ग. अनुभाग-बंध - किसी कर्म-बंध की फल देने की तीव्रता का निर्धारण उसके अनुभाग-बंध द्वारा होता है। यह स्वाभाविक ही है कि किसी कर्म-बंध की तीव्रता का निर्धारण उस कर्म-बंध को बांधते समय कषायों की तीव्रता पर आधारित होता है।

ग. प्रदेश-बंध - किसी कर्म-बंध के समय विभिन्न प्रकार के कर्म-पुद्गलों की जितनी मात्रा आत्मा के साथ आबद्ध होती है वह प्रदेश-बंध कहलाती है। इस प्रदेश-बंध पर ही किसी कर्म-बंध द्वारा उदय में आने पर विपाक में मिलने वाले सुख-या दुःख की मात्रा निर्भर करती है। यहाँ पर कर्म-बंध की मात्रा (प्रदेश) व उसकी तीव्रता (अनुभाग) का अंतर भली-भाँति समझ लेना चाहिये। अत्यंत उग्रता से कठिन व तीव्र विपाक देने वाले कर्म की मात्रा भी

अधिक हो यह आवश्यक नहीं है। तीव्रता का सीधा संबंध कर्म-बंधन के समय कषायों की तीव्रता से है जब कि मात्रा का संबंध उस बंधन के निमित्त की गई क्रिया की मात्रा से है। कम तीव्रता से भी लगातार किये गए कार्य से क्षणिक आवेश में कम समय के लिये की गई क्रिया की अपेक्षा कर्मों की अधिक मात्रा का बंध हो जाता है।

कर्म विषयक विस्तृत चर्चा तो हम कर्म-सिद्धान्त नामक सप्तम अध्याय में करेंगे ही किंतु यहाँ इस बात का उल्लेख करना प्रसंगिक एवं आवश्यक है कि आत्मा के साथ आबद्ध कर्म-पुद्गल दो प्रकार से उससे अलग हो सकते हैं - १. उदय में आने पर फल-विपाक देकर तथा २. तपस्या द्वारा समुचित प्रायश्चित्त कर लेने पर। फिर भी कुछ प्रकार के कर्म-बंध ऐसे होते हैं जो किसी भी प्रकार की तपस्या या प्रायश्चित्त द्वारा आत्मा से अलग नहीं किये जा सकते हैं, उन्हें तो भोगना ही पड़ता है। ऐसे कर्मों को निकाचित कर्म कहते हैं।

कर्म-बंध का एक और आयाम यह है कि कर्म बांधते समय तो जीव स्वाधीन होता है अर्थात् वह चाहे तो कर्म-बंधक क्रिया करे अथवा न करे किंतु एक बार कर्म-बंधन हो जाने पर उसके फल-विपाक को प्राप्त करने में जीव परवश होता है। अतः फल भुगतते समय पछताने की अपेक्षा कर्म (कार्य, क्रिया) करते समय सावधान रहना ज्यादा अच्छा है।

७. संवर-तत्त्व -

संवर का अर्थ है कर्म-पुद्गल-परमाणुओं को आत्म-प्रदेशों की ओर आकर्षित होकर उसमें प्रवेश करने से रोकना। अतः संवर का अर्थ है 'आस्रव-निरोध'। संवर की इस परिभाषा से यह स्पष्ट हो जाता है कि संवर आस्रव के विपरीत है तथा इसके उपाय भी आस्रव-कारणों से विपरीत ही होंगे। संवर कर्म-पुद्गल-परमाणुओं को आत्म-प्रदेशों की ओर आकर्षित

होकर उसमें प्रवेश करने से रोकता है अतः कर्म-बंध की संभावना को ही समाप्त कर देता है। परोक्ष रूप से वह साधक को आगे होने वाले कर्म-बंधनों से मुक्त कर कर्म-निर्जरा द्वारा आत्म-शुद्धि पर ध्यान केन्द्रित करने के लिये स्वतंत्र कर देता है तथा उसक लिये सांसारिक बंधनों को पीछे छोड़ कर मोक्ष-मार्ग पर निर्बाध रूप से आगे बढ़ने का मार्ग प्रशस्त करता है।

इसे हम एक उदाहरण के माध्यम से समझ सकते हैं - एक ऐसी नाव जिसमें छिद्र हो गया है तथा पानी रिस कर अंदर आ रहा है को यदि डूबने से बचाना हो तो सबसे पहले तो उसका छिद्र बंद करना होगा तथा फिर उसमें एकत्रित जल को उलीच कर निकालना होगा। यदि नाव को हम संसारी प्राणी मान लें और पानी को कर्म-द्रव्य तो नाव का तैरना ही मुक्ति है तब उसका डूबना ही संसार-परिभ्रमण। नाव का छिद्र बंद करने की तुलना हम संवर से कर सकते हैं जिसकी वजह से कर्म रूपी जल का नाव रूपी आत्मा में आना रुक जाता है। नाव में से एकत्रित जल को उलीचने की तुलना पूर्व-बद्ध कर्म-द्रव्य की निर्जरा से की जा सकती है। ज्ञातव्य है कि जब तक नाव के छिद्र को प्रभावी रूप से बंद नहीं किया जाय कितना भी उलीचना नाव को पानी से मुक्त नहीं कर सकता है। उसी प्रकार संवर के अभाव में तपस्या द्वारा कितनी भी निर्जरा आत्मा को सर्वथा कर्म-मुक्त नहीं कर सकती है। संवर के अभाव में निर्जरा भी प्रभावी नहीं हो सकती।

द्रव्य व भाव कर्म के संदर्भ में संवर भी दो प्रकार का होता है -

- क. भाव-संवर - ऐसे मनोभावों को प्रयत्न पूर्वक रोकना जिनसे भाव-कर्मास्रव की संभावना हो, भाव-संवर कहलाता है।
- ख. द्रव्य-संवर - ऐसे कार्य-कलापों में प्रवृत्त नहीं होना जिनसे द्रव्य-आस्रव हो सके।

संवर के उपाय -

संवर की आकांक्षा रखने वाले साधक को सर्व प्रथम यह स्मरण रखना चाहिये कि आस्रव का कारण असंयम होने से संवर की उपलब्धि संयम के द्वारा ही हो सकती है। क्योंकि संवर आस्रव का विलोम है अतः संवर के उपाय भी आस्रव के कारणों के विपरीत ही होंगे। निम्न तालिका से, जो कर्म-आस्रव-कारणों तथा संवर के उपायों की तुलना करती है, हम इस अंतर को स्पष्ट देख सकते हैं: -

कर्मास्रव के कारण	संवर के उपाय
१. मिथ्यात्व, २. असंयम, ३. प्रमाद, ४. कषाय, ५. अविवेकी योग, (मन, वचन, काया का अविवेक)	१. सम्यक्त्व, २. संयम, ३. अप्रमाद, ४. कषाय-जय, ५. विवेकी योग, (उनका विवेक)

इस चर्चा से हम उन संवर के बीस मध्यम उपायों व सत्तावन उत्कृष्ट उपायों पर आते हैं। कहना नहीं हागा कि ये जैन-आचार का ही एक भाग हैं जिनकी विस्तृत चर्चा हम आगे करेंगे। यहाँ तो केवल उनका नामोल्लेख ही पर्याप्त होगा। वे निम्नानुसार हैं: -

क. संवर के बीस उपाय -

(i-v) सम्यक्त्व, संयम, अप्रमाद, कषाय-जय व मन, वचन व काया का विवेक;

(vi-x) हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म व परिग्रह का त्याग;

(xi-xv) स्पर्शन्, रसन्, घ्राण, चक्षुर् व कर्ण इन पाँच इंद्रियों का निग्रह करना;

(xvi-xviii) मन, वचन व काया का गोपन; तथा

(xix-xx) उपधि व उपकरणों का विवेक पूर्वक उपयोग करना।

ख. संवर के सत्तावन उपाय -

- (i-iii) त्रिगुप्ति - मन, वचन और काया का संगोपन;
- (iv-viii) पंच-समिति - इर्या, भाषा, एषणा, आदान-भण्ड वस्त्र-पात्र निक्षेपणा व उत्सर्ग समिति;
- (ix-xviii) दश मुनि-धर्म - क्षमा, मार्दव, आर्जव, संतोष, सत्य, संयम, तप, त्याग, आर्किंचन्य व ब्रह्मचर्य;
- (xix-xxx) द्वादशानुप्रेक्षा - संसार की अनित्यता के बारे में चिंतन - अनित्यानुप्रेक्षा, संसार में संसारी जीव की कर्म-फल व मृत्यु के प्रति असहाय स्थिति के बारे में चिंतन - अशरणानुप्रेक्षा, संसार के दुःखों के बारे में संसारानुप्रेक्षा, कर्म-फल-विपाक प्राप्त करने में जीव के अकेले पन के बारे में तथा आत्मा की शरीर से भिन्नता के बारे में चिंतन - एकत्वानुप्रेक्षा, शरीर के मल-मूत्रादि अशुचिता के बारे में चिंतन - अशुचित्वानुप्रेक्षा, आस्रव-कारणों के बारे में चिंतन - आस्रवानुप्रेक्षा, संवर के उपायों के बारे में चिंतन - संवरानुप्रेक्षा, कर्म-निर्जरा के उपायों के बारे में चिंतन - निर्जरानुप्रेक्षा, लोक के स्वरूप के बारे में तथा लोक की विशालता के अनुपात में स्वयं की नगण्यता के बारे में चिंतन - लोकानुप्रेक्षा, बोध-प्राप्ति के मार्ग की कठिनाइयों व तथैव उसकी महत्ता के बारे में चिंतन - बोधि-दुर्लभानुप्रेक्षा, तथा जिन प्रतिपादित धर्म की आराधना-साधना के फलस्वरूप संसार-मुक्ति की सुनिश्चितता के बारे में चिंतन - धर्मानुप्रेक्षा;
- (xxxi-lii) मुनि जीवन के बावीस परीषह - क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंश-मशक, अचेल, अरति, स्त्री, चर्या, निषेधिका, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, जल्ल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान, व दर्शन परीषह; तथा

(liii-lvii) पौंच प्रकार के श्रमण-चारित्र - १. सामायिक-चारित्र जिसमें मुमुक्षु को जीवनपर्यंत के लिये सामायिक के प्रत्याख्यान करवा दिये जाते हैं। इसे छोटी दीक्षा भी कहते हैं। २. नव दीक्षित श्रमण या श्रमणी को पंच महाव्रतों को धारण कराया जाता है तथा उनके लिये दोषों के लिये 'दीक्षा-छेद व उपस्थापन' रूप दण्ड-विधान की जानकारी करवा कर उसे लागू भी किया जाता है। इसे छेदोपस्थापनीय चारित्र या बड़ी दीक्षा भी कहते हैं। ३. परिहारविशुद्धि-चारित्र जिसमें उग्र श्रमणाचार द्वारा विशेष आत्मविशुद्धि को प्राप्त किया जाता है। ४. सूक्ष्मसंपराय-चारित्र जिसे ऐसे उच्चगुणस्थानीय श्रमणों द्वारा पाला जाता है जिन्होंने सूक्ष्म-संपराय गुणस्थान को प्राप्त कर लिया हो। तथा ५. यथाख्यात-चारित्र जिसका पालन केवल वे ही कर सकते हैं जिनके कषाय क्षीण हो चुके हों।

संवर पर इस चर्चा को हम यह कह कर विराम देते हैं कि किसी भी साधक के लिये चरम लक्ष्य - मुक्ति के मार्ग में यह एक अहं मुकाम है। जब तक यह मुकाम हासिल नहीं कर लिया जाता कोई भी आध्यात्मिक विकास असंभव ही है।

८. निर्जरा-तत्त्व -

कर्म-निर्जरा का महत्व इसी बात में है कि जब तक आत्मा बद्ध कर्मों से निर्जीर्ण (अलग) नहीं हो जाता तब तक वह अपने चरम-लक्ष्य - संसार-मुक्ति से वंचित ही रहता है। निर्जरा की परिभाषा करते हुवे शास्त्रकार कहते हैं कि बद्ध कर्म-द्रव्य का आत्म-प्रदेश से एक अंश भी खिरना, एक अंश भी क्षय होना निर्जरा है। यह स्वाभाविक है कि जितने अंशों में कर्म-द्रव्य आत्मा से अलग होता है उतने ही अंशों में आत्मा शुद्ध

होती है। अतः कर्म-द्रव्य का एक देश भी खिरना आत्मा को एक देश शुद्ध करता है, आत्मा से कर्म-मल को उतना ही हटाकर एक देश निर्मल करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यह तत्त्व बंध-तत्त्व का विपरीतार्थक है। आस्रव द्वारा कर्म-पुद्गल-परमाणु आत्मा की ओर आकर्षित होकर आत्म-क्षेत्र में प्रवेश करते हैं, बंध द्वारा वह आत्मा के साथ आबद्ध हो जाता है। निर्जरा की प्रक्रिया द्वारा ही आत्मा शुद्ध और शुद्धतर होता जाता है तथा सदि संवर के उपाय कर लिये गए हैं तो एक समय ऐसा आता है जब कर्म-द्रव्य आत्मा से सर्वथा अलग हो जाते हैं तथा वह सर्व-शुद्ध आत्मा हो जाता है। जैसा कि हम जीव-तत्त्व के वर्णन में उल्लेख कर चुके हैं कि आत्मा की ऊपर उठने की स्वाभाविक गति होती है अतः जो आत्मा सर्व कर्मक्षय द्वारा सर्वशुद्ध हो चुका है वह तो ऊपर उठते हुवे सीधे लोकान्त में स्थित सिद्धशिला तक पहुँच जाता है जहाँतक केवल मुक्त आत्माएँ ही पहुँच सकती हैं। अध्याय के इस भाग में हम निर्जरा के उपायों व उसकी प्रक्रिया पर विचार करेंगे।

दो प्रकार की कर्म-निर्जरा -

आत्मा के साथ आबद्ध कर्म-द्रव्य दो प्रकार से क्षय होकर आत्म-प्रदेशों से निर्जीर्ण होता है -

9. कर्म-द्रव्य अपना विपाक देकर क्षय होता है तथा इस प्रकार आत्मा से अलग होता है। यह *सविपाक-निर्जरा* कहलाती है तथा यह उन्हीं कर्मों का क्षय करती है जो उदय में आकर फल दे रहे हों। इस प्रकार की कर्म-निर्जरा हर समय चलती रहती है। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि जो जीव कर्म-विपाक को प्राप्त करते समय शांतचित्त और समभाव से रहता है तथा न तो सुखद विपाक में मदमस्त हो जाता है तथा न ही दुःखद विपाक में रोता कलपता है, न ही आर्त या रौद्र ध्यान करता है वह एक कर्म-विपाक को भोगते समय नवीन कर्म-बंध नहीं करता है तथा उसकी उन कर्मों की वह कर्म-निर्जरा अंतिम होती है

अन्यथा किन्हीं कर्मों के फल-विपाक को भोगते समय जीव नवीन कर्म-बंध कर लेता है तथा यह सिलसिला तभी खत्म होता है जब वह समता व शांति को धारण कर लेता है। यह भी ज्ञातव्य है कि इस प्रकार की कर्म-निर्जरा अकाम-निर्जरा होती है तथा कब और कितनी निर्जरा हो इस पर जीव का कोई नियंत्रण नहीं होता।

२. कर्म-द्रव्य समुचित तप द्वारा प्रायश्चित्त पूर्वक क्षय किया जाकर आत्म-प्रदेशों से अलग किया जाता है। यह *अविपाक-निर्जरा* या *सकाम-निर्जरा* या तपस्या द्वारा बिना फल दिये होने वाली निर्जरा कहलाती है। सह उन्हीं कर्मों के लिये संभव है जो अभी तक उदय में नहीं आए हों। समय से पहले कर्मक्षय व निर्जरा की यह विधि उदीरणा कहलाती है। इस प्रकार की निर्जरा तभी संभव हाती है जब कि कोई जीव अपने कर्म-भार को कम करने के लिये प्रायश्चित्त स्वरूप समुचित तपश्चर्या करे। यही वह प्रक्रिया है जो जीव को आत्मोन्नति द्वारा आत्म-मुक्ति व संसार-मुक्ति का फल दे सकती है। यह प्रक्रिया साधक के स्व-नियंत्रण में होने के कारण कब और कितनी तपस्या करनी है इसका निर्णय भी साधक स्वयं ही करता है अतः अब हमें भी अपना ध्यान इसी प्रक्रिया पर केन्द्रित करना चाहिये। किंतु हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि कुछ (निकाचित) कर्म ऐसे होते हैं जिन्हें इस प्रक्रिया द्वारा क्षय नहीं किया जा सकता है तथा उनसे तो केवल उनका अवश्यंभावी फल-विपाक भोग कर ही निर्जीर्ण हुवा जा सकता है।

बारह प्रकार की अविपाक सकाम निर्जरा -

क्योंकि तपस्या ही सकाम-निर्जरा का एक मात्र साधन है, कई बार

तप व सकाम-निर्जरा को समानार्थक ले लिया जाता है। यहाँ हम बारह प्रकार के तप की चर्चा करेंगे जो कर्म-निर्जरा के कारणभूत होते हैं। वे निम्नानुसार हैं -

क. छः प्रकार के बाह्य तप -

- (i) अनशन,
- (ii) अवमौदर्य (उनोदरी),
- (iii) भिक्षाचर्या,
- (iv) रस-परित्याग,
- (v) काय-कलेश, तथा
- (vi) सल्लीनता.

ख. छः प्रकार के आंतरिक तप -

- (i) प्रायश्चित्त,
- (ii) विनय,
- (iii) वैयावृत्य,
- (iv) स्वाध्याय,
- (v) ध्यान, तथा
- (vi) व्युत्सर्ग.

तप के इन प्रकारों का विवरण हम दूसरे अध्याय में धर्म के तीसरे लक्षण - तप की समीक्षा करते हुवे दे चुके हैं। यहाँ हम ध्यान तप के बारे में कुछ और चर्चा करेंगे।

ध्यान तप का ग्यारहवाँ प्रकार है तथा वह आत्म-शोधन का तथैव आत्म-मुक्ति का एक अत्यंत महत्वपूर्ण साधन है। इसके आध्यात्मिक लाभ तो जो है वे निश्चित रूप से हैं ही किंतु उनसे इतर ध्यान को तनाव-मुक्ति का एक अति ही सशक्त साधन माना गया है जो कि इसे स्वस्थ जीवन जीने का साधन भी बनाता है। विभिन्न प्रकार के मानसिक तनावों तथा भौतिक आपाधापी के इस आधुनिक युग में ध्यान की महत्ता को कम करें

नहीं आँका जा सकता। यह तनाव कम करता है, ध्यान को केन्द्रित करता है, कार्य-कुशलता बढ़ाता है, तथा और भी अनेक लाभदायक प्रभाव डालता है।

ध्यान का सीधा संबंध चेतना से है तथा मस्तिष्क के अधिक केन्द्रीकरण से यह चेतना के दर्शन (सामान्य ज्ञान), ज्ञान (विशेष ज्ञान) व वेदन (अनुभूति) इन तीनों स्तरों को प्रभावित करता है।

ध्यान का समय अधिक श्रम से श्रान्त मन-मस्तिष्क व ज्ञानेन्द्रियों के लिये विश्राम का समय होता है। अतः वह भौतिकता के भार से आक्रान्त व्यक्ति के लिये राहत का साधन बन जाता है तथा मानसिक तनावों तथा थका देने वाले कार्यों से दूर लेजाने का मार्ग प्रशस्त करता है।

अतः हम पाते हैं कि तप का अर्थ केवल भूख व संताप ही नहीं है अपितु कर्म-क्षय व निर्जरा के साधन होने के अतिरिक्त यह सुखी व स्वस्थ जीवन जीने का साधन भी है। यह जीवन-शक्ति को सही दिशा में केन्द्रित करने का एक तरीका है।

६. मोक्ष-तत्त्व -

मोक्ष-तत्त्व जैन-दर्शन के नौ तत्त्वों में अंतिम तथा सबसे अधिक महत्वपूर्ण तत्त्व है। मोक्ष प्राणीमात्र के लिये अंतिम लक्ष्य है जो वह प्राप्त करना चाहता है किंतु बिरला ही प्राप्त कर पाता है। किसी भी संसारी आत्मा के लिये मोक्ष प्राप्ति की इच्छा करना स्वाभाविक है क्योंकि वही उसकी स्वाभाविक दशा है, सांसारिक कर्म-बंधनों से आबद्ध दशा तो उसकी अस्वाभाविक दशा ही है अतः भला कौन ऐसा अभागा जीव होगा जो अपनी अस्वाभाविक दशा से स्वाभाविक दशा में न आना चाहेगा? 'मोक्ष' की परिभाषा करते हुवे तत्त्वार्थसूत्रकार वाचक उमास्वाति कहते हैं, 'कर्म का

सर्वथा क्षय हो जाना ही मोक्ष है'।^७ जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, कर्म आठ प्रकार के होते हैं - उनमें से चार घातिया कर्म हैं जो आत्मा की शक्तियों को आवृत्त करके उनके प्रकटीकरण में बाधा उत्पन्न करते हैं तथा शेष चार अघातिया कर्म होते हैं जो आत्म-शक्तियों के प्रकटीकरण में तो बाधा नहीं बनते किंतु उनको पूर्ण रूप से भोगे बिना भी आत्मा संसार से पार या मुक्त हो कर सिद्ध दशा को प्राप्त नहीं कर सकती है।

चार घातिया कर्मों के आत्मा से निर्जीर्ण हो जाने के परिणामस्वरूप अनंत ज्ञान-दर्शन प्रकट होते हैं, आत्मा के समस्त आवरण व अवरोध समाप्त हो जाते हैं तथा वह छिन्नमोह, छिन्नांतराय होकर सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो जाती है एवं उसकी मुक्ति सुनिश्चित हो जाती है, अतः इसे भाव-निर्वाण भी कहा जाता है। जब आत्मा के शेष चार अघातिया कर्म भी फल-विपाक भोग लिये जाने पर निःशेष हो जाते हैं तो वह संसार-सागर से तीर्ण होकर अपने भौतिक (औदारिक), वैक्रिय, आहारक, कार्मण व तैजस शरीरों का भी त्याग करके लोकांत पर स्थित सिद्धलोक में अशरीरी सिद्धों में सम्मिलित हो जाती है। उसका मोक्ष या निर्वाण हो जाता है। यह आत्मा का द्रव्य-निर्वाण है।

यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि आत्मा का कर्मों से सर्वथा मुक्त होने का अर्थ है अच्छे व बुरे, शुभ व अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों से मुक्त होना। इसका अर्थ है कि जब तक कोई जीव पुण्य व पाप दोनों से परे न हो जाय तब तक उसकी मुक्ति संभव नहीं है। कारण स्पष्ट है कि पुण्य-कर्म सुखद विपाक वाले होते हुवे भी कर्म-बंधक होते हैं तथा जब तक आत्मा से ये शुभ-कर्म भी निर्जीर्ण न हो जाय व वह अच्छे व बुरे सभी प्रकार के कर्मों से सर्वथा मुक्त न हो जाय उसका निर्वाण नहीं हो सकता है।

अच्छे व बुरे दोनों प्रकार के कर्म-बंधनों से मुक्त हो जाने पर

आत्मा सर्वथा शुद्ध हो जाती है तथा कर्म-भार के हटते ही अपनी स्वाभाविक उत्थ्व गति के कारण ऊपर उठती हुई लोक के सर्वोच्च भाग में स्थित ईशत्प्राग्भार-पृथ्वी या सिद्ध-शिला या सिद्धलोक में पहुँच जाती है तथा पुनर्जन्म से छुटकारा मिल जाने के कारण सदा-सर्वदा के लिये वहीं निवास करती है। वहाँ आत्मा दीप-ज्योति-स्वरूप अशरीरी अवस्था में होती है तथा अनंत-चतुष्टय अर्थात् अनंत-ज्ञान, अनंत-दर्शन, अनंत-सुख व अनंत-वीर्य की धारक होती है।

निर्वाण या मुक्ति का इतना महत्व होने के कारण ही जैन-धर्म सहित सभी धर्म-दर्शनों का मुख्य ध्येय मोक्ष-प्राप्ति के उपायों की खोज व अपने अनुयाइयों के लिये उन उपायों का उपदेश करना रहा है। जैन दार्शनिकों के अनुसार मोक्ष प्राप्ति का उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र रूपी रत्नत्रयी स्वरूप मोक्ष-मार्ग का अनुसरण करने में है।^१ कुछ विचारक तप को मोक्ष-मार्ग के चतुर्थ अंग के रूप में मानते हैं जब कि अन्य तप को सम्यक्चारित्र में ही समाविष्ट मानते हैं। कर्म-मुक्ति के लिये तप का महत्व दोनों स्वीकार करते हैं।

यहाँ यह वर्णन करना समीचीन होगा कि आठ प्रकार के कर्म आत्मा से किस क्रम में निर्जीर्ण होते हैं। चार घातिया कर्मों में से सर्व-प्रथम मोहनीय कर्म की अट्ठाईस उत्तर प्रकृतियों निर्जीर्ण होती हैं और मोह का आवरण हटते ही तुरंत दर्शनावरणीय-कर्म सर्वथा नष्ट हो जाता है तथा आत्मा अनंत शुद्ध दर्शन में स्थापित हो जाती है। उसी क्षण में एक साथ ही ज्ञानावरणीय व अंतराय-कर्म भी क्षय हो जाते हैं तथा आत्मा में अनंत ज्ञान-दर्शन का सूर्य उदित हो जाता है, कैवल्यज्ञान-कैवल्यदर्शन प्रकट हो जाता है। तत्पश्चात् केवल चार अघातिया कर्म - वेदनीय-कर्म (एक

^१ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः ॥

तत्त्वार्थसूत्र, १.१

मत के अनुसार केवल साता-वेदनीय), नाम-कर्म, गोत्र-कर्म व आयुष्य-कर्म शेष रहते हैं जिनका क्षय उनको भोगने से ही हो सकता है। कई बार ऐसा होता है कि केवली आत्मा का आयुष्य-कर्म तो क्षय होने के समीप होता है किंतु वेदनीय-कर्म का पर्याप्त अंश अभुक्त बचा रहता है। ऐसे में केवली आत्मा केवली-समुद्गात की प्रक्रिया अपनाते हैं जिसमें वे अपने आत्म-प्रदेशों को संपूर्ण लोकाकाश में फैला देते हैं ताकि बचे हुए वेदनीय-कर्मों का वेदन शेष आयु मात्र में ही कर लिया जाय तथा आत्मा आयुष्य-कर्म के क्षय होते ही निष्कर्म, मुक्त व संसार से निवृत्त होकर सिद्धलोक में स्थित हो जाय।

आत्मा के कर्म-मुक्ति की इतनी जटिल प्रक्रिया से ऐसा लग सकता है कि यह काफी नीरस प्रक्रिया होगी किंतु वास्तविकता इस मिथ्या धारणा के बिल्कुल विपरीत है। कर्म-मल से आशिक भी निर्जरा के अपने लाभ हैं। जैसे-जैसे आत्मा शुद्ध और शुद्धतर होती जाती है इसका बल, इसकी शक्ति, इसकी बौद्धिक क्षमताएँ, भौतिक कल्याण व आर्थिक लाभ आदि भी उसी अनुपात में वृद्धिगत होते जाते हैं। वास्तव में मुक्ति का मार्ग काफी शीतल, छायादार व आनंददायक है, तथा केवल आध्यात्मिक ही नहीं अपितु भौतिक दृष्टि से भी कल्याणकारी है। आवश्यकता है इस मार्ग का दृढ़ता से अनुसरण करने की।

मोक्ष के स्वरूप के बारे में सभी धर्म-दर्शनों का यही मत है कि वह एक ऐसा स्थान है जहाँ केवल आनंद है, दुःख तो रंचमात्र भी नहीं है। यद्यपि भिन्न-भिन्न धर्म-दर्शन परमात्मा के एक या अनेक होने का मत व्यक्त करते हैं, मोक्ष के स्वरूप के बारे में सब एक मत हैं।

अंत में मोक्षस्थ सिद्ध, बुद्ध और मुक्त या परिनिवृत्त आत्मा के गुणों की चर्चा प्रासंगिक होगी। सिद्ध-बुद्ध-मुक्त-परिनिवृत्त आत्मा के गुण हैं - सर्वज्ञता (अनंत-ज्ञान, कैवल्य-ज्ञान), सर्वदर्शिता (अनंत-दर्शन, कैवल्य-दर्शन), अनंत-वीर्य (असीमित आत्म-सामर्थ्य), अनंत-सुख (असीम

आत्मिक आनंद), अनश्वरता, अरूपित्व, अशरीरत्व व अगुरु-लघुत्व (न भारीपन न हल्कापन)।

उपसंहार -

जैन-दर्शन में वर्णित नौ तत्त्वों की तार्किक सरलता एवं विषय का व्यवस्थित विकास आश्चर्य-चकित करने वाला है। इस वर्णन में विभिन्न तत्त्वों में आपसी कार्य-कारण संबंध इतना स्पष्ट रूप से दृश्य है कि उनके संचालन में व किसी भी प्राणी के कर्मों के फल-विपाक को देने में किसी भी सर्वशक्तिमान सत्ता की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती है। प्रकृति ही इतनी व्यवस्थित है कि इसके कार्य में पुरुष का कोई दखल सम्भाव्य ही नहीं है।

इस अध्याय का समापन हम यह कह कर कर सकते हैं कि यहाँ वर्णित नौ तत्त्व वे नीव के पत्थर हैं जिन पर जैन-दर्शन की भव्य इमारत अनादिकाल से खड़ी है। उनकी पूरी समझ तथा उनकी विद्यमानता व सत्यता पर दृढ़ व अडिग विश्वास साधक के आध्यात्मिक विकास के लिये पहली व प्रमुख आवश्यकता हैं। तत्त्वार्थसूत्र में वाचक उमास्वाति स्पष्ट कहते हैं कि तत्त्वार्थों पर श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है (तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥ - तत्त्वार्थसूत्र, १.२)। फिर सम्यग्दर्शन का आत्म-शोधन व मोक्ष-मार्ग का प्रथम व प्रमुख भाग होना इस बात का द्योतक है कि इन तत्त्वार्थों की विद्यमानता व सत्यता पर दृढ़ व अडिग विश्वास के बिना मुक्ति तो एक दिवास्वप्न ही हो सकती है।

इन तत्त्वार्थों का सम्यग्दर्शन, सम्यक्-श्रद्धा, सद्धर्म, सम्यक्-दृष्टिकोण, सम्यक् अभिवृत्ति व सोचने के सही ढंग से अपरिहार्य संबंध है। अतः 'सम्यग्दर्शन' ही हमारे अगले अध्याय की विषय-वस्तु है।

अध्याय - ४ : सम्यग्दर्शन

अपनी-अपनी दृष्टि -

प्रसिद्ध लेखक ए. जी. गार्डिनर ने अपने एक लेख में लिखा कि हर एक व्यक्ति दुनिया को अपनी ही नजर से देखता है।^१ यह कथन जीवन में दृष्टिकोण के महत्व को दर्शाता है, सम्यग्दृष्टि का महत्व प्रतिपादित करता है। सम्यग्दृष्टि के सद्भाव में हम वस्तुओं को उनके सही परिप्रेक्ष्य में देख पाते हैं तथा उसके अभाव में बहुधा गलत चीजें सही लगती हैं तथा सही चीजें गलत नजर आती हैं। जैन चिंतकों ने सम्यग्दृष्टि के विषय पर गहन चिंतन किया है तथा वस्तुओं व विचारों को उनके सही-सही परिप्रेक्ष्य में समझने की आवश्यकता पर बल दिया है। उन्होंने तो इसके महत्व को रेखांकित करते हुवे यहाँ तक कहा है कि सम्यग्दृष्टि ही धर्म का आधार है, धर्म का मूल है, 'धर्म दर्शन मूलक है।'^२ साथ ही उन्होंने यहाँ तक कहा कि किसी सम्यग्दृष्टि जीव के चारित्र-भ्रष्ट हो जाने पर भी उसके मुक्त होने की संभावना बनी रहती है क्योंकि वह अपनी सम्यग्दृष्टि के कारण भविष्य में फिर सम्यक्चारित्र में स्थिर हो सकता है किंतु दर्शन-भ्रष्ट व्यक्ति तो कभी भी संसार-मुक्त नहीं हो सकता है, उसके पुनः धर्म-मार्ग पर आने की संभावना अत्यंत धूमिल होती है^३ क्योंकि वह तो गलत को ही सही समझता है। इस अध्याय में हम पुरातनकालीन जैन तत्त्व-दर्शकों द्वारा प्रतिपादित एवं उनके बाद के सहस्रों वर्षों में हुवे आचार्यों व विद्वानों द्वारा व्याख्यायित सम्यग्दर्शन की अवधारणा को प्रस्तुत करेंगे।

^१ Everyone looks at the world outside him through his own peep-hole.

^२ "दंसण-मूलओ धम्मो।"

- कुंदकुंदाचार्य, दर्शन-पाहुड़

^३ "दंसण-भट्ठो भट्ठो।"

- कुंदकुंदाचार्य, दर्शन-पाहुड़

दर्शन व सम्यग्दर्शन -

दर्शन से तात्पर्य है किसी प्राणी या व्यक्ति के अच्छे व बुरे में विवेक कर पाने की क्षमता अथवा यह कि वह वस्तुओं को कैसे, किस दृष्टि से देखता है। सही अर्थों में इसे अंतः-बोध व विवेक के समन्वित रूप में देख जा सकता है। इसे प्रकारांतर से अपने पर्यावरण के सामान्य-ज्ञान या सामान्य-बोध के रूप में भी लिया जा सकता है। यहाँ सामान्य-बोध को हमें विशेष-बोध के संदर्भ में लेना होगा जिसे 'ज्ञान' कहा जाता है। अतः सामान्य-बोध दर्शन है तथा विशेष-बोध ज्ञान है। इस प्रकार दर्शनयुक्त प्राणी या व्यक्ति को अपने संपूर्ण पर्यावरण का सामान्य-बोध होता है जब कि ज्ञानयुक्त व्यक्ति उसके कुछ ही अंशों का विशेष ज्ञान रखता है। दर्शन (सामान्य-बोध) व ज्ञान (विशेष-बोध) में यह मौलिक अंतर है। यही सामान्य-बोध (दर्शन) जब सही दृष्टि या सही परिप्रेक्ष्य से समन्वित हो जाता है तो इसे 'सम्यग्दर्शन' कहा जाता है। यह सुस्पष्ट है कि एक दर्शनयुक्त व्यक्ति की दृष्टि बहुत व्यापक होती है तथा वह किसी भी मामले में अनेक दृष्टिकोणों से विचार कर सकता है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि दर्शनयुक्त व्यक्ति का दृष्टिकोण सारमूलक, पूर्णतावादी या व्यापक होता है। लेकिन धर्म-दर्शन के संदर्भ में सम्यग्दर्शन का अर्थ है धर्म के सिद्धान्तों में दृढ़ व निष्कम्प विश्वास। अतः 'दर्शन' शब्द के हमें दो अर्थ प्राप्त होते हैं - १. सम्यक्-दृष्टि व २. सम्यक्-विश्वास। जैन-दर्शन के अनुसार प्रथम अर्थ में सम्यग्दर्शन का अर्थ है किसी वस्तु या व्यक्ति को राग व द्वेष से ऊपर उठकर सही परिप्रेक्ष्य में देखने की क्षमता। इसका मतलब है कि सम्यग्दृष्टि व्यक्ति आग्रह व पक्षपात से ऊपर उठ कर सही निर्णय लेने की क्षमता रखता है। दूसरे अर्थ में यह तीर्थंकर-वचन या तीर्थंकर प्रतिपादित धर्म पर दृढ़ श्रद्धा का समानार्थक है। यहाँ यह माना जाता है कि एक सामान्य मेधा-बुद्धि वाला व्यक्ति इतना प्रज्ञावान नहीं होता कि वह वस्तुओं को उतने विस्तृत परिप्रेक्ष्य में देख पाए जितना कि केवली अपने अनंत-दर्शन में देख पाता है अतः आवश्यकता है कि हम अल्प-प्रज्ञा वाले

छद्मस्थ तीर्थंकरों द्वारा व्यक्त विचारों पर संपूर्ण, दृढ़ व निष्कंप श्रद्धा रखें। परंपरा से जैन व्याख्याकारों ने दर्शन का दूसरा अर्थ ही बहुधा लिया है। तत्त्वार्थसूत्र के प्रारंभ में ही सूत्रकार वाचक उमास्वाति यह कहते हैं कि 'तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित तत्त्वार्थों में दृढ़ श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है।'^४

यहाँ हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि सम्यग्दर्शन का दूसरा अर्थ मनुष्य की विचारशक्ति के विरुद्ध जाता है। उस विचारशक्ति के विरुद्ध जो संज्ञी मनुष्य को असंज्ञी जीवों से अलग पहचान देती है। लेकिन यह कोई ऐसी दुविधा नहीं है जिसका कोई हल न हो। जब तक मनुष्य बहिर्दृष्टि होता है तभी तक उसका विश्वास के साथ विरोध रहता है, ज्यों ही वह अंतर्दृष्टि होकर अपने भीतर झाँकने लगता है उसमें श्रद्धा का प्रादुर्भाव होता है तथा वह सब शंकाओं के पार चला जाता है। उसका दर्शन न केवल श्रद्धा का संबल बन जाता है अपितु वह स्वयं मूर्तिमान श्रद्धा बन जाता है।

सम्यग्दर्शन का महत्व -

सम्यग्दर्शन के लाभों का पूर्ण साक्षात्कार करने के लिये हमें मिथ्या-दर्शन की भयावहता व उससे होने वाली हानियों का जायजा लेना होगा। यह कहा जाता है कि आत्मा के लिये मिथ्यात्व सबसे भयानक रोग है, सबसे गहन अंधकार है, सबसे दुर्दान्त शत्रु है तथा सबसे ज्यादा प्राण-नाशक विष है। मिथ्यात्व सबसे भयानक रोग इसलिये माना गया है कि जहाँ शारीरिक रोग केवल शरीर को रुग्ण करते हैं, मानसिक रोग केवल मन को विकृत करते हैं, मिथ्यादृष्टि तो आत्मा को ही विकृत कर देती है। यह अंधतम अंधकार कहा गया है क्योंकि जहाँ गहन से गहन अंधकार को हम मात्र एक दीपक जलाकर दूर कर सकते हैं मिथ्यात्व के अंधकार में डूबी हुई आत्मा तो भरी दुपहरी में भी सत्य का दर्शन नहीं

^४ तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥
तत्त्वार्थसूत्र, १.२

कर सकती है। यह सब से शक्तिशाली शत्रु है क्योंकि अन्य शत्रु तो हमारे सांसारिक हितों को ही नुकसान पहुँचाते हैं लेकिन मिथ्यात्व तो आत्मा को अनंत संसार-सागर में भटकाने वाला है। तथा यह सबसे मारक विष है क्योंकि यह शरीर को नहीं वरन् आत्मा को मारता है।

जैसा कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र्य रूप रत्नत्रय मोक्ष-मार्ग में सम्यग्दर्शन का प्रथम स्थान दर्शाता है, इसकी महत्ता को बहुत पहले से अनुभव कर लिया गया था। तत्त्वार्थसूत्र के मोक्ष-मार्ग विषयक सूत्र से स्पष्ट है कि मुक्ति-मार्ग के तीन अवयव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र्य इसी क्रम में हैं।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण से प्रत्येक प्राणी का अंतिम उद्देश्य इस दुःखमय संसार से मुक्ति पाना है। जो भी इस महत् कार्य में प्राणी की सहायता करे वह महत्त्वपूर्ण है। फिर यह सोचना भी तर्कसंगत है कि कोई भी व्यक्ति धर्म का पालन करके संसार से मुक्त हो सकता है, उसे इन सब झमेलों में पड़ने की क्या आवश्यकता है? यहाँ भी सम्यग्दर्शन का महत्व इस बात में है कि वह स्वयं ही धर्म का मूल है। आखिर मूल को सिंचित किये बिना किसी वृक्ष की छाया का आनंद कब तक लिया जा सकता है? एक अन्य तर्कानुसार नैतिकता से युक्त सदाचरण (सम्यक्चारित्र्य) के पालन से मुक्ति संभव है। यहाँ भी तर्क ही हमें यह भी कहता है कि सम्यक्चारित्र्य क्या है इसका ज्ञान तो हमें सम्यग्ज्ञान से ही होता है जो सम्यग्दर्शन के सद्भाव में ही संभव है। जब सूचना का समन्वय परिप्रेक्ष्य से होता है तो वह ज्ञान बनती है। जब तक सूचना को सम्यग्दर्शन के द्वारा प्राप्त सही परिप्रेक्ष्य से संयुक्त नहीं किया जाय वह सूचना ही रहती है, मेधा के साथ मिल कर सम्यग्ज्ञान नहीं बन पाती है। परिप्रेक्ष्य ही सूचना को ज्ञान में परिवर्तित करता है तथा सम्यग्दर्शन द्वारा प्राप्त सही परिप्रेक्ष्य उसे सम्यग्ज्ञान में परिवर्तित कर देता है। अतः उत्तराध्ययनसूत्र के अट्ठाईसवें अध्ययन की तीसवीं गाथा में वर्णित कथन कि 'सम्यक्त्व के बिना ज्ञान नहीं होता है, ज्ञान के बिना चारित्र्य-गुण नहीं होता है, चारित्र्य-गुण के बिना मोक्ष नहीं होता है तथा मोक्ष के बिना

निर्वाण नहीं होता है'^५ में बहुत सार है।

सम्यग्दर्शन का सबसे महत्वपूर्ण आध्यात्मिक पक्ष यह है कि वह स्वयं से युक्त साधक को पाप-मुक्त रखता है। सर्वप्रथम जैन अंग-आगम - आचारांग में कहा गया है कि सम्यग्दृष्टि (जीव) कोई पाप नहीं करता है।^६ ऐसा मानने के कई कारण हैं -

१. प्रथमतः तो सम्यग्दृष्टि साधक वस्तुओं को सही परिप्रेक्ष्य में देखता है। तत्त्वार्थों के बारे में उसकी दृष्टि यथार्थ-दृष्टि होती है। वह सजीव व अजीव के भेद को भली-भाँति देख सकता है तथैव स्वयं की आत्मा का लोक के अन्य प्राणियों के साथ तादात्म्य स्थापित कर पाता है और उनके साथ वैसा ही व्यवहार करता है जैसा वह स्वयं के प्रति किया जाना पसंद करता है तथा जैसा व्यवहार वह स्वयं के प्रति किया जाना पसंद नहीं करता है वैसा व्यवहार वह दूसरों के प्रति भी नहीं करता है, वह अहिंसक हो जाता है। अंततः यही तो धर्म का सार है।
२. दूसरे, ऐसा साधक स्वये के कषायों पर विजय पा लेता है तथा अपने आवेगों पर नियंत्रण कर पाता है, वह पाप-कार्यों से विमुख रहता है।
३. वह आत्मा व शरीर के द्वित्व को भली-भाँति समझ लेता है तथा भैतिकता व आधिभौतिकता में अंतर कर पाता है। वह अपने आध्यात्मिक हितों के रक्षण के प्रति जागरूक रहता है तथा पापक-कर्मों से विरत रहता है।
४. वह संसार के दुःखद स्वरूप को अनुभव कर सकता है तथा इससे मुक्ति के लिये प्रयत्नरत रहता है।
५. उसका विरक्त स्वभाव उसे कई पापों से दूर रखता है।

^५ “नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरण-गुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं॥”

- उत्तराध्ययनसूत्र, २८.३०

^६ “सम्मत्तदंसी न करेइ पावं॥”

- आचारांग

६. सुख-दुःख, हानि-लाभ, मान-अपमान आदि के प्रति उसका दृष्टिकोण यथार्थ होता है तथा वह उनसे अप्रभावित रहता है। अतः वह अवसाद, क्रोध, बदले, आदि की भावना से संचालित नहीं होता है जो अंततः व्यक्ति को पापक-कर्मों में प्रवृत्त करते हैं।
७. उसका विकसित विवेक उसे सही व गलत में भेद करने की योग्यता देता है तथा वह सदैव गलत को छोड़कर सही को चुनता है।
८. उसे जीवन की क्षणिकता का आभास होता है, अतः वह अपने जीवन को पापक सांसारिक भोग-विलास में न गँवा आध्यात्मिक हितसाधन में लगाता है।
९. वह सांसारिक भोग-विलास की निरर्थकता व अंततः उनके द्वारा मिलने वाले क्लेश के प्रति सजग होता है अतः भोगमय जीवन त्याग देता है।
१०. उसके क्रिया-कलाप उसके विचारों के प्रतिबिम्ब होते हैं, जो सर्वदा पवित्र व आध्यात्मिक होते हैं।
११. सम्यग्दृष्टि साधक अपने जीवन में एक ही भय को मानता है और वह है पाप का भय। उसकी यह पाप-भीरुता ही उसे सद्गुणी व सदाचारी बनाती है।

सांसारिक दृष्टि से भी सम्यग्दृष्टि की महत्ता से इनकार नहीं किया जा सकता है। दृष्टि या परिप्रेक्ष्य किस प्रकार व्यक्ति की मानसिकता को परिवर्तित कर देता है इसे हम निम्नांकित बौद्ध जातक-कथा से समझ सकते हैं। -

एकदा एक वृद्धा के एकमात्र पुत्र का देहावसान हो गया। अपने प्रगाढ वात्सल्य के कारण वृद्धा अपने पुत्र की असामयिक मृत्यु के सत्य को स्वीकार न कर सकी तथा उसकी चिकित्सा कर रहे वैद्य से बारंबार उसका उपचार करते रहने तथा उसे बचा लेने का अनुरोध करने लगी। वह न केवल जार-जार रो रही थी वरन् अपने मृत पुत्र के शव को अंतिम संस्कार के लिये भी नहीं ले जाने दे रही थी। बुद्धिमान वैद्य ने उसे सलाह दी कि वह समीप ही वास कर रहे भगवान बुद्ध के पास जाए

तो संभवतया वे उसके पुत्र को बचालें। वृद्धा ने भगवान बुद्ध के पास जाकर निवेदन किया कि वे उसके पुत्र को स्वस्थ कर दें। भगवान बुद्ध ने यह अनुमान लगा लिया कि वृद्धा की जो मानसिक स्थिति थी उसमें यदि उन्होंने उससे स्पष्ट कह दिया कि उसके पुत्र का देहान्त हो गया है तो हो सकता है कि वह उनकी भी बात मानने से मना करदे। अतः उन्होंने उससे कहा कि वह गाँव में जाकर ऐसे घर से एक मुट्ठी सरसों ले आए जिसमें कभी किसी की मृत्यु न हुई हो। “तुम जैसे ही वह सरसों ले आओगी मैं तुम्हारे पुत्र को अच्छा कर दूँगा”, उन्होंने वृद्धा से कहा।

वृद्धा दौड़ती हुई गाँव के पहले ही घर में गई और सरसों मांगी तो गृहिणी ने तुरंत ही लाकर दी किंतु जब वृद्धा ने पूछा कि इस घर में कभी कोई मरा तो नहीं तो गृहिणी ने कहा कि उस घर में तो उसके सास, श्वसुर, जेठ आदि बहुत से लोगों की मृत्यु हो चुकी है। निराश होकर वृद्धा दूसरे, तीसरे आदि गाँव के सभी घरों से निराश ही लौटी क्योंकि वहाँ भी किसी न किसी की मृत्यु हुई थी। हताश होकर वह वहाँ आई जहाँ भगवान बुद्ध बिराजमान थे और कहा कि वह सरसों नहीं ला सकी क्योंकि पूरे गाँव में एक भी ऐसा घर नहीं था जिसमें किसी न किसी की मृत्यु न हुई हो।

तब भगवान बुद्ध ने उसे जीवन और मृत्यु का सत्य बताया और कहा, “जो भी जन्म लेता है वह अवश्य मरता है, यही प्रकृति का नियम है। तुम्हारा पुत्र भी जन्मा और उसने अपना जीवन जी लिया, अब उसकी मृत्यु हो चुकी है। मृत्यु से आज तक कोई नहीं बच सका है।”

उस अनुभव ने मृत्यु के बारे में वृद्धा की दृष्टि बदल दी। जिस पुत्र की मृत्यु कुछ समय पहले तक असहनीय लग रही थी, वह दृष्टि परिवर्तन के पश्चात् अब उतनी असहनीय नहीं रह गई थी।

सम्यक्त्व के सूचक लिंग -

सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन को धर्म का आधार कहा गया है। दर्शन मिथ्या और सम्यक् दो प्रकार का हो सकता है। यद्यपि यह एक अव्यक्त

और आंतरिक तथ्य है, इसके कुछ बाह्य सूचक होते हैं। दिगंबर जैन परंपरा के अनुसार सम्यक्त्व के निम्न आठ बाह्य सूचक या लिंग हैं: -

१. संवेग - मुक्ति की अदम्य चाह,
२. निर्वेद - मुक्ति के अतिरिक्त सबसे विरक्ति,
३. निंदा - मिथ्यात्व के प्रति निंदा का भाव,
४. गर्हा - असम्यक्त्व के प्रति तिरस्कार का भाव,
५. उपशम - कषायों का शमन,
६. भक्ति - देव-गुरु-धर्म के प्रति भक्ति-भाव,
७. वात्सल्य - सभी सद्भार्मिकों के प्रति निःस्वार्थ वात्सल्य का भाव, तथा
८. अनुकम्पा - दीन-दुःखियों के प्रति करुणा व उनका दुःख दूर करने की तत्परता।

इन आठ सम्यक्त्व-लिंगों का समावेश श्वेताम्बर परंपरा के ग्रंथों में उल्लिखित निम्न पाँच लिंगों में हो जाता है: -

१. शम - उपशम जिसमें निंदा व गर्हा का भी समावेश हो जाता है,
२. संवेग - इसमें वात्सल्य व भक्ति भी समाविष्ट हैं,
३. निर्वेद - संसार से विरक्ति का भाव,
४. अनुकम्पा - दीन-दुःखियों के प्रति करुणा व उनका दुःख दूर करने की तत्परता, तथा
५. आस्तिक्य - सर्वज्ञ प्ररूपित सद्धर्म में दृढ़ श्रद्धा।

प्रशम और उपशम -

क्रोध, मान, माया व लोभ कषायों का संपूर्ण शमन व उससे प्राप्त आत्मिक शान्ति प्रशम है। उपशम का अर्थ है इन कषायों का आंशिक शमन तथा यह प्रशम का ही भाग है। जब तक दीर्घ-काल तक बने रहने वाले अनंतानुबंधी कषायों का शमन नहीं हो जाता है तब तक जीव

वस्तुओं को उनके सही परिप्रेक्ष्य में नहीं देख पाता है क्योंकि ऐसे दुराग्रही कषाय सम्यग्दृष्टि को आच्छादित करते हैं। इन अनंतानुबंधी कषायों का शमन होने पर ही जीव वस्तुओं को उनके सही परिप्रेक्ष्य में देख पाने की योग्यता प्राप्त करता है। यही मिथ्यात्व का अंत व सम्यक्त्व का उदय है। जब प्रशम की स्थिति बन जाती है तो साधक अनंत-ज्ञानोदय या आत्म-साक्षात्कार के समीप होता है। क्योंकि व्यक्ति के बाह्य लक्षण उसकी आंतरिक दशा के सूचक होते हैं, शम या उपशम उसके सम्यक्त्व से सुशोभित होने या मिथ्यात्व से ग्रस्त होने का महत्वपूर्ण संकेतक है।

संवेग -

सम्यक्त्व का दूसरा सूचक है संवेग या इस दुःखमय व आध्यात्म-बाधक संसारी जीवन से मुक्त होने की उत्कट अभिलाषा। आत्म-शुद्धता प्रत्येक जीव की स्वाभाविक दशा है तथा इस बात में कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिये कि हर एक प्राणी अपनी उस स्वाभाविक दशा को उसी प्रकार प्राप्त करना चाहता है जैसे कि कोई यात्री लंबी व थका देने वाली यात्रा के पश्चात् घर पहुँचना चाहता है। जैसे कि प्रत्येक ऐसे यात्री के लिये, जो कि खानाबदोश नहीं है, अपने घर पहुँचने की इच्छा करना स्वाभाविक है उसी प्रकार सभी आत्माओं के लिये, जो कि स्थाई रूप से मिथ्यात्वी (अभव्य) नहीं हैं, संसारीपन से मुक्त होकर निर्वाण रूपी स्वगृह जाने की इच्छा करना स्वाभाविक ही है।

निर्वेद -

निर्वेद वह मानसिक स्थिति है जिसमें साधक निरंतर यह अनुभव करता है कि उसका संसारी अस्तित्व एक ऐसा कारागृह है जिसमें उसे कैद कर लिया गया है। वह आत्मिक संदर्भ में सांसारिक संबंधों व ऐहिक जीवन की निरर्थकता को अनुभव करता है तथा वह सांसारिकता के प्रति विरक्त और उदासीन हो जाता है। यह विरक्ति और उदासीन वृत्ति उसकी हर क्रिया में परिलक्षित होती है। संसार में रहते हुवे वह

वह सब-कुछ करता है जिसकी उससे अपेक्षा की जाती है किंतु केवल कर्तव्य-भावना वश, न कि उसमें आसक्त होकर स्वेच्छापूर्वक। यह उदासीन-वृत्ति एवं विरक्ति ही सम्यक्त्व का तीसरा लक्षण है।

अनुकम्पा -

अनुकम्पा या दीन-दुःखियों के प्रति करुणा का भाव तथा उनके कष्ट-निवारण में तत्परता का होना सम्यक्त्व का चौथा लक्षण है। वह साधक जो अनुकम्पा भाव से आपूरित है वह न केवल उनके दुःख-दर्द से दुःखी होता है अपितु वह उनके दुःख को दूर करने के उपाय भी करता है। साथ ही वह इस बात से भी अवगत होता है कि संसारिक जीवन में रहते हुवे कर्म-बंधनों के कारण उसकी स्वयं की आत्मा भी कितने दुःख में है तथा जहाँ वह सांसारिक दृष्टि से परदुःखकातर होता है वहीं आध्यात्मिक दृष्टि से स्वदुःखकातर भी होता है।

आस्तिक्य -

अंततः सम्यग्दृष्टि साधक को उसके सर्वज्ञ जिनेश्वर प्रतिपादित सद्धर्म में दृढ़ व अडिग श्रद्धा से पहचाना जा सकता है। उसे नौ तत्त्वों, अधोलोक की सात नरक भूमियों, स्वर्गलोक के विमानों, मध्य-लोक के मनुष्य व तिर्यच तथा प्राणीमात्र के चरम लक्ष्य रूप सिद्धशिला के अस्तित्व में पूर्ण विश्वास होता है। यह दृढ़ विश्वास ही उसे सही रास्ते पर रखता है तथा उसे मोक्ष-मार्ग का दृढ़ता पूर्वक अनुसरण करते हुवे संसार-मुक्त होकर सिद्ध-शिला पर स्थित सिद्धलोक में पहुँचने की इच्छाशक्ति प्रदान करता है।

सम्यक्त्व के चार अंग -

जीवन के वास्तविक व परम अर्थ को पहचानना (परमार्थ-संस्तव), जिससे तात्पर्य है सम्यक् धर्म-मार्ग, इसे प्ररूपित करने वाले तीर्थंकरों, तथा इसे प्रचारित-प्रसारित करने वाले श्रमण वर्ग के प्रति पूर्ण

श्रद्धा-समर्पण; ऐसे दृष्ट क्रिया-कलापों का आचरण जिनसे उपरोक्त सम्यक् धर्म-मार्ग, इसे प्ररूपित करने वाले तीर्थंकरों, तथा इसे प्रचारित-प्रसारित करने वाले श्रमण वर्ग के प्रति भक्ति-भाव प्रकट हो (सुदृष्ट परमार्थ-सेवना); भ्रष्ट प्रज्ञा वालों के साथ से बचना (व्यापन्न-वर्जना) तथा मिथ्यादृष्टियों के सिद्धान्तों का अनुसरण नहीं करना (कुदर्शन-वर्जना) ये सम्यग्दर्शन के चार अंग हैं। हितकारी सम्यग्दर्शन के ये चारों अंग अक्षुण्ण होते हैं। इनमें से एक भी अंग का अक्षत न होना सम्यग्दर्शन के अंग-भंग के समान है।

सम्यक्त्व आध्यात्ममार्गी के लिये दृढ़ संबल के रूप में श्रद्धा-विश्वास रूपिणी होती है। उसके गुण-दोष भी इसकी इसी व्याख्या के अनुरूप हैं। सम्यक्त्व के आठ दोष व उनके निरसक गुण निम्नानुसार हैं : -

क्रम	सम्यक्त्व के दोष	सम्यक्त्व के गुण
१.	शंका - जिन-वचनो पर शंका,	निःशंकित - शंका-मुक्ति,
२.	कांक्षा - सांसारिक भोगों की इच्छा,	निःकांक्षित - इच्छा-मुक्ति,
३.	विचिकित्सा - आध्यात्म अरुचि,	निर्विचिकित्सा - आध्यात्मरुचि,
४.	मूढदृष्टि - धर्म-बोध का अभाव,	अमूढदृष्टि - धर्म-बोधगम्यता,
५.	अनुपगूहन - धर्म-अरक्षणता,	उपगूहन - धर्म-रक्षणता,
६.	अस्थितिकरण - धर्मच्युतों के प्रति उपेक्षाभाव,	स्थितिकरण - धर्म-च्युतों को धर्म में पुनः स्थिर करना,
७.	अवात्सल्य - साधर्मिकों के प्रति अनुराग का अभाव,	वात्सल्य - साधर्मिकों के प्रति स्वाभाविक अनुराग,
८.	अप्रभावना - धर्मोन्नति के लिये प्रयासरत नहीं रहना।	प्रभावना - धर्मोन्नति के लिये प्रयासरत रहना।

सम्यग्दर्शन के प्रकार -

- सम्यक्त्व के प्रकट होने के हेतु से यह दो प्रकार का हो सकता है -
१. *निसर्ग सम्यक्त्व* जो स्वतः प्राकृतिक रूप से उत्पन्न होता है तथा
 २. *अधिगम सम्यक्त्व* जो किसी बाह्य प्रकरणों से उत्पन्न होता है। इन्हें

निम्न दस वर्गों में बाँटा गया है: -

१. निसर्गरुचि सम्यक्त्व - ऐसा सम्यक्त्व जो स्वतः पूर्व-स्मरणादि से उत्पन्न हो निसर्गरुचि सम्यक्त्व कहलाता है।
२. उपदेशरुचि सम्यक्त्व - जो किसी अन्य के उपदेश से उत्पन्न हो वह उपदेशरुचि सम्यक्त्व है।
३. आज्ञारुचि सम्यक्त्व - आज्ञा का अर्थ है भगवान् जिनेश्वर देवों के वचन। जो सम्यक्त्व जिन-वचनों के श्रवणादि से उत्पन्न हो आज्ञारुचि सम्यक्त्व कहलाता है।
४. सूत्ररुचि सम्यक्त्व - आगम-शास्त्रादि धर्म-ग्रंथों के अध्ययन-श्रवण आदि से उत्पन्न हुवा सम्यक्त्व सूत्ररुचि सम्यक्त्व कहलाता है।
५. बीजरुचि सम्यक्त्व - आंशिक सम्यक्त्व के बीज से संपूर्ण सम्यक्त्व का प्राप्त होना बीजरुचि सम्यक्त्व है।
६. अभिगमरुचि सम्यक्त्व - आगम-शास्त्रों के अर्थ के स्पष्ट होने पर जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है वह अभिगमरुचि सम्यक्त्व कहलाता है।
७. विस्ताररुचि सम्यक्त्व - आगम-व्याख्या साहित्य के पारायणोपरांत उत्पन्न होले वाला सम्यक्त्व विस्ताररुचि सम्यक्त्व कहलाता है।
८. क्रियारुचि सम्यक्त्व - धर्म-क्रियाओं के करने से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है वह क्रियारुचि सम्यक्त्व कहलाता है।
९. संक्षेपरुचि सम्यक्त्व - संक्षेप में यह समझ में आजाना कि सर्वज्ञ जिनेश्वर देवों ने जो भी उपदेश दिया है वह हितकारी व मोक्षदायक है संक्षेपरुचि सम्यक्त्व कहलाता है।
१०. धर्मरुचि सम्यक्त्व - जिन प्रतिपादित धर्म पर पूर्ण श्रद्धा रूप सम्यक्त्व धर्मरुचि सम्यक्त्व है।

वर्तमान काल में सम्यक्त्व प्राप्ति व उसे सुरक्षित रखने के साधन हैं - सुगुरु व सुशास्त्रों प्रति श्रद्धा-भक्ति व उनका उपदेश-श्रवण व

पठन-पाठन ।

प्राप्त सम्यक्त्व के अस्थायित्व या स्थायित्व के हेतु से यह सात मिथ्यात्व-कारणों के उपशम, क्षयोपशम (कुछ कारणों के क्षय तथा अन्य कारणों के उपशम) या संपूर्ण क्षय के आधार पर निम्न तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया है -

१. औपशमिक सम्यक्त्व - (१-४) चार अनंतानुबंधी-कषायों - अनंतानुबंधी-क्रोध, अनंतानुबंधी-मान, अनंतानुबंधी-माया व अनंतानुबंधी-लोभ; ५. मिथ्यादृष्टिजनक मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म, ६. सम्यक्मिथ्यादृष्टिजनक मिश्रमोहनीय कर्म तथा ७. सम्यग्दृष्टि को आवृत्त करने वाले सम्यक्त्व-मोहनीय कर्म के उपशम से स्वल्प काल के लिये प्रकट होने वाला सम्यक्त्व औपशमिक-सम्यक्त्व कहलाता है। यह सम्यक्त्व अस्थायी होता है तथा इसकी अधिकतम स्थिति एक अंतर्मुहुर्त (४८ मिनट से कम)^७ की होती है। इस प्रकार का सम्यक्त्व मोहनीय कर्मों के उदय में आने पर तथा अनंतानुबंधी-कषायों के प्राकट्य से पुनः लुप्त हो जाता है।
२. क्षायोपशमिक सम्यक्त्व - इन्हीं सात कारणों में से कुछ के क्षय व अन्यो के उपशम से अस्थायी रूप से प्रकट होने वाला सम्यक्त्व क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व कहलाता है। इसकी उत्कृष्ट स्थिति ६६ सागरोपम की होती है।
३. क्षायिक सम्यक्त्व - यह सात मिथ्यात्व-कारणों के संपूर्ण क्षय से उत्पन्न वह स्थायी सम्यक्त्व होता है जो एक बार प्रकट होने पर पुनः लुप्त नहीं होता है।

व्यवहार-नय व निश्चय-नय के हेतु से भी सम्यक्त्व को दो वर्गों

^७ १ मुहुर्त का काल-मान ४८ मिनट का होता है अतः एक अंतर्मुहुर्त ४८ मिनट से कम काल-मान का होता है।

में रखा गया है। यथा: -

१. निश्चय-सम्यक्त्व - यह मस्तिष्क की एक स्थिति विशेष है जो केवल भाव के स्तर पर होती है। इसके कोई बाह्य सूचक लक्षण नहीं होते हैं तथा इस स्थिति में साधक केवल स्वात्मा को ही समस्त आध्यात्मिक गुणों का आधार मान कर आत्म-गवेषणा द्वारा ही उन्हें प्रकट करने के लिये केवल उसी (निजात्मा) पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है।
२. व्यवहार-सम्यक्त्व - यह वह दृष्ट सम्यक्त्व है जिसके लक्षण प्रकट रूप में सुदेव, सुगुरु व सद्धर्म पर श्रद्धा-भक्ति के रूप में दिखाई देते हैं।

अंत में हम उन कारणों की समीक्षा करते हैं जो कि सम्यक्त्व को दृढ़ या क्षतिग्रस्त करते हैं।

जो पाँच कारण सम्यक्त्व को दृढ़ करते हैं वे हैं -

१. स्थिरता - जिन प्रतिपादित धर्म पर अडिग विश्वास रखना तथा उसका दृढ़ता से पालन करना स्थिरता है।
२. प्रभावना - सम्यग्दृष्टि साधक-श्रावक को सदैव धर्म की उन्नति के लिये प्रयत्नशील रहना चाहिये तथा जो भी शंकाएँ हों, चाहे स्वधर्मानुयाइयों द्वारा अथवा अन्य तीर्थियों द्वारा उठाई जाय, उनका सम्यक् समाधान करने के लिये तत्पर रहना चाहिये।
३. भक्ति - सम्यग्दृष्टि साधक-श्रावक को सदैव धर्म के तीन स्तंभों - देव (धर्म-प्रवर्तक जिनेश्वर-देव, तीर्थंकर-देव), गुरु (वर्तमान में धर्मोपदेश देने वाले श्रमण) व धर्म (जिन-प्रतिपादित धर्म) के प्रति श्रद्धा व भक्ति-भाव से ओतप्रोत रहना चाहिये।
४. वैशाल - सम्यग्दृष्टि साधक-श्रावक को धर्म-सिद्धान्तों का पूर्ण ज्ञान अर्जित करना चाहिये ताकि कभी भी कहीं भी धर्म पर कोई आक्षेप किया जाय तो उसका सम्यक् प्रतिवाद किया जा सके। तथा
५. तीर्थसेवा - सम्यग्दृष्टि साधक-श्रावक को धर्म-तीर्थ के चारों

अंगों - साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका की समुचित सेवा देखभाल करनी चाहिये ताकि किसी के मन में कभी भी ग्लानि या अरति का भाव पैदा न हो।

इन पाँच साधनों द्वारा सम्यग्दर्शन को न केवल प्रोत्साहन मिलता है अपितु उसकी संरक्षा-सुरक्षा भी होती है।

दूसरी ओर वे पाँच कारण जिनसे सम्यग्दर्शन की हानि होती है, वे हैं -

१. शंका - जिन-वचनों पर शंका व अविश्वास सम्यग्दर्शन को मलिन करते हैं। कई बार ऐसा होता है कि हम किसी चीज को समझ नहीं पाते हैं तथा उसकी सत्यता पर शंका और अविश्वास करने लगते हैं। श्रद्धा और विश्वास की दृढ़ता इसी में है कि ऐसे अवसरों पर हम सर्वज्ञ तीर्थंकरों के वचनों पर शंका करनेके बजाय स्वयं के स्वल्प-ज्ञान की सीमा व नासमझी को ही दोष दें।
२. कांक्षा - कांक्षा का अर्थ है सांसारिक भोगों की लालसा या उनके लिये लालायित होना। कई बार ऐसा होता है कि हम कुछ प्रलोभनों की ओर आकर्षित होते हैं तथा मिथ्या धर्म-दर्शनों के जाल में फँस जाते हैं। सम्यग्दृष्टि साधक को हर क्षण इस प्रकार के प्रलोभनों से अपने आप को बचाने के प्रति सावधान रह कर यह विचार करना चाहिये कि सर्वज्ञ-प्रणीत धर्म के समान हितकारी अन्य कोई भी धर्म नहीं हो सकता है तथा ऐसा सोच कर स्व-धर्म, स्व-सम्यक्त्व के प्रति आस्थावान बने रहना चाहिये। ऐसे विचारवान साधक को कभी भी सांसारिक हित-लाभ के लिये भी अन्य मिथ्यावादियों के धर्मों की ओर देखने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।
३. विचिकित्सा - स्व-धर्म पालन के फल के प्रति सशंकित होना

विचिकित्सा है। कर्म-सिद्धान्त के अनुसार भी हमारे किये गए पुण्य व पाप कर्म तुरंत फलदायी नहीं होते हैं। कर्म करने व उसका फल मिलने के बीच एक समयान्तराल होता है जिसे 'अबाधाकाल' कहते हैं। कोई भी कर्म अबाधाकाल के पश्चात ही उदय में आकर फल देता है। अतः यदि हमें अपने पुण्य-कर्मों का फल तुरंत प्राप्त न हो अथवा पुण्य करते हुवे भी दुःखद फल-विपाक प्राप्त हो तो हमें निराश नहीं होना चाहिये अपितु यह सोचना चाहिये कि वर्तमान में हमारे अशुभ कर्मों का उदय चल रहा है और हमारे शुभ-कर्म भी समय आने पर निश्चित रूप से फल देंगे ही। यह निराशा का भाव व इसके परिणाम स्वरूप हमारे मन में धर्म-फल के प्रति उत्पन्न शंका ही विचिकित्सा है जिससे हमें दूर रहना चाहिये।

४. परपाषंड-प्रशंसा (परदर्शन के प्रति प्रशंसा भाव) - सामान्यतया यह देखा जाता है कि घटिया माल बढिया पैकिंग में आता है। मिथ्यादर्शन भी इसी प्रकार बहुत बढिया ढंग से प्रस्तुत किये जाते हैं तथा भोले-भाले लोग उनकी ओर आकर्षित होकर उनकी प्रशंसा करते हुवे उनके जाल में फँस जाते हैं। एक सम्यग्दृष्टि साधक को इस प्रकार के मायाजाल को समझने में सक्षम होना चाहिये तथा सत्य-पक्ष को नहीं छोड़ना चाहिये। अगर उसका विवेक जागृत है तो उसे कोई भी मिथ्यादर्शन, चाहे वह कितना ही आकर्षक क्यों न हो, प्रशंसनीय नहीं लगेगा तथा उसे सम्यग्दर्शन से नहीं डिगा पाएगा।
५. परपाषंड-संस्तव (परदर्शन का परिचय) - जब हम किसी वस्तु, व्यक्ति या विचार के निरंतर संपर्क में आते रहते हैं तो अक्सर अपरिपक्व मस्तिष्क में उनके प्रति गुण-दोषों का आकलन किये बिना ही आकर्षण पैदा होने लगता है। बहुत पुरानी कहावत है - 'परिचय से प्रगाढता बढती है।' अतः हम किस प्रकार के व्यक्तियों व विचारों से परिचित होते हैं इस बारे में हमें

अत्यंत सावधान रहना चाहिये। मिथ्यादर्शनों से परिचय से सम्यक्त्व की हानि होकर स्वयं की दृष्टि विकृत होने की ही संभावना बनती है, अतः ज्ञानियों ने अपरिपक्व साधकों के लिये अन्य दर्शनों से परिचय में सावधानी बरतने का आदेश दिया है। इसका एक और पक्ष भी है - व्यक्ति अपने साथियों से जाना जाता है, उसकी प्रतिष्ठा या निंदा में उसके संगी-साथियों का भी बहुत बड़ा हाथ होता है। अतः इस लौकिक कारण से भी मिथ्यादर्शनियों से संपर्क रखना त्याज्य है।

उपसंहार -

इस अध्याय का समापन मैं निम्न तालिका से कर रहा हूँ जिसमें सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टि व्यक्तियों अंतर को स्पष्ट करने के लिये उनकी तुलना की गई है -

सम्यग्दृष्टि	मिथ्यादृष्टि
मोक्षाकांक्षी होता है।	भोगाकांक्षी होता है।
संसार को सीमित करता है।	संसार को बढ़ाता है।
स्वेच्छा से तप द्वारा कर्म-निर्जरा करता है।	अनिच्छापूर्वक कर्म-निर्जरा करता है।
अल्पावधि के कर्म-बंधन करता है।	दीर्घावधि के कर्म-बंधन करता है।
मन-वचन-काया से धर्म-कार्य करता है।	दिखावटी कर्म-काण्डों में रत रहता है।
आध्यात्मिक आनंद को ही वास्तविक आनंद मानता है।	शरीर-सुख को ही वास्तविक आनंद मानता है।
सुदेव द्वारा प्ररूपित, सुगुरु द्वारा उपदेशित सद्धर्म पर दृढ़ श्रद्धा स्वरूप सम्यग्दर्शन पर अडिग रहता है।	मिथ्या-दर्शन पर श्रद्धालु होता है।
जीव, अजीवादि तत्त्वों को मानता है।	इन तत्त्वों को नहीं मानता है।
आत्मा व शरीर के भेद को मानता है।	इस भेद को नहीं मानता है।
एंद्रिक सुखों के प्रति उदासीन होता है।	एंद्रिक सुखों में ही रत रहता है।

सम्यग्दृष्टि	मिथ्यादृष्टि
कर्म-बंधन से, ज्यादा कर्म-निर्जरा करता है।	कर्म-निर्जरा से ज्यादा कर्म-बंधन करता है।
सम्यग्ज्ञान अर्जित करता है।	मिथ्याज्ञान अर्जित करता है।
अनंतानुबंधी कषाय, मिथ्यात्व-मोहनीय, मिश्रमोहनीय व सम्यक्त्व मोहनीय कर्मों का उपशम, क्षयोपशम या क्षय करता है।	ऐसा नहीं कर पाता है।
अनंत संसार-भ्रमणकारी क्लिष्ट कर्म-बंधन नहीं करता है।	ऐसे कर्म-बंधनों को नहीं रोक पाता है।
सांसारिक सुखों के विसर्जन को हितकारी मानता है।	सांसारिक सुखों के भोग को हितकारी मानता है।
गृहस्थ-जीवन में भी अनासक्त रहता है।	साधु-जीवन में भी आसक्त रहता है।
हेय-ज्ञेय-उपादेय विवेकयुक्त होता है।	ऐसे विवेक से शून्य होता है।
प्रतिमाराधन में समर्थ होता है।	प्रारंभिक साधना से आगे नहीं बढ़ता है। प्रतिमाराधन में असमर्थ होता है।
सम्यग्दर्शन के अष्टगुणों से युक्त होता है।	इन गुणों से शून्य, दूषणों से युक्त होता है।
जिन-वचनों पर प्रगाढ़ श्रद्धा होती है।	जिन-वचनों पर शंका करता है।
अल्प तप से बहु निर्जरा करता है।	बहुत तप से अल्प निर्जरा करता है।
अपने ज्ञान का उपयोग आध्यात्मिक उन्नति के लिये करता है।	अपने ज्ञान का उपयोग सांसारिक समृद्धि के लिये करता है।
पंडित-मरण का चयन करता है।	बाल-मरण का चयन करता है।
मोक्षाकांक्षी होता है।	भोगाकांक्षी होता है।

अध्याय - ५ : सम्यग्ज्ञान

जीवन का चरम उद्देश्य -

जीवमात्र का अंतिम उद्देश्य जन्म, जरा, मृत्यु और रोग के दुःख, शोक और संताप से युक्त संसार से मुक्ति पाना है लेकिन यह मुक्ति आत्मा को मलिन करने वाले कर्म-मल (कर्म-द्रव्य या कर्म-पुद्गल) के आत्मा से सर्वथा निर्जीर्ण हो जाने पर निर्भर करती है। जैन तत्त्व-दृष्टाओं ने कर्म-मल की निर्जरा करके इस निर्मल-निष्कर्म अवस्था को प्राप्त करने के लिये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र रूपी रत्नत्रय मोक्ष-मार्ग की प्ररूपणा की। सम्यग्दर्शन का विषय विवेचन हम चौथे अध्याय में कर चुके हैं, सम्यग्ज्ञान इस अध्याय की विषय-वस्तु है तथा सम्यक्चारित्र का विवेचन हम जैन-आचार विषयक चतुर्थ खण्ड के तेरहवें तथा चौदहवें अध्यायों में करेंगे।

आत्मा की निर्मल और निष्कर्म स्थिति सम्यक्चारित्र के पालन के बिना प्राप्त नहीं की जा सकती है तथा सम्यक्चारित्र का पालन चारित्र के संदर्भ में क्या सही है तथा क्या गलत है इसके विवेक पर निर्भर करता है। सही व गलत या सम्यक् व असम्यक् का यह विवेक सिद्ध होता है सम्यग्ज्ञान को अर्जित करने से। तथापि इस विषय को, जिसे विकसित करने में महान तत्त्व-दृष्टा तत्त्वज्ञों को असंख्यकाल लगा है, इतने हल्केपन से लेना शायद उचित नहीं होगा।

सम्यग्ज्ञान -

(सम्यक्) ज्ञान का महत्व इसी बात से सिद्ध है कि यह वरीयता क्रम में दया (सभी जीवों के प्रति करुणा या अहिंसा का आचरण या सम्यक्चारित्र) से पहले आता है (पढमं नाणं तओ दया)। इस अध्याय में हम पाँच प्रकार के ज्ञान की अवधारणा का विवेचन करते हुवे जैन आगम

साहित्य की भी चर्चा करेंगे जो कि पारंपरिक ज्ञान की एक अक्षय निधि है, अथाह सागर है।

ज्ञान विषयक जैन-दृष्टिकोण-

हम पहले ही कह चुके हैं कि ज्ञान व चारित्र में प्राथमिकता ज्ञान को दी गई है। यद्यपि मोक्ष प्राप्ति के तीन साधनों में से किसी को भी अन्यो से न्यून या अधिक करके ओंकना उचित नहीं होगा फिर भी व्यवहारिक दृष्टि से हम देख सकते हैं कि ज्ञान पहले आता है क्योंकि सही ज्ञान के अभाव में आचरण का सही होना कदापि संभव नहीं है।

ज्ञान क्या है?

सभी जीवों में एक चीज जो समान रूप से पाई जाती है वह है चेतना या उपयोग। उपयोग से तात्पर्य है अनुभूति की क्षमता। इस अनुभूति की क्षमता के द्वारा अन्य जीव संज्ञक प्राणियों तथा अजीव वस्तुओं के बारे में जो बोध होता है उसी के व्यवस्थित रूप का नाम ज्ञान है। इस प्रकार ज्ञान कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो प्राणियों को कहीं बाहर से प्राप्त होती है अपितु वह तो उन्हें उनकी अंतर्निहित चेतना के फलस्वरूप ही उपलब्ध होता है। अतः ज्ञान को हम प्राणीमात्र का अंतर्जात गुण कह सकते हैं। क्योंकि ज्ञान से प्राणी स्वयं के बारे में तथा अन्य के बारे में भी जान सकता है, इसे स्व-परप्रकाशक कहा जाता है। यहाँ यह ध्यातव्य व ज्ञातव्य है कि सभी प्राणी, चाहे वे सूक्ष्मातिसूक्ष्म निगोद जीव ही क्यों न हों, ज्ञानयुक्त होते हैं, केवल उनके ज्ञान का प्रकटीकरण अत्यंत न्यून मात्रा में होता है।

सम्यग्ज्ञान क्या है?

अब हम इस प्रश्न का उत्तर दे सकते हैं कि 'सम्यग्ज्ञान क्या है?' इसकी सरलतम परिभाषा यह है कि जो ज्ञान हममें हिताहित का विवेक प्रदान करे वह सम्यग्ज्ञान है। प्रतिपक्ष में जो ज्ञान इस प्रकार का विवेक विकसित करने में सहायक न हो वह सम्यग्ज्ञान नहीं कहा जा सकता है,

वह तो 'अज्ञान' ही है तथा जो ज्ञान हमें अहितकर को हितकर समझने की बुद्धि दे वह तो और भी एक कदम आगे जाकर 'मिथ्याज्ञान' ही कहा जाएगा।

यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि 'आत्मा में अंतर्निहित ज्ञान अज्ञान या मिथ्याज्ञान कैसे हो सकता है?' इसे हम एक उदाहरण से सरलता पूर्वक समझ सकते हैं। किसी भी दर्पण के लिये उसके सम्मुख रखी वस्तु का वास्तविक प्रतिबिम्ब परावर्तित करना स्वाभाविक है। किंतु ऐसा तभी होता है जब कि दर्पण की सतह समतल हो तथा वह साफ-सुथरा हो। यदि दर्पण की सतह वक्र हो तो उससे परावर्तित प्रतिबिम्ब विकृत होगा तथा यदि उस पर धूल जमी हुई हो तो प्रतिबिम्ब सुस्पष्ट न होकर अस्पष्ट व धुंधला होगा। दर्पण की सतह जितनी ज्यादा वक्र होगी परावर्तित बिम्ब की आकृति उतनी ही विकृत होगी तथा उस पर जमी हुई धूल की परत जितनी मोटी होगी प्रतिबिम्ब उतना ही अधिक अस्पष्ट होगा। आत्मा के कर्म-द्रव्य के साथ अनादि संयोग के कारण आत्मा के अंतर्जात दर्शन-ज्ञान को आवृत्त करने वाली दर्शन-ज्ञानावरणीय-कर्म की परत जम जाती है जो इसकी सामान्य व विशेष बोध-शक्ति को कुण्ठित करती है। यह दर्शनावरणीयकर्म की परत जितनी मोटी होगी सामान्यबोध-शक्ति उतनी ही ज्यादा विकृत होगी तथा ज्ञानावरणीय-कर्म की परत जितनी मोटी होगी विशेषबोध-शक्ति उतनी ही ज्यादा कुण्ठित होगी तथा उससे होने वाला बोध उतना ही अस्पष्ट होगा। ज्ञान-दर्शनावरण के कारण कुण्ठित बोध ही अज्ञान है तथा विकृत बोध ही मिथ्याज्ञान कहलाता है।

आत्मा से कर्मों के निर्जरा की प्रक्रिया से ज्यों-ज्यों इस ज्ञान-दर्शनावरणीय-कर्म की परतें आत्मा से हटती जाती हैं त्यों-त्यों उसकी बोध-शक्ति अधिक से अधिकतर सुस्पष्ट होती जाती है तथा एक समय ऐसा आता है जब हम वस्तुओं को जैसी वे हैं वैसा ही देख पाते हैं, उनके यथार्थ-बोध के आभास को प्राप्त कर लेते हैं। यही सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान का अवतरण कहलाता है। जब आत्मा से कर्मावरण पूर्णरूप से

दूर हो जाते हैं तो उसकी बोध-शक्ति का संपूर्ण व इतना विकास हो जाता है कि वह लोकालोक के समस्त पदार्थों की त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायों को हस्त-आमलकवत् सुस्पष्ट देख पाती है, जान पाती है। यही संबोधि, कैवल्य या सर्वज्ञता है।

सम्यग्ज्ञान के पाँच स्तर -

पिछले अनुच्छेद में हम यह चर्चा कर चुके हैं कि सम्यग्ज्ञान से तात्पर्य आत्मा की ऐसी बोध-शक्ति से है जिससे ज्ञानावरणीय-कर्म का पर्दा इतने अंशों में हट गया हो कि उसे यथार्थता का आभास हो सके। जैसे-जैसे ज्ञानावरण ऊपर उठता जाता है वैसे-वैसे सम्यग्ज्ञान के उच्च से उच्चतर स्तर प्रकट होते जाते हैं। ज्ञानावरणीय-कर्म के उपशम, क्षयोपशम या क्षय के फलस्वरूप सम्यग्ज्ञान के पाँच चरण प्रकट होते हैं जिनमें उन-उन चरणों की धारक आत्माएँ काल व क्षेत्र की अधिकाधिक दूरियों तक पदार्थों का उनके यथार्थ रूप में अधिकाधिक स्पष्टता से बोध कर सकती हैं। आगम-शास्त्रों में वर्णित सम्यग्ज्ञान के ये पाँच स्तर निम्नानुसार हैं -

१. मतिज्ञान - जो बोध हम हमारी पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा मन (मस्तिष्क, जिसे अर्द्धेन्द्रिय कहा जाता है) के द्वारा प्राप्त करते हैं वह मतिज्ञान कहलाता है। यह निम्न चार चरणों में प्राप्त होता है: -
 - क. अवग्रह - किसी पदार्थ के बारे में ऐसा अस्पष्ट बोध होना कि कुछ है,
 - ख. ईहा - पूर्वानुभव के आधार पर विचार कतना कि यह क्या हो सकता है,
 - ग. अवाय - विचार के परिणामस्वरूप निश्चय करना कि यह वस्तु अमुक ही है, तथा
 - घ. धारणा - प्राप्त बोध को स्मृति में संजोना ताकि भविष्य में समान परिस्थितियों में बोध सरलता से तथा तत्काल हो सके।

चूँकि सभी प्राणियों के एक या अधिक ज्ञानेन्द्रियों होती ही हैं,

उन सब को मतिज्ञान भी होता है। इसे आभिनिबोधिक ज्ञान या निगम्य ज्ञान (deductive knowledge) भी कहते हैं क्योंकि इसे एंद्रिक अनुभूतियों के आधार पर निगमित किया जाता है। जैन विचारधारा के अनुसार यह परोक्ष ज्ञान की श्रेणि में आता है क्योंकि इसे आत्मानुभूति के आधार पर प्रत्यक्षतः प्राप्त नहीं किया जाता है अपितु एंद्रिक अनुभूतियों के माध्यम से परोक्षतः प्राप्त किया जाता है। तथापि अन्य व्यवहारिक धारणा के अनुसार इसे 'सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष' भी कहा जाता है क्योंकि इसे स्वयं की इंद्रियों के माध्यम से किसी बाह्य साधन की सहायता के बिना ही प्राप्त किया जाता है।

२. श्रुतज्ञान - परोक्ष ज्ञान के वर्ग में सम्यग्ज्ञान का दूसरा स्तर श्रुतज्ञान का है जिसे हम आगम-ज्ञान या (धर्म) शास्त्र-ज्ञान भी कह सकते हैं। यह वह ज्ञान है जो जिनवचनाधारित शास्त्राध्ययन से अथवा शास्त्राधारित प्रवचन श्रवण से प्राप्त कर सकते हैं। क्योंकि इस ज्ञान को प्राप्त करने में शास्त्र-वाचन श्रवण, चिंतन-मनन आदि में चक्षु, कर्ण, वचन व मन-मस्तिष्क का उपयोग होता ही है, इसे मतिज्ञान से बिल्कुल ही अलग करके नहीं देखा जा सकता है। वस्तुतः इसे मतिज्ञान के साधनों द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। शास्त्रानुसार श्रुतज्ञान के कुल चौदह उपवर्ग हैं जिनमें से कुछ का विवेचन वांछनीय है जो निम्नानुसार है: -

क. सम्यक्-श्रुत - सम्यग्श्रुत या प्रामाणिक धर्म-शास्त्र वे हैं जिनका कथन धर्म-प्रवर्तक-प्ररूपक तीर्थंकर भगवंतों द्वारा किया गया तथा जिन्हें उनके प्रधान शिष्यों - गणधरों द्वारा अथवा श्रुतकेवलियों द्वारा अथवा कम से कम दस पूर्वधर आचार्यों द्वारा सूत्र रूप में गुम्फित किया गया हो। सूत्रकारों की योग्यता के इतने कठोर मानदण्ड रखने के पीछे तात्पर्य यह था कि सम्यग्श्रुत की श्रेणि में आने वाले शास्त्र किसी भी प्रकार के दोष, विकृति व मिथ्या प्ररूपणा से मुक्त हों। यह आवश्यक नहीं कि दस पूर्वेों से कम ज्ञान रखने वाले सूत्रकारों द्वारा रचित शास्त्र दोषयुक्त, विकृत या

मिथ्या ही हों किंतु इनमें जाने-अनजाने दोष की संभावना रहती है
अतः इन्हें प्रामाणिक नहीं माना जा सकता है।

- ख. आगम-श्रुत - ये आचारांगादि वे कालिक सूत्र हैं जिनका स्वाध्याय केवल शास्त्राध्ययन के लिये नियत समय पर ही किया जा सकता है।
- ग. अंगप्रविष्ट श्रुत - द्वादशांगी के नाम से विश्रुत ये वे बारह सूत्र हैं जिनका व्याख्यान स्वयं तीर्थंकर भगवान् करते हैं तथा जिनमें स्वयं गणधर सूत्र रूप में ग्रथित करते हैं। इनका वर्णन इसी अध्याय के 'जैन आगम-साहित्य' शीर्षकीय अगले भाग में किया गया है।
- घ. अंगबाह्य श्रुत - अंगप्रविष्ट आगम-शास्त्रों के अतिरिक्त प्रामाणिक आगम-शास्त्र अंगबाह्य श्रुत की श्रेणि में आते हैं। इनका प्रणयन पश्चाद्वर्ती श्रुतकेवली आदि आचार्यों द्वारा किया हुआ माना जाता है।

श्रुतज्ञान की प्ररूपणा, गुम्फन व प्रसार तीन रूपों में होता है -

१. अर्थ रूप में जो कि भगवान् तीर्थंकर देवों द्वारा उपदिष्ट होता है। इसमें वे अर्थ रूप में केवल अपने विचार व्यक्त करते हैं या जो वे कहना चाहते हैं उसे संक्षेप में या विस्तार पूर्वक व्याख्यायित करते हैं। श्रुत के इस रूप को सुनने का सौभाग्य तो केवल उन्हीं प्राणियों को प्राप्त होता है जो तीर्थंकर देवों के समवशरण में उपस्थित हो कर उनका उपदेश सुनते हैं।
२. सूत्र रूप में जो कि तीर्थंकर भगवन्तों के उपदेश पर आधारित तथा आगामी पीढियों के हितार्थ गणधर देवों द्वारा सूत्र-रूप में गुम्फित रूप है। श्रुत का यह रूप वर्तमान में भी अंग-आगमों के रूप में प्राप्त है।
३. सूत्रार्थ रूप में अर्थात् अर्थ व सूत्र दोनों रूपों में। श्रुत के इस रूप की लभ्यता भी उन्हीं सौभाग्यशाली श्रोताओं को होती है जो समवशरण में तीर्थंकर भगवन्तों के उपदेश तथा गणधरों से उनके सूत्र-रूप का श्रवण कर सकते हैं। वर्तमान में हमें श्रुत का सूत्र-रूप अंगप्रविष्ट तथा अंगबाह्य-आगमों के रूप में तथा उत्तरवर्ती काल में श्रुतज्ञ आचार्यों, व्याख्याकारों तथा विद्वान् मनीषियों

द्वारा की गई व्याख्याएँ ही उपलब्ध हैं।

दशवैकालिकसूत्र के सूत्रकार श्रुतकेवली आचार्य शय्यंभव के अनुसार श्रुत-अध्ययन से व्यक्ति में हिताहित का विवेक उत्पन्न होता है जिससे वह पापक क्रियाओं से दूर रहता है तथा पुण्यादि परहित के तथा आध्यात्मिक साधना के रूप में आत्महित के कार्यों में प्रवृत्त होता है।

२. अवधिज्ञान - प्रत्यक्ष ज्ञान की श्रृंखला में प्रथम ज्ञान है अवधिज्ञान। इसे प्रत्यक्ष ज्ञान कहा गया है क्योंकि यह इंद्रियों के माध्यम से प्रकट नहीं होता है अपितु सीधे आत्म-शुद्धि या भव विशेष के परिणामस्वरूप प्रकट होता है। अतः इसे अतीन्द्रिय ज्ञान भी कहा जाता है। प्रत्यक्ष ज्ञान भी पूर्ण तथा अपूर्ण दो प्रकार का हो सकता है। अवधिज्ञान क्षेत्र-सीमित होता है अतः इसकी गणना अपूर्ण प्रत्यक्षज्ञान में की जाती है। जैसा कि ऊपर कहा गया है अवधिज्ञान या तो भव-विशेष (देव तथा नारक) में जन्म के निमित्त से प्रकट होता है अथवा अवधिज्ञानावरणीय-कर्म के क्षयोपशम द्वारा आत्म-शुद्धि के द्वारा प्रकट होता है। १. प्रथम स्थिति में इसे भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान कहा जाता है। देवताओं का अवधिज्ञान सम्यक् अवधिज्ञान होता है जबकि नारकीय जीवों का अवधिज्ञान मिथ्या अवधिज्ञान होता है जिसे विभंग-ज्ञान भी कहते हैं। २. दूसरे प्रकार के अवधिज्ञान को क्षायोपशमिक अवधिज्ञान कहते हैं। यह अवधिज्ञानावरणीय-कर्म के क्षयोपशम द्वारा प्रकट होता है और यह केवल मनुष्यों तथा कुछ संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यच जीवों को होता है। इस प्रकार के अवधिज्ञान के छः उपवर्ग हैं - (i) अनुगामिक जो एक बार प्रकट होने पर जन्म-जन्मान्तर में भी जीव के साथ-साथ रहता है, (ii) अननुगामिक जो जन्म-जन्मान्तर में जीव के साथ-साथ नहीं चलता है अपितु उसी जन्म के लिये प्रकट होता है तथा मृत्यु के साथ ही लुप्त हो जाता है, (iii) वर्द्धमान जिसका क्षेत्र विस्तृत होता जाता है, (iv) हीयमान जिसका क्षेत्र घटता जाता है, (v) अवस्थित जो स्थिर या अपरिवर्तित

रहता है अर्थात् एक बार प्रकट होने पर जिसके क्षेत्र या अवधि में कोई परिवर्तन नहीं होता है, तथा (vi) अनवस्थित जो अस्थिर होता है, जिसके क्षेत्र या अवधि में परिवर्तन होते रहते हैं।

स्थायित्व के परिप्रेक्ष्य में अवधिज्ञान या तो प्रतिपाति या निरस्य अवधिज्ञान होता है जो एक बार प्रकट होने के बाद पुनः लुप्त हो जाता है अथवा अप्रतिपाति या अनिरस्य अवधिज्ञान होता है जो एक बार प्रकट होने के बाद पुनः लुप्त नहीं होता है। सभी तीर्थंकर अपने अंतिम भव में अवधिज्ञान के साथ ही जन्म लेते हैं तथा उनका अवधिज्ञान अप्रतिपाति या स्थाई होता है जो उनके केवल्यज्ञान के प्रकटन तक बना रहता है व तत्पश्चात् केवल्य में समाहित हो जाता है। तीर्थंकरों का अवधिज्ञान जन्मना होते हुवे भी भवप्रत्ययिक नहीं होकर क्षायोपशमिक होता है।

यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि यद्यपि दो प्रकार के अवधिज्ञान को भवप्रत्ययिक तथा क्षायोपशमिक कहा गया है, पहले प्रकार का अवधिज्ञान भी अवधिज्ञानावरणीय-कर्म के क्षायोपशम के बिना प्रकट नहीं हो सकता है। दोनों में अंतर यही है कि देव व नारक योनियों के प्राणियों का यह क्षायोपशम उनके उन-उन योनियों में उत्पन्न होने के पूर्व ही हो चुका होता है तथा इसके लिये उन्हें उस भव में कोई प्रयास नहीं करना पड़ता है, यह योग्यता उनमें पूर्वजन्म से ही होती है जबकि दूसरे प्रकार का अवधिज्ञान प्रयासपूर्वक किये गए क्षायोपशम से प्राप्त होता है अतः इसे गुणप्रत्ययिक अवधिज्ञान भी कहा जाता है।

४. मनःपर्यायज्ञान - अपूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञानों की शृंखला में दूसरा ज्ञान मनःपर्यायज्ञान है। इस ज्ञान का धारक व्यक्ति दूसरों के मनोगत विचारों को जान सकता है। धारक के आध्यात्मिक विकास के स्तर के अनुसार उसका मनःपर्यायज्ञान भी ऋजुमति या विपुलमति होता है। जैसा कि इनके नामों से ही भासित होता है, ऋजुमति मनःपर्यायज्ञान

किसी अन्य प्राणी के मनोगत भावों को स्वल्प या अस्पष्ट रूप से ही जान पाता है जबकि विपुलमति मनःपर्यायज्ञान का धारक विचारों को पूर्णतः तथा सर्वांश में जान सकता है। अतः विपुलमति मनःपर्यायज्ञान ऋजुमति मनःपर्यायज्ञान की अपेक्षा शुद्धतर होता है तथा विचारित पदार्थ के अधिकतर व अधिकसूक्ष्म पक्षों को जान सकता है। इसके अतिरिक्त विपुलमति मनःपर्यायज्ञान स्थाई होता है जबकि ऋजुमति मनःपर्यायज्ञान अस्थायी होता है। यह ज्ञान भी अपूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञान कहा गया है क्योंकि इसके द्वारा होने वाले बोध की भी सीमा है, इसकी गति भी केवल मनोगत भावों को जानने तक ही है।

अवधिज्ञान व मनःपर्यायज्ञान दोनों अपूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञान हैं। इनकी तुलना करने से निम्न समानताएँ व असमानताएँ स्पष्ट होती हैं : -

- १ अवधिज्ञान का क्षेत्र मनःपर्यायज्ञान के क्षेत्र की अपेक्षा अतिविशाल है। उत्कृष्टतम अवधिज्ञान का धारक संपूर्ण लोक को देख सकता है, जान सकता है किंतु विपुलमति मनःपर्यायज्ञान के धारक का प्रभाव-क्षेत्र केवल मानुषोत्तर पर्वत तक के प्राणियों के मनोगत भाव ही हैं। हाँ, मनःपर्यायज्ञान की शुद्धता व उसकी स्पष्टता अवधिज्ञान की अपेक्षा कहीं अधिक है।
- २ अवधिज्ञान चारों गतियों - देव, मनुष्य, नारक व तिर्यच - के प्राणियों को हो सकता है जबकि मनःपर्यायज्ञान केवल आध्यात्मिक दृष्टि से समुन्नत मनुष्य योनि के प्राणियों को ही हो सकता है।
- ३ अवधिज्ञान के विषय सब प्रकार के पदार्थ हैं जबकि मनःपर्यायज्ञान के विषय अन्य प्राणियों के मनोगत विचार या भाव ही हैं।
- ४ दोनों प्रकार के ज्ञान की प्रकृति मूलतः क्षायोपशमिक है।

अब तक विवेचित चारों प्रकार के ज्ञान - मति, श्रुत, अवधि व मनःपर्याय - क्षायोपशमिक ही होते हैं तथा अंततः कभी न कभी लुप्त होते ही हैं। यहाँ तक कि तीर्थंकरों को जन्मना प्राप्त अप्रतिपाति अवधिज्ञान तथा श्रमण-दीक्षा के समय प्रकट हुआ

विपुलमति मनःपर्यायज्ञान भी उनके शुद्धातिशुद्धतम संपूर्ण और सकलप्रत्यक्ष कैवल्यज्ञान या सर्वज्ञता के प्रकट होने पर लुप्त हो जाते हैं। एक मत यह भी है कि वे लुप्त न होकर कैवल्यज्ञान में ही समाहित हो जाते हैं। जो भी हो, वे उसी रूप में तो नहीं ही रहते हैं। अब हम उस अंतिम चरम व परम ज्ञान का वर्णन करेंगे जो न केवल ज्ञानावरणीय-कर्म के संपूर्ण क्षय से अपितु तीन अन्य घातिया कर्मों - मोहनीय, दर्शनावरणीय व अंतराय कर्मों के भी संपूर्ण रूप से क्षय हो जाने पर ही प्रकट होता है तथा एक बार प्रकट हो जाने पर कभी भी लुप्त नहीं होता, मृत्यु या निर्वाण पर भी नहीं।

५. केवलज्ञान या सर्वज्ञता - क्षायिकज्ञान, सकल-प्रत्यक्षज्ञान, इन्द्रियातीत-ज्ञान, परमज्ञान, शुद्धज्ञान, अनंतज्ञान आदि नामों से जाने जाने वाले ज्ञान का ही नाम है केवलज्ञान या सर्वज्ञता। यह ज्ञान आत्मा के केवल चार घातिया कर्मों के संपूर्ण क्षय होने पर ही केवलदर्शन के साथ ही प्रकट होता है तथा एक बार प्रकट हो जाने पर आत्मा के साथ सदा-सर्वदा के लिये या अनंतकाल के लिये संबद्ध हो जाता है। कभी भी लुप्त नहीं होता है। यह आत्मा का स्थाई गुण बन जाता है और उससे अलग नहीं किया जा सकता। आत्मा की मुक्त दशा में भी केवलज्ञान और केवलदर्शन उसके साथ ही रहते हैं, वे शुद्ध, बुद्ध और मुक्त आत्मा के अनंत चतुष्टय के ही भाग होते हैं। इनके प्रकट होने पर केवली आत्मा संपूर्ण लोकालोक के सभी पदार्थों की सभी त्रिकालवर्ती पर्यायों को हस्तामलकवत सुस्पष्ट यथार्थ रूप से उनके सही परिप्रेक्ष्य में देख और जान लेते हैं। यह ज्ञान-दर्शन असीम और अनंत होता है और उसके धारक सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होते हैं। इसे दिव्यज्ञान भी कहा गया है तथा इस ज्ञान की दिव्यता पर टिप्पणी करते हुवे कुंदकुंदाचार्य कहते हैं, “जो ज्ञान (लोकालोक के) सभी पदार्थों की सभी - भूत, वर्तमान व भविष्यत पर्यायों को न जान सके उसे दिव्यज्ञान ही कौन कहेगा?”

जैन आगम व व्याख्या साहित्य -

प्रत्येक धर्म के धार्मिक-ग्रंथों में उसके सिद्धान्त-ग्रंथों या आगम-शास्त्रों का विशेष महत्व होता है। जैन-धर्म में भी आगमों का वही महत्व है जो बौद्ध-धर्म में पिटकों का, सनातन-धर्म में वेदों का, ईसाई-धर्म में पवित्र-बाइबल का तथा इस्लाम में कुरआन-ए-पाक का। आगमों में उन पूजीनय अर्हत्तों के उपदेशों का संकलन है जिन्होंने आध्यात्मिक साधना तथा कठोर तपश्चर्या द्वारा आत्म-शुद्धि व संबोधि को प्राप्त करके सर्वज्ञ-सर्वदर्शिता को उपलब्ध किया था। यद्यपि यह कहा जाता है कि अंग आगमों में इन्हीं सर्वज्ञ तीर्थंकरों के उपदेशों को एकत्रित किया गया है, हमें यह ध्यान रखना होगा कि सर्वज्ञ-तीर्थंकरों ने केवल अर्थ की प्ररूपणा की थी जिसे उनके प्रधान शिष्य - गणधरों ने सूत्र रूप में ग्रथित किया। अर्थात् तीर्थंकरों ने केवल विचार या भाव प्रस्तुत किये जिन्हें गणधरों ने शब्दों का जामा पहनाकर सूत्र-रूप में आने वाली पीढियों के लिये सोंप दिया। अन्य अंगबाह्य सूत्रों की रचना उत्तरवर्ती आचार्यों, स्थविरों तथा श्रुतज्ञ उपाध्यायों द्वारा की गई।

जैन परंपरा में शब्दों पर उतना जोर नहीं दिया गया है जितना कि भावों व विचारों पर, इसमें महत्व केवल अर्थ, विचारों व भावों का है, शब्दों को केवल उनकी अभिव्यक्ति का साधन माना गया है। यहाँ अर्थ महत्वपूर्ण है, शब्द नहीं। शब्दों पर जोर नहीं देने के कारण ही जैन आगम पिछले हजारों वर्षों में अपना शाब्दिक व भाषिक रूप उतना अक्षुण्ण नहीं रख पाए जितना कि वेद आदि अन्य धर्म-ग्रंथ रख पाए। यही कारण रहा कि जैन आगम साहित्य दो धाराओं में बँट गया। आज जहाँ श्वेताम्बर परंपरा में अर्द्धमागधी प्राकृत में निबद्ध आगम साहित्य प्रचलित है तो दिगम्बर परंपरा में शौरसेनी प्राकृत के ग्रंथ मान्य हैं।

अर्द्धमागधी आगम साहित्य -

अर्द्धमागधी आगम, जैसा कि नामकरण से ही प्रतीत होता है, जैनो

के वे पवित्र धर्म-ग्रंथ हैं जो कि अर्द्धमागधी प्राकृत भाषा में निबद्ध हैं। अर्द्धमागधी प्राकृत भाषा उस काल में मगध (वर्तमान का दक्षिणी बिहार व झारखण्ड राज्य) व शूरसेन (वर्तमान का पश्चिमी उत्तर प्रदेश) के बीच के भाग की लोक भाषा थी तथा इस काल के अंतिम व चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर ने इसे अपने उपदेशों का माध्यम बनाया क्योंकि मुख्य रूप से यह क्षेत्र ही उनका विचरण व उपदेश का क्षेत्र था। उनके उपदेशों को बाद में उनके प्रधान शिष्यों - गणधरों द्वारा सूत्र रूप में रचित कर दिया गया था। ये सूत्र, जो अर्द्धमागधी प्राकृत भाषा में ही रचे गए थे, अंग-आगम कहलाए। उत्तरवर्ती काल में समय बीतने के साथ जैसे-जैसे आवश्यकता प्रतीत होती गई आचार्यों, स्थविरों तथा अन्य श्रुतज्ञ उपाध्यायों ने उच्च आध्यात्मिक मूल्यों के अनेक ग्रंथों की रचना की जो अंगबाह्य आगम कहलाए। अर्द्धमागधी आगमों के वर्गीकरण की यह एक पुरातन पद्धति थी, पश्चाद्वर्ती काल में अर्द्धमागधी आगमों का वर्गीकरण पूर्व व अंग-आगमों में; चार अनुयोगों में; अंग-सूत्र, उपांग-सूत्र, मूल-सूत्र, छेद-सूत्र, आवश्यक-सूत्र; आवश्यक व आवश्यक व्यतिरिक्त; कालिक व उत्कालिक आदि अनेक विधियों से किया गया जिनमें से कुछ आज पर्यंत प्रचलित हैं जिनका वर्णन निम्नानुसार है: -

अंग-सूत्र -

अर्द्धमागधी आगमों के वर्गीकरण की सबसे पुरातन पद्धति में उसे चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट व उनके प्रधान शिष्यों - गणधरों द्वारा सूत्र-रूप में ग्रथित अंग-आगमों तथा भगवान महावीर से पूर्व की प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव से लगाकर तेबीसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ तक की जैन परंपरा से प्राप्त ज्ञान-राशि स्वरूप पूर्वा के रूप में विभाजित किया गया था। अंग-सूत्रों की संख्या बारह है तथा पूर्व चौदह। भगवान महावनर की परंपरा में प्रचलित आगम साहित्य के संदर्भ में चौदह पूर्व बारहवें अंग-आगम दृष्टिवाद, जिसे काल के प्रभाव से तिरोहित हो गया माना जाता है, में ही समाहित हैं। अतः वर्तमान समय में बारहवाँ अंग-आगम दृष्टिवाद और उसमें निहित चौदह पूर्वा का ज्ञान उपलब्ध नहीं

हैं तथा केवल ग्यारह अंग-आगमों को ही सूचिबद्ध करने की तथा बारहवें अंग-आगम - दृष्टिवाद व चौदह पूर्वों का अलग से उल्लेख करने की परिपाटी सी बन गई है।

ग्यारह अंग-सूत्र निम्नानुसार हैं: -

१. आचारांग - यह कृति सम्यक् श्रमाणाचार पर है। इसे दो श्रुतस्कंधों में विभाजित किया गया है, प्रथम श्रुतस्कंध में नौ अध्याय व चालीस उद्देशक हैं। विषयवस्तु व भाषा की दृष्टि से आचारांग का प्रथम श्रुतस्कंध वर्तमान अर्द्धमागधी आगम साहित्य में सबसे प्राचीन सिद्ध होता है। द्वितीय भाग (श्रुतस्कंध) चूलिकाओं (पूरक सामग्री) के रूप में है जिसमें तीन चूलिकाएँ तथा सोलह अध्याय हैं। इस ग्रंथ में प्रथम श्रुतस्कंध के प्रथम अध्याय में प्रारंभ से ही सर्व प्राणियों के प्रति अहिंसा के भावों की धारा दिखाई देती है। सर्वत्र इस बात पर जोर दिया गया है कि सभी प्राणियों को जीवन प्रिय है, कोई भी प्राणी मरना या सताया जाना नहीं चाहता अतः हमें सभी प्रकार की मारक व त्रासद हिंसात्मक क्रियाओं का त्याग करना चाहिये। आगे के अध्यायों में इसी अहिंसा-सिद्धान्त पर आधारित श्रमण-चर्या के नियमों व उपनियमों का प्रतिपादन किया गया है। इसी श्रुतस्कंध के 'उपधान-श्रुत' नामक नवें अध्याय में भगवान महावीर के संबोधि व सर्वज्ञता प्राप्ति से पूर्व के साधनाकाल की चर्या, वसति, उपसर्गों तथा विहार-यात्राओं का बड़ा ही विषद व हृदयग्राही वर्णन किया गया है। इसमें उनके अनार्य देश की विहार-यात्राओं तथा उन्हें वहाँ के दुष्ट अनार्यों द्वारा दी गई यातनाओं तथा महावीर के उन यातनाओं को समभाव से सहन करने का भी उल्लेख है। द्वितीय श्रुतस्कंध में विभिन्न प्रकार की मुनि-चर्याओं का विस्तार से वर्णन है।
२. सूत्रकृतांग - इस आगम ग्रंथ में तत्कालीन जैन व अजैन धर्म-दर्शनों का विशद् विवरण प्राप्त होता है। इसके दो श्रुतस्कंधों में क्रमशः सोलह तथा सात अध्याय हैं। इस ग्रंथ की महत्ता इस बात में है कि इसमें उस समय प्रचलित सभी मुख्य धर्म-दर्शनों यथा - क्रियावाद,

अक्रियावाद, नियतिवाद, अज्ञानवाद, जगत्कर्तृत्ववाद, लोकवाद आदि का वर्णन व जैन दृष्टि से उनका निरसन भी मिलता है जो यह स्पष्ट करता है कि वे एकांतवादी धर्म-दर्शन वस्तुतः सही व सम्यक् क्यों नहीं थे।

३. स्थानांग - दस अध्यायों में निबद्ध इस आगम-ग्रंथ में जीव, पुद्गल आदि मूर्त व अमूर्त विषयों को उनकी संख्या के आधार पर वर्गीकृत करके संकलित किया गया है। इस ग्रंथ की विशेषता यह है कि इसमें विषय को प्रधानता न देकर महाभारत के वनपर्व, बौद्ध ग्रंथ अंगुत्तरनिकाय, पुद्गल-प्रज्ञप्ति, आदि के समान ही संख्याक्रम को ही प्रधानता दी गई है। प्रथम अध्याय में उन विषयों को सूचिबद्ध किया गया है जो एक-एक संख्या में पाए जाते हैं जैसे आत्मा, बंध, मोक्ष आदि; दूसरे अध्याय में दो-दो की संख्या में पाए जाने वाले विषयों का समावेश है इसी प्रकार बढ़ते-बढ़ते दसवें अध्याय में दस-दस की संख्या में पाए जाने वाले विषयों का उल्लेख है।
४. समवायांग - स्थानांग की ही तरह इस चतुर्थ आगम-ग्रंथ में भी विभिन्न विषयों को उनकी संख्या के आधार पर एक से सौ तक एक-एक की वृद्धि करते हुवे तथा तत्पश्चात् एकाधिक संख्या से वृद्धि करते हुवे एकत्र व सूचिबद्ध किया गया है। तदनुसार प्रथम समवाय में एक-एक की संख्या में पाए जाने वाले विषयों का समावेश है, दूसरे में दो-दो तथा इसी प्रकार सौवें में सौ-सौ की संख्या में पाए जाने वाले विषयों का उल्लेख है। इसके पश्चात् अनेकोत्तरिका वृद्धि से कोटा-कोटि (१०^{१४}) तक की संख्या वाले विषयों का उल्लेख है। इस ग्रंथ में मुख्यतः श्रमण-धर्म विषयक उल्लेख हैं तथा द्वादशांगी व उसके बाद भी अनेक विषयों का समावेश है।
५. व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवतीसूत्र) - महामंत्र नवकार का प्रथम उल्लेख करने वाले एवं मंगलाचरण से प्रारंभ होने वाले एकमात्र आगम के रूप में विश्रुत प्रश्नोत्तर शैली में निबद्ध इस पंचम अंग-आगम में विविध विषयों का निरूपण एक श्रुतस्कंध व १३८ शतकों में हुवा है। इसमें गणधर गौतम द्वारा पूछे गए ३६००० प्रश्नों का भगवान

महावीर द्वारा किया गया समाधान प्रस्तुत किया गया है जिसे गणधर सुधर्मा ने अपने शिष्य आर्य जंबू को सुनाया है। इस ग्रंथ की महत्ता इसी बात से जानी जा सकती है कि यह आगम विशालतम है, इसमें विषयवस्तु की अत्यंत विविधता है तथा विश्व-विद्या की ऐसी कोई विधा नहीं है जिसकी प्रत्यक्ष या परोक्ष चर्चा इस ग्रंथ में नहीं की गई हो। जैन-तत्त्व चर्चा व सिद्धांत का तो यह ग्रंथ सागर ही कहा जा सकता है। जन-मानस में इस ग्रंथ के प्रति जो श्रद्धा पाई जाती है उसका आभास इससे होता है कि इस ग्रंथ के नामोल्लेख के पूर्व भगवती विशेषण का प्रयोग किया जाता था जो अब इसके नाम के रूप में ही रूढ़ हो गया है। कई स्थलों पर भगवान महावीर के शिष्यों तथा भगवान पार्श्वनाथ की परंपरा के श्रमणों के बीच हुई चर्चाओं का वर्णन भी पाया जाता है जिनमें पार्श्वपत्य श्रमण समयानुसार भगवान महावीर द्वारा प्ररूपित पंचयाम धर्म की महत्ता व श्रेष्ठता को स्वीकार करके स्वयं के चातुर्याम धर्म को त्यागकर पंचयाम धर्म को ग्रहण कर लेते हैं। इसके पंद्रहवें शतक में मंखलि-गोशालक का व उसके आजीवक मृत का विस्तृत परिचय भी प्राप्त होता है। इस ग्रंथ में महाराजा चेटक व महाराजा कुणिक के बीच हुवे दो महायुद्धों - महाशिलाकंटक व रथ-मुशल संग्राम जैसी ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण घटनाओं का चित्रण व तत्कालीन राजनीति, समाज, संस्कृति, इतिहास-भूगोल, आदि पर जो प्रकाश डाला गया है वह अद्वितीय है।

६. ज्ञाताधर्मकथांग - दो श्रुतस्कंधों में विभाजित इस छोटे अंग-आगम ग्रंथ में ज्ञातपुत्र भगवान महावीर द्वारा धर्म-सिद्धांत निरूपण व धर्मरुचि जागृत करने के उद्देश्य से कही गई धर्मकथाओं का संकलन है। प्रथम श्रुतस्कंध में उन्नीस अध्ययन हैं तथा दूसरे श्रुतस्कंध में दस वर्ग हैं जिनमें ऐतिहासिक व कल्पित (घटित व घड़ित) दोनों प्रकार की कथाओं का समावेश है। प्रथम श्रुतस्कंध में मेघकुमार, धन्नासार्थवाह, थावच्चापुत्र, रोहिणी, पुण्डरीक-कुण्डरीक, द्रौपदी, गजसुकुमाल आदि की कथाएँ प्रमुख हैं। इसी श्रुतस्कंध में वर्णित दो

कछुओं की कथा पशु-कथाओं का प्रचीनतम उदाहरण है जिनसे संभवतया पंचतंत्र, ईसप की कथाएँ आदि जैसी कथा-विधा का सूत्रपात हुवा। द्वितीय श्रुतसंकंध में ऐसी दस कथाएँ हैं जिनमें विभिन्न साधिकाएँ अपनी साधना विराधित होने से मोक्ष प्राप्ति से वंचित होकर विभिन्न देवलोकों में इंद्र अग्रमहिषियों के रूप में जन्म लेती हैं। इस ग्रंथ की महत्ता धर्म स्थापना के अतिरिक्त कथा-काल के प्रचलित रीति-रिवाज, साधन-सामग्री, राज्य-व्यवस्था, समाज-संस्कृति आदि से वर्तमान पाठकों को परिचित कराने की दृष्टि से भी अत्यधिक है।

७. उपासकदशांग - इस सप्तम अंग-आगम-ग्रंथ के दस अध्यायों में भगवान महावीर के आनन्द आदि दस उत्कृष्ट उपासकों के जीवन-वृत्तों तथा उनकी श्रावक-साधनाओं का अत्यंत हृदयस्पर्शी वर्णन है। प्रथम अध्ययन में ही आनन्द को सागार श्रावक-धर्म के उपदेश के माध्यम से पाँच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों व चार शिक्षाव्रतों से संयुक्त श्रावकाचार का विशद् निरूपण है। व्रतों के साथ-साथ उनके अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार व अनाचार रूप अतिक्रमणों का भी वर्णन किया गया है। श्रावक द्वारा ग्रहणीय सल्लेखना-समाधिमरण व तद्विषयक अतिचारों का वर्णन भी है। आनन्द के अध्ययन में उसके स्वयं भगवान महावीर के श्रीमुख से व्रतोपदेश व व्रत-ग्रहण के वृत्तांत के साथ ही उसकी उत्कृष्ट साधना के फलस्वरूप उत्पन्न अत्यंत दूरग्राही अवधिज्ञान विषयक गणधर गौतम के संशय व भगवान द्वारा उस संशय के निवारणोपरांत उनकी श्रावक आनन्द से क्षमायाचना का विशेष विवरण भी प्राप्त होता है। शेष नौ अध्यायों में कामदेव प्रभृति नौ अन्य उपासकों की साधनाओं का संक्षिप्त वर्णन मिलता है। श्रावक-धर्म के विस्तृत विवेचन की दृष्टि से इस ग्रंथ को श्रावकाचार का आचारांग भी कहा जा सकता है। जिस प्रकार प्रथम अंग-आगम 'आचारांग' श्रमण-धर्म का वर्णन करता है वैसे ही यह ग्रंथ गृहस्थ जनों के लिये श्रावक-धर्म का प्रतिपादन व वर्णन करता है।

८. अंतकृद्दशांग - आठ वर्गों व नब्बे अध्ययनों में इस ग्रंथ में भगवान

अरिष्टनेमि के शासन के ५१ व भगवान महावीर के शासन के ३६ ऐसे साधकों की साधनाओं का वर्णन है जिन्होंने अपनी उत्कृष्ट साधना के बल पर उसी जन्म में मुक्ति प्राप्त की थी। सभी साधकों ने संसार से विरक्त होकर संयम अंगीकार किया, श्रुताध्ययन करके तथा उत्कृष्ट तपश्चर्या व अंत में अंतिम मरणांतिक संल्लेखना झूषणा आराधना द्वारा मुक्ति का वरण किया था। इन वर्णनों में सबसे हृदयस्पर्शी वर्णन राजिमती द्वारा रथनेमि को संयम में स्थिर करने तथा गजसुकमाल द्वारा अपने दीक्षा दिवस को ही अहोरात्रि श्रमण-प्रतिमा धारण करके मरणांतक उपसर्ग में भी भावोत्कर्ष द्वारा निर्वाण प्राप्ति का वर्णन है।

६. अनुत्तरोपपातिकदशांग - इस नवम् अंग-आगम के तीन वर्गों व तैतीस अध्ययनों में जालि, मयालि प्रभृति ऐसे तैतीस उत्कृष्ट साधकों का वर्णन है जिन्होंने अपनी साधना द्वारा पौंच अनुत्तरविमान देवलोको में जन्म लिया तथा जो वहाँ से च्यवित होकर अंतिम मनुष्य-भव से निर्वाण प्राप्त करेंगे। यह विचारणीय है कि इन तैतीस साधकों में से तेबीस राजकुमार तो मगध-सम्राट श्रेणिक बिंबिसार के पुत्र ही हैं। इस ग्रंथ में पादपोपगमन नामक कठिनतम समाधिमरण विधि का वर्णन है जिसमें साधक आमरण-अनशन करके भूपतित वृक्ष (पादप) वत बिना हिले-डुले समाधिपूर्वक मृत्यु का वरण करता है।
१०. प्रश्नव्याकरण - जैसा कि इस ग्रंथ के नाम से ही भसित होता है इसमें स्व-सिद्धांत तथा पर-सिद्धांत से संबंधित प्रश्न व उनके समसधान स्वरूप व्याख्याएँ होनी चाहिये। उपलब्ध उल्लेखों में भी इसमें मंत्र-तंत्र, निमित्त, चमत्कार, विचित्र-विद्यातिशय आदि विषयक प्रश्न व उनकी व्याख्याएँ होना मिलता है लेकिन कालक्रम में इस ग्रंथ का स्वरूप कुछ परिवर्तित हो गया है तथा वर्तमान में इसके दो भागों में से एक के पौंच अध्ययनों में हिंसा, असत्य, अदत्तादान, अब्रह्मचर्य व परिग्रह रूपी पौंच आस्रवद्वारों तथा दूसरे के पौंच अध्ययनों में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह रूपी पौंच संवरद्वारों का वर्णन मिलता है। इस ग्रंथ का आगम-साहित्य में एक विशिष्ट व

महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि इसके प्रश्न व उनके समाधान आध्यात्ममूलक व निवृत्ति प्रधान हैं।

११. विपाकसूत्र - इस ग्यारहवें अंग-आगम ग्रंथ में दो श्रुतस्कंध व प्रत्येक में दस अध्ययन हैं। दुःखविपाक नामक प्रथम श्रुतस्कंध के दस अध्ययनों में मृगापुत्र प्रभृति दस कथाओं के माध्यम से दुष्कृतों के दुष्फल स्वरूप मिलने वाले दुःखों का वर्णन है जिनको पढ़कर व्यक्ति दुष्कर्मों से विरत हो सके तथा सुखविपाक नामक द्वितीय श्रुतस्कंध के दस अध्ययनों में सुबाहुकुमार आदि की कथाओं के माध्यम से सत्कर्मों के सुफल स्वरूप प्राप्त होने वाले सुखों का वर्णन है जिनको पढ़कर व्यक्ति सत्कर्मों में प्रवृत्त हो सके।

१२. 'दृष्टिवाद' : बारहवों अंग-आगम -

इस अंग-आगम में, जिसके बारे में यह माना जाता है कि यह कालक्रम में विलुप्त हो गया है, पौंच भाग थे। वे इस प्रकार हैं -

- क. परिकर्म - इस खण्ड में लिपि-विज्ञान और सर्वांग पूर्ण गणित विद्या का विवेचन था जिनमें सभी गणितीय सूत्रों तथा विधियों का वर्णन था। इसके भी निम्नानुसार पौंच उपखण्ड थे -

- (i) चंद्रप्रज्ञप्ति,
- (ii) सूर्यप्रज्ञप्ति,
- (iii) जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति,
- (iv) द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, एवं
- (v) व्याख्यप्रज्ञप्ति,

- ख. सूत्र - इस विभाग में विभिन्न नय प्रणालियों तथा तत्कालीन मिथ्यावादों का वर्णन व उनका प्रभावी निरसन भी था।

- ग. पूर्वगत - इस उपखण्ड में चौदह पूर्वों का वर्णन था।

- घ. अनुयोग - इसके प्रथमानुयोग व गंडिकानुयोग नामक दो भागों में से पहले भाग में अरिहंतों के पंचकल्याणकों का सविस्तार वर्णन था तथा दूसरे में चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि शलाका पुरुषों

के चरित्र थे। दिगंबर परंपरा इसे प्रथमानुयोग के नाम से ही भासित करती है।

ड चूलिका - श्वेताम्बर परंपरा के समवायांग व नन्दीसूत्रों के अनुसार दृष्टिवाद के इस भाग में प्रथम चार पूर्वों की चूलिकाएँ थीं किंतु दिगंबर मान्यता के अनुसार इस भाग में जलगता, अग्निगता, थलगता, मायागता, रूपगता तथा आकाशगता ये छः चूलिकाएँ मानी गई हैं।

१. जलगता चूलिका - इसमें जल को स्थिर करके उस पर चलने की विद्या का वर्णन था।
२. अग्निगता चूलिका - इसमें अग्नि को शीतल करके उस पर चलने की विद्या का वर्णन था।
३. स्थलगता चूलिका - इसमें मेरु पर्वतादि अगम्य स्थलों पर चलने की विद्या का वर्णन था।
४. मायागता चूलिका - इसमें जादू-टोने आदि को निरस्त करने की विद्या का वर्णन था।
५. रूपगता चूलिका - इसमें विभिन्नरूप धारण करने की विद्या का वर्णन था। तथा
६. आकाशगता चूलिका - इसमें आकाशगमन की जंघाचारण विद्या का वर्णन था।

इस विभाजन के अनुसार दृष्टिवाद अंग के तीसरे भाग में चौदह पूर्वों का वर्णन था। वे चौदह पूर्व निम्नानुसार हैं: -

चौदह पूर्व -

१. उत्पाद पूर्व - इस पूर्व में सम्पूर्ण जीव व अजीव (ध्रुव) द्रव्य व उनकी (उत्पाद व व्यय के द्वारा घटित) पर्यायों की प्ररूपणा उत्पाद की दृष्टि से की गई थी।
२. अग्रायणीय पूर्व - इस पूर्व में सभी द्रव्य व पर्यायों के अग्रपरिमाण का वर्णन था। इसमें सात सौ अच्छे व बुरे नथों तथा षड्द्रव्यों, सप्त तत्त्वों तथा नव पदार्थों का भी वर्णन था।

३. वीर्यानुवाद पूर्व - इसमें सकर्म व निष्कर्म जीव व अजीव द्रव्यों के वीर्य - शक्ति विशेष का वर्णन था।
४. अस्तिनास्तिप्रवाद पूर्व - इसमें वस्तुओं के अस्तित्व व नास्तित्व के वर्णन के साथ धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि के अस्तित्व तथा आकाशकुसुम के नास्तित्व का प्रतिपादन किया गया था और प्रत्येक वस्तु के स्व-स्वरूप (स्वचतुष्टय - द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव) की अपेक्षा से अस्तित्व तथा पर-स्वरूप की अपेक्षा से नास्तित्व का भी प्रतिपादन था।
५. ज्ञानप्रवाद पूर्व - इस पूर्व में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्याय- ज्ञान व केवलज्ञान के भेद प्रभेदों का विस्तृत वर्णन था।
६. सत्यप्रवाद पूर्व - इसमें सत्यवचन व उसके प्रतिपक्ष पर विस्तार से प्रकाश डाला गया था।
७. आत्मप्रवाद पूर्व - इस पूर्व में आत्मा के स्वरूप, उसकी व्यापकता, उसके कर्तृत्व व भोक्तृत्व गुणों का विवेचन अनेक नयों की दृष्टि से किया गया था।
८. कर्मप्रवाद पूर्व - इसमें ज्ञानावरणीयादि अष्ट कर्मों की प्रकृतियों, स्थितियों व उनके परिणाम व बन्ध, सत्ता, उदय, उदीरणा आदि के भेद-प्रभेदों का विस्तार से निरूपण था।
९. प्रत्याख्यानप्रवाद पूर्व - इसमें आचार संबंधी नियमों तथा प्रत्याख्यान व उसके भेद-प्रभेदों का विस्तार से विस्तरेण किया गया था।
१०. विद्यानुवाद पूर्व - इस पूर्व में अतिशय चमत्कारी विद्याओं यथा उनको सिद्ध करने की साधनाओं का वर्णन था। इसमें अंगुष्ठप्रश्नादि ७०० लघु विद्याओं तथा रोहिणी आदि ५०० महाविद्याओं का वर्णन था। इसके साथ ही इसमें अंतरिक्ष, भौम, अंग, स्वर, स्वप्न, लक्षण, व्यंजन और छिन्न इन आठ निमित्तों द्वारा भविष्य-कथन की विधि का भी वर्णन था।
११. अवन्ध्य पूर्व - इसमें ज्ञान, तप आदि सत्कृत्यों को शुभफलदायक व कषाय, प्रमाद आदि असत्कृत्यों को अशुभफलदायक बतलाया गया था तथा यह भी बतलाया गया था कि शुभाशुभ कृत्यों के फल निश्चित

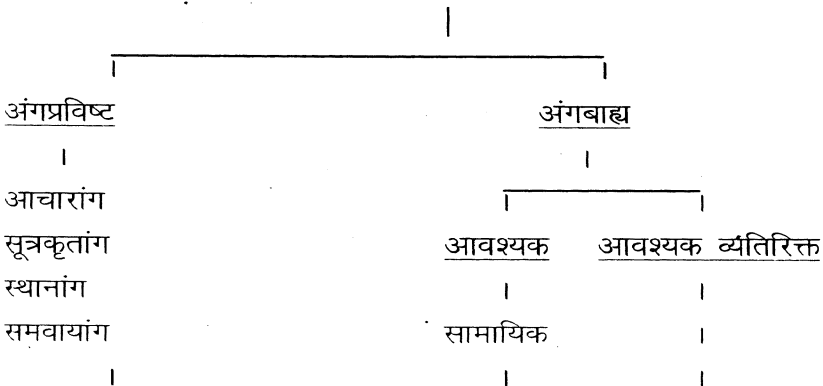
रूप से मिलते हैं। दिगम्बर मान्यतानुसार कल्याणप्रवाद नामक इस पूर्व में त्रिषष्टि शलाका पुरुषों से संबंधित वर्णन था।

१२. प्राणायु पूर्व - इसमें आयु व प्राणों के भेद-प्रभेदों का विस्तार से निरूपण था। दिगम्बर मान्यतानुसार इस पूर्व में काय-चिकित्सा व मंत्र-सिद्धि-विधान से संबंधित वर्णन था।
१३. क्रियाविशाल पूर्व - इसमें संगीत-शास्त्र, छंद, अलंकार, पुरुषों की ७२ कलाओं, स्त्रियों की ६४ कलाओं, ८४ प्रकार के शिल्प, विज्ञान, गर्भावधारण आदि क्रियाओं, दर्शन, वंदन, नित्य-नियम, आध्यात्मिक चिंतन आदि लौकिक व लोकोत्तर क्रियाओं का वर्णन था।
१४. त्रिलोकबिंदुसार पूर्व - इस पूर्व में लौकिक व पारलौकिक सभी प्रकार की विद्याओं का संपूर्ण रूप से ज्ञान प्राप्त कराने वाली सर्वाक्षर सन्निपातादि विशिष्ट लब्धियों का वर्णन था। दिगम्बर मान्यतानुसार यह तेरहवों पूर्व था। चौदहवों पूर्व चूलिका पूर्व था; जिसका वर्णन पूर्व में किया जा चुका है।

अंगप्रविष्ट व अंगबाह्य आगम -

आगमों का द्वितीय वर्गीकरण अंगप्रविष्ट व अंगबाह्य आगमों रूप में किया गया था। नन्दीसूत्र के अनुसार यह वर्गीकरण निम्न वृक्षानुसार दिखाया जा सकता है: -

आगम या श्रुत



व्याख्याप्रज्ञप्ति	चतुर्विंशतिस्तव
ज्ञाताधर्मकथांग	वन्दना
उपासकदशांग	प्रतिक्रमण
अन्तकृद्दशांग	कायोत्सर्ग
अनुत्तरोपपातिकदशांग	प्रत्याख्यान
प्रश्नव्याकरण	
विपाकसूत्र	
दृष्टिवाद	

कालिक सूत्र

उत्तराध्ययन
दशाश्रुतस्कंध
कल्प
व्यवहार
निशीथ
महानिशीथ
ऋषिभाषित
जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
द्वीपसागरप्रज्ञप्ति
चन्द्रप्रज्ञप्ति
क्षुल्लिकाविमानप्रविभक्ति
महल्लिकाविमानप्रविभक्ति
अंगचूलिका
वग्गचूलिका
विवाहचूलिका
अरुणोपपात

उत्कालिक सूत्र

दशवैकालिक
कल्पिकाकल्पिक
चुल्लकल्पश्रुत
महाकल्पश्रुत
औपपातिक
राजप्रश्नीय
जीवाभिगम
प्रज्ञापना
महाप्रज्ञापना
प्रमादाप्रमाद
नन्दीसूत्र
अनुयोगद्वार
देवेन्द्रस्तव
तंदुलवैचारिक
चन्द्रवेद्यक
सूर्यप्रज्ञप्ति

वरुणोपपात	पौरुषीमंडल
गरुडोपपात	मण्डलप्रवेश
धरणोपपात	विद्याचरणविनिश्चय
वैश्रमणोपपात	गणिविद्या
वेलन्धरोपपात	ध्यानविभक्ति
देवेन्द्रोपपात	मरणविभक्ति
उत्थानश्रुत	आत्मविशोधि
समुत्थानश्रुत	वीतरागश्रुत
नागपरिज्ञापनिका	संलेखनाश्रुत
निरयावलिका	विहारकल्प
कल्पिका	चरणविधि
कल्पावतंसिका	आतुरप्रत्याख्यान
पुष्पिका	महाप्रत्याख्यान
पुष्पचूलिका	
वृष्णिदशा	

चार अनुयोग -

आगमों का तृतीय वर्गीकरण उनमें वर्णित विषयों के आधार पर किया गया है। सभी आगमा ग्रंथों को विषयानुसार वार भागों में बाँट लिया गया जिन्हें अनुयोग कहा गया। चार अनुयोग इस प्रकार हैं -

१. चरणकरणानुयोग - इस अनुयोग में श्रमणाचार विषयक ग्रंथ हैं जो तद्विषयक अतिचारों व अनाचारों तथा तदनुरूप प्रयश्चित्त-विधान का वर्णन करते हैं। इसमें सभी कालिक श्रुत तथा दशवैकालिक, महाकल्प, छेद-सूत्र आदि आते हैं।
२. धर्मकथानुयोग - ऋषिभाषित, उत्तराध्ययन आदि मूलतः धर्मकथा विषयक आगम-ग्रंथ इस अनुयोग में सम्मिलित किये गए हैं।
३. गणितानुयोग - इस अनुयोग में वे ग्रंथ सम्मिलित किये गए हैं जिनका अध्ययन गणितीय गणनाओं के बिना नहीं किया जा सकता है। इसमें

चंद्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति आदि ग्रंथ आते हैं।

४. द्रव्यानुयोग - जीव व अजीव द्रव्यों के द्रव्य, गुण, पर्याय, तत्त्व आदि के विश्लेषण से संबंधित ग्रंथ जैसे कि दृष्टिवाद आदि इस अनुयोग के अंतर्गत आते हैं।

दिगम्बर मान्यतानुसार चार अनुयोग निम्नानुसार हैं: -

१. प्रथमानुयोग में महापुरुषों के जीवन चरित्र हैं।
२. करणानुयोग में लोकालोकविभक्ति, काल, गणित आदि का वर्णन है।
३. चरणानुयोग में श्रमणाचार का निरूपण है।
४. द्रव्यानुयोग में द्रव्य, गुण, पर्याय, तत्त्व आदि का वर्णन है।

वर्तमान वर्गीकरण -

आगम-ग्रंथों का वर्तमान वर्गीकरण अंग, उपांग, मूल व छेद सूत्रों के रूप में है। श्वेतांबर स्थानकवासी व तेरापंथी संप्रदायों द्वारा मान्य बत्तीस आगमों (श्वेतांबर मूर्तिपूजक संप्रदाय ४५ आगमों को मानती है) में ग्यारह अंग-आगम, बारह उपांग, चार मूलसूत्र, चार छेदसूत्र व एक आवश्यकसूत्र हैं। वे इस प्रकार हैं: -

ग्यारह अंग-आगम -

इनका वर्णन अंगप्रविष्ट आगमों के अंतर्गत कर दिया गया है।

बारह उपांग-आगम -

साधारणतया उपांग-आगम अपने समसंख्यक अंगआगमों से विषयसाम्य रखते हैं। वे निम्नानुसार हैं: -

१. औपपातिक,	२. राजप्रश्नीय,
३. जीवाभिगम,	४. प्रज्ञापना,
५. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति,	६. सूर्यप्रज्ञप्ति,
७. चन्द्रप्रज्ञप्ति,	८. निरयावलिका (कल्पिका),
९. कल्पावतंसिका	१०. पुष्पिका,

११. पुष्पचूलिका,

१२. वृष्णिदशा.

चार मूलसूत्र -

१. उत्तराध्ययनसूत्र - यह प्रथम मूलसूत्र इस मान्यता के कारण अत्यंत प्रसिद्ध है कि यह भगवान महावीर की निर्वाण से पूर्व दी गई अंतिम व अपृष्ठ देशना है। यह ग्रंथ अपने आप में एक अत्यंत महत्वपूर्ण व अद्वितीय ग्रंथ है जिसे सर्वतोमुखी व सर्वश्रेष्ठ जैन ग्रंथ कहना भी अतिशयोक्ति नहीं होगी क्योंकि इसमें समस्त जैन वांग्मय का सार संग्रहित है। इसके छत्तीस अध्यायों में जैन-धर्म के सभी पक्षों - सिद्धांत, तत्त्व, आचार, नीति, कथा आदि हर विधा का निरूपण हुवा है। प्रमुखतया यह धर्मकथानुयोग का ग्रंथ होते हुवे भी इसमें चारों अनुयोगों का सुंदर सम्मिश्रण हुवा है। इसके छत्तीस में से पैंतीस अध्याय गेय मात्रिक छंद में निबद्ध होने के कारण इसे श्रमण-काव्य की परंपरा का ग्रंथ होने की प्रतिष्ठा भी प्राप्त है। जैन-आगम साहित्य का यह अत्यंत लोकप्रिय ग्रंथ है जिसे बहुत श्रद्धा व चाव से पढ़ा व पढ़ाया जाता है तथा इसकी लोकप्रियता इसी बात से भासित होती है कि इस ग्रंथ पर प्राचीनकाल से लगाकर अब तक सर्वाधिक व्याख्या साहित्य का प्रणयन हुवा है। इसे जैन-गीता की संज्ञा से भी नामित किया जाता है।
२. दशवैकालिकसूत्र - श्रमण-काव्य परंपरा का श्रुतकेवली आर्य शय्यंभव द्वारा रचित यह दूसरा ग्रंथ है जिसमें श्रमणाचार के सारभूत नियमों को संक्षेप में संकलित किया गया है।
३. नन्दीसूत्र - पौंच ज्ञानरूप नन्दीसूत्र मंगलस्वरूप है। इसे चूलिकासूत्र भी कहा जाता है। सम्यग्ज्ञान को समर्पित देववाचकगणि द्वारा रचित इस ग्रंथ में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान व केवलज्ञान की विभिन्न पक्षों से सर्वांगीण समीक्षा की गई है। इसमें विभिन्न आगमों की विषयवस्तु का भी वर्णन उपलब्ध है तथा जैन धर्म-संघ के प्रथम आचार्य आर्य सुधर्मा से लगाकर वलभी-वाचनी के अध्यक्ष देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण पर्यंत स्थविरावलि भी दी गई है जिसके ऐतिहासिक महत्व को

नहीं नकारा जा सकता है।

४. अनुयोगद्वार - यह एक व्याख्यात्मक ग्रंथ है जो अन्य अंग, उपांग आदि आगम-ग्रंथों को चारों अनुयोगों के परिप्रेक्ष्य में समझने में कुंजी की भांति सहायक है।

चार छेदसूत्र -

छेदसूत्र अनुशासनात्मक ग्रंथ हैं जिनमें श्रमणाचार कें विभिन्न पक्षों यथा उत्सर्ग, अपवाद, दोष व प्रयश्चित्त का सुंदर समन्वय मिलता है। विधित नियमों के अतिक्रमणों के लिये इनमें प्रायश्चित्त या दंड के विधान हैं। चार छेदसूत्र निम्नानुसार हैं: -

१. निशीथसूत्र - निशीथ का स्थान छेदसूत्रों में सर्वोपरि है। इसमें श्रमणचार के अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार व अनाचारों के लिये प्रायश्चित्त व दीक्षा-छेद जैसे दंड-विधानों का वर्णन है।
२. व्यवहारसूत्र - श्रुतकेवली भद्रबाहु द्वारा दस उद्देशकों में रचित इस चरणानुयोग के ग्रंथ में श्रमणाचार के विभिन्न पक्षों यथा पिंडैषणा, विहारचर्या, आदि के नियम तथा उनके उल्लंघन के लिये प्रायश्चित्त आदि के विधान हैं।
३. वृहत्कल्प - व्यवहारसूत्र के पूरक इस छेदसूत्र में भी उसके समान श्रमणाचार से संबंधित त्याग, संयम, उनके उल्लंघन व प्रायश्चित्त आदि विषयों का ही समावेश है।
४. दशाश्रुतस्कंध - आचारदशा के नाम से विश्रुत इस चतुर्थ छेदसूत्र की रचना आचार्य भद्रबाहु द्वारा की गई थी। इसके दस श्रुतस्कंधों में श्रमणों की आचार-संहिता पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। इसी ग्रंथ का आठवाँ अध्याय प्रसिद्ध कल्पसूत्र है जिसमें श्रमणों के चातुर्मास-कल्प की व्यवस्था दी गई है तथा जिसका वाचन प्रतिवर्ष पर्युषण-पर्व के अवसर पर किया जाता है।

आवश्यकसूत्र - यह ग्रंथ श्वेतांबर स्थानकवासी व तेरापंथी परंपरा मान्य बत्तीसवाँ आगम-ग्रंथ है जिसमें जैन श्रमण-श्रमणियों के लिये आवश्यक रूप

से करणीय छः आवश्यक दैनन्दिन कार्य-कलापों का निरूपण है। ये कार्य हैं - १. सामायिक, २. चतुर्विंशतिस्तव, ३. वंदन, ४. प्रतिक्रमण, ५. कायोत्सर्ग व ६. प्रत्याख्यान।

पैंतालीस आगम -

जैसा कि पूर्व में उल्लेख कर दिया गया है श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परंपरा पैंतालीस ग्रंथों को आगमो के रूप में मानती है। वे पैंतालीस आगम-ग्रंथ निम्नानुसार हैं: -

१-११.	पूर्व-वर्णित ग्यारह अंग-आगम,	
१२-२३.	पूर्व-वर्णित बारह उपांग-आगम,	
२४-२६.	छः मूलसूत्र -	
२४.	आवश्यकसूत्र,	२५. दशवैकालिकसूत्र,
२६.	उत्तराध्ययनसूत्र,	२७. नन्दीसूत्र,
२८.	अनुयोगद्वारसूत्र, एवं	
२९.	पिंडनिर्युक्ति-ओघनिर्युक्ति	
३०-३५.	छः छेदसूत्र -	
३०.	निंशीथसूत्र,	३१. महानिशीथसूत्र,
३२.	वृहत्कल्प,	३३. व्यवहारसूत्र,
३४.	दशाश्रुतस्कन्ध, एवं	३५. पंचकल्प.
३६-४५.	दस प्रकीर्णक -	
३६.	आतुरप्रत्याख्यान, ३७.	भक्तपरिज्ञा,
३८.	तंदुलवैचारिक,	३९. चन्द्रवेद्यक,
४०.	देवेन्द्रस्तव,	४१. गणिविद्या,
४२.	महाप्रत्याख्यान,	४३. चतुःशरण,
४४.	वीरस्तव, एवं	४५. संस्तारक.

पौंच आगम-वाचनाएँ -

प्रारंभ से ही आगमिक साहित्य के संरक्षण का प्रश्न जैन मुनियों को

आंदोलित करता रहा है। वेदिक ऋषियों की भाँति वे श्रुत-ज्ञान को ताड़पत्र आदि पर न लिखकर स्मृति में ही धारण करते थे तथा श्रुत-परंपरा से ही उसे अपने-अपने शिष्यों को प्रदान करते थे। इसकी पृष्ठभूमि में जैन-धर्मानुसार ताड़पत्र, स्याही, कलम आदि लेखन-सामग्री बनाने में होने वाले सावध-कर्म से बचना भी एक प्रमुख कारण था। दूसरा कारण यह था कि जैन श्रमण विचरणशील थे जो निरंतर एक स्थान से दूसरे स्थान को विहार करते रहते थे तथा उन्हें एक ही स्थान पर आश्रम बनाकर रहने वाले वेदिक ऋषियों की भाँति श्रुत का निरंतर पारायण करने की सुविधा का अभाव था। वे अपनी चर्या में से इतना समय ही नहीं निकाल पाते थे कि संपूर्ण-श्रुत का नियमित अभ्यास कर सकें। तीसरा कारण यह था कि वेद-मंत्रों की भाँति आगम-सूत्रों का दैनंदिन यज्ञ-हवन आदि कर्मकाण्ड में कोई उपयोग नहीं था न ही उपासकों के सांसारिक जीवन में उनका कोई महत्व था, अतः उनका दैनंदिन पारायण इस दृष्टि से भी संभव नहीं था। चौथा कारण ज्ञात इतिहास में दो बार पड़ने वाले बारह वर्ष लंबे दुर्भिक्ष थे जिनकी वजह से श्रमणों को अकाल ग्रस्त क्षेत्रों से सुदूर दक्षिण-भारत की ओर प्रस्थान करना पड़ा तथा ऐसे दुष्काल में जब जीवन धारण ही दूभर हो रहा था श्रुत-ज्ञान का विस्मृत व अव्यवस्थित होजाना असंभव नहीं था। इन विभिन्न कारणों से जैन-श्रमण आगम-श्रुत का नियमित अभ्यास नहीं कर सके तथा वह आंशिक रूप से विस्मृत हो गया।

इन्हीं कारणों को दृष्टिगत रखते हुवे समय-समय पर श्रुत-संरक्षण के प्रयास किये गए। भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात अब तक पाँच बार श्रमण-सभाएँ आयोजित करके श्रुत-ज्ञान को संकलित करने के प्रयास किये गए जिन्हें आगम-वाचनियों कहा जाता है। अब तक आयोजित पाँच आगम-वाचनियों निम्नानुसार हैं: -

१. पाटलिपुत्र वाचना -

प्रथम वाचना भगवान महावीर के निर्वाण के १६० वर्षों के बाद

पाटलिपुत्र (वर्तमान पटना, बिहार) में श्रुतकेवली भद्रबाहु व उनके प्रमुख शिष्य आचार्य स्थूलिभद्र के निर्देशन में आयोजित श्रमण-सभा में की गई। इस श्रमण-सभा में की गई वाचना में ग्यारह अंग-आगमों तथा बारहवें अंग-आगम दृष्टिवाद में से चौदह में से केवल दस पूर्वों का ही संकलन किया जा सका। जैन जनश्रुत्यानुसार श्रुतकेवली भद्रबाहु के पश्चात आर्य स्थूलिभद्र ही एकमात्र ऐसे श्रमण थे जिन्हें चौदह पूर्वों के मूल का व दस पूर्वों के अर्थ का ज्ञान था।

२. दूसरी वाचना -

दूसरी आगम-वाचना ईसा पूर्व दूसरी शताब्दि में भगवान महावीर के निर्वाण के लगभग ३०० वर्षों बाद सम्राट खारवेल के शासनकाल में उड़ीसा के कुमारीपर्वत पर आयोजित श्रमण-सभा में हुई। इस वाचना के बारे में पूर्ण विवरण ज्ञात नहीं है केवल इतना ही कि इस वाचना में मौर्यकाल में आए दुर्भिक्ष काल में विस्मृत श्रुत-ज्ञान को एकत्र करने का प्रयास किया गया।

३. माथुरी वाचना -

दूसरे बारह वर्षीय दुर्भिक्ष के पश्चात आर्य स्कंदिल के निर्देशन में भगवान महावीर के निर्वाण के ८४० वर्षों बाद मथुरा में आयोजित इस श्रमण-सभा में की गई वाचना में भी श्रुतज्ञान को मौखिक ही संकलित किया गया।

४. नागार्जुनीय वाचना -

माथुरी वाचना के समकालीन ही एक और वाचना गुजरात प्रदेश के वलभी नगर में आर्य नागार्जुन के निर्देशन में आयोजित की गई। इस वाचना में भी श्रुत-ज्ञान का संकलन मौखिक ही किया गया। आगमों का लेखन न किये जाने के कारण इनका विस्मरण होता रहा तथा शीघ्र ही एक और वाचना की आवश्यकता प्रतीत हुई जिसे पुनः वलभी नगर में ही आयोजित किया गया जो आज वलभी-वाचना के नाम से विश्रुत है।

५. वलभी वाचना -

आगमों का लेखन न किये जाने के कारण इनका विस्मरण होता रहा तथा शीघ्र ही एक और वाचना की आवश्यकता प्रतीत हुई जिसे पुनः वलभी नगर में ही आयोजित किया गया जो आज वलभी-वाचना के नाम से विश्रुत है। यह वाचना वीर-निर्वाण के ६८० वर्षों पश्चात् देवर्द्धिगणि 'क्षमाश्रमण' के निर्देशन में आयोजित की गई जिसमें प्रथम बार आगम-श्रुतज्ञान को संकलित करके लिखा गया। आगमों का वर्तमान में उपलब्ध स्वरूप वही है जो इस वाचना में निर्धारित किया गया था।

प्रकीर्णक -

प्रकीर्णक का सामान्य अर्थ है विविध आध्यात्मिक विषयों पर रचित ग्रंथ। ऐसा माना जाता है कि तीर्थकरों के श्रीमुख से उपदेश श्रवण करनेवाले श्रमण उनके उपदेशों के आधार पर विविध विषयों पर ग्रंथ-रचना करते थे जो प्रकीर्णक कहलाए। इस आधार पर प्रकीर्णकों की संख्या हजारों में होनी चाहिये किंतु आज केवल २२ प्रकीर्णक उपलब्ध हैं जिनमें से भी केवल दस ही श्वेतांबर मूर्तिपूजक परंपरा मान्य ४५ आगमों में सम्मिलित हैं जिनका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है।

शौरसेनी आगम -

जैसा कि पूर्व में इंगित किया जा चुका है, दिगंबर परंपरा का मानना है कि भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट एवं श्रुत-परंपरा द्वारा प्रदत्त आगम-ज्ञान का अधिकांश भाग कालक्रम में विस्मृत हो गया तथा उसका कुछ ही अंश स्मरण रहा। महान श्रुतज्ञ आचार्यों द्वारा उस आंशिक ज्ञान के आधार पर शौरसेनी प्राकृत भाषा में ग्रंथों की रचना की गई जो आज दिगंबर परंपरा में आगम के रूप में मान्य हैं तथा उन्हें शौरसेनी आगमों नाम से जाना जाता है। वे निम्नानुसार हैं: -

षट्खण्डागम -

आचार्य घरसेन ने दो दिगंबर मुनियों - पुष्पदंत व भूतबलि को श्रुत का उपदेश दिया तथा प्रेरणा दी कि वे जैनों की आने वाली पीढ़ियों के कल्याणार्थ इस श्रुतज्ञान का ग्रंथ रूप में प्रणयन करें। इन्हीं दो मुनियों द्वारा शौरसेनी श्रुत परंपरा की छः खण्डों में रचित इस महान्तम कृति की रचना की गई जो षट्खण्डागम के नाम से विश्रुत है। यह दिगंबर परंपरा का आद्य ग्रंथ है। उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि इस ग्रंथ की रचना प्रथम शक-शताब्दि में हुई। इसके छः भागों का विवरण इस प्रकार है: -

१. जीवद्वान - जीवस्थान नामक इस भाग में जीवों के प्रकृति, गुण, स्थिति आदि का विवरण सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन्, काल, अंतर, भाव, व अल्प-बहुत्व की अपेक्षा से दिया गया है। इसमें जीव के सम्यक्त्व प्राप्ति आदि के कारणों पर भी प्रकाश डाला गया है।
२. खुदाबंध - क्षुद्रकबंध के तेरह अध्यायों में जीव द्वारा कर्म के बंधत्व व अबंधत्व के कारणों की संक्षेप में विवेचना मार्गणास्थानों के संदर्भ में की गई है। जैन कर्म-सिद्धान्त के अध्ययन में इस भाग का महत्वपूर्ण स्थान है।
३. बंधसामित्तविचय - इस बंधस्वामित्वविचय नामक भाग में गुणस्थान व मार्गणास्थान के संदर्भ में विभिन्न कर्म-प्रकृतियों का बंध किन प्राणियों को हो सकता है व किनको नहीं इसका प्रश्नोत्तर रूप में व्याख्यान किया गया है।
४. वेदनाखण्ड - पूर्व-साहित्य के कर्म-प्राभृत के पहले दो भाग - कृति व वेदना को संयुक्त रूप से वेदनाखण्ड कहा जाता है। अतः ऐसा लगता है कि इस खण्ड का प्रणयन पूर्वों के कर्म-प्राभृत के आधार पर किया गया है। इसके प्रथम 'कृति' भाग में नाम, स्थापना, द्रव्य, गणना, ग्रंथ, करण और भाव कृतियों पर प्रकाश डाला गया है तथा द्वितीय 'वेदना' भाग में वेदना की विचारणा सोलह अनुयोगद्वारों से की गई है।
५. वर्गणाखण्ड - इस खण्ड में पुद्गल की कर्म-वर्गणा का विस्तार से विभिन्न नय, निक्षेप व अनुयोगद्वारों के सापेक्ष स्पर्श, कर्म व प्रकृति

नामक तीन भागों में की गई है।

६. महाबंध - इस खण्ड में कर्म के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग व प्रदेश का इतना विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है कि जहाँ षट्खण्डगम के प्रथम पौंच खण्डों का सम्मिलित विस्तार केवल ६००० श्लोक प्रमाण है, इस अकेले खण्ड का विस्तार ३०००० श्लोक प्रमाण है। शायद इसीलिये इसे महाबंध नाम दिया गया तथा इस पर किसी टीका की आवश्यकता भी प्रतीत नहीं हुई।

षट्खण्डागम के प्रथम पौंच खण्डों पर आचार्य वीरसेन द्वारा ७०००० श्लोक प्रमाण 'धवला' टीका लिखी गई है।

कषायपाहुड़ -

यह महत्वपूर्ण शौरसेनी आगम, जिसका दूसरा नाम पेज्जदोसपाहुड़ (राग-द्वेषप्राभृत) भी है तथा जो मुख्यतया कषाय, राग व द्वेष के विषय को विवेचित करता है, आचार्य गुणधर द्वारा रचित है। इसमें यह दिग्दर्शन कराया गया है कि किस प्रकार प्राणियों के अन्य प्राणियों व पदार्थों के प्रति राग व द्वेष की परिणति चार कषायों में होती है। इन कषायों की प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, तथा मात्रा ही इस ग्रंथ का अभिधेय है। डॉ. नेमिचंद्र जैन के अनुसार यह ग्रंथ षट्खण्डागम से भी प्राचीन है तथा कुंदकुंदाचार्य के ग्रंथों से तो अति प्राचीन है। उनके तथा अन्य भी अनेक दिगंबर विद्वानों के मतानुसार इसका रचनाकाल ईस्वी प्रथम शताब्दि होना चाहिये। यह तथ्य भाषा की दृष्टि से भी प्रमाणित होता है, क्योंकि निश्चित ही इस ग्रंथ की भाषा षट्खण्डागम की भाषा से प्राचीन स्तर की है।

कषायपाहुड़ में कुल सोलह अधिकार (अध्याय) हैं जिनमें से पहले आठ अध्यायों में प्राणियों के संसार-भ्रमण के लिये मुख्य रूप से उत्तरदायी मोहनीय कर्म के विभिन्न पक्षों का अत्यंत गंभीरता एवं विस्तार से विवेचन किया गया है तथा शेष आठ अध्यायों में मोहनीय कर्म के क्रम से क्षय होने की स्थिति में प्राणियों के आध्यात्मिक उन्नयन का विश्लेषण किया गया है।

आध्यात्मिक विकास के विभिन्न चरणों में मोहनीयकर्म की विभिन्न दशाओं पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। इस ग्रंथ में कर्मास्रव, कर्मबंध, कर्म-स्थिति, कर्मोदय, कर्म-निर्जरा आदि का भी सांगोपांग वर्णन है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि यह ग्रंथ मोह द्वारा प्रायोजित राग व द्वेष का बड़ा ही हृदयग्राही चित्रण प्रस्तुत करता है तथा यह विश्लेषित करता है कि मोहनीयकर्म के प्रभाव से प्राणी किस प्रकार राग-द्वेष के वशीभूत होकर ऐसे कर्म करता है जो कर्मास्रव व बंध के कारण होते हैं तथा मोहनीयकर्म के क्षीण होने पर वह किस प्रकार कर्म-निर्जरा करता है।

आगम-सम शौरसेनी साहित्य -

दिगम्बर जैन परंपरा के कुंदकुंदाचार्य आदि महान पूजनीय आचार्यों के निम्नोक्त कुछ ग्रंथ ऐसे हैं जो आगम-शास्त्रों के समान ही माने तथा पूजे जाते हैं: -

आचार्य कुंदकुंद के ग्रंथ -

कुंदकुंदाचार्य के प्रमुख ग्रंथ निम्नानुसार हैं -

१. प्रवचनसार,
२. समयसार,
३. पंचास्तिकाय,
४. अट्टपाहुड़ (अष्टप्राभृत) जिसमें निम्न आठ प्राभृतों का संग्रह है -

दर्शनप्राभृत,	सूत्रप्राभृत,
चारित्रप्राभृत,	बोधप्राभृत,
भावप्राभृत,	मोक्षप्राभृत,
लिंगप्राभृत, तथा	शीलप्राभृत,
५. नियमसार,
६. बारसाणुवेक्खा (द्वादशानुप्रेक्षा),
७. रयणसार, आदि

यतिवृषभ की तिलोयपण्णत्ति -

यह जैन लोक-विज्ञान पर शौरसेनी प्राकृत का एक बहुमूल्य ग्रंथ है। लोक-विज्ञान पर इस ग्रंथ में पाए गए सामान्यलोक, नारकलोक, भवनलोक, नरलोक, आदि वर्णनों तथा अर्द्धमागधी प्राकृत के तीन ग्रंथों - चन्द्र-प्रज्ञप्ति, सूर्य-प्रज्ञप्ति व जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति में प्राप्त वर्णनों में कुछेक में कुछ अंतर हैं किंतु अधिकतर वर्णन समान ही हैं।

वट्टकेर का मूलाचार -

यह एक अमूल्य ग्रंथ है जिसमें श्रमणाचार के नियमों व उपनियमों का विषद विवेचन किया गया है। इस ग्रंथ की कई गाथाएँ आवश्यक निर्युक्ति, पिंडनिर्युक्ति, भक्तपइण्णा (भक्तपरिज्ञा), मरणसमाधि आदि अर्द्धमागधी ग्रंथों में भी पाई जाती हैं।

शिवार्य की भगवती-आराधना -

यह एक और पुरातन शौरसेनी प्राकृत ग्रंथ है जिसका प्रणयन विक्रम की तीसरी शती के विद्वान आचार्य शिवकोटि ने किया। यह ग्रंथ चार भागों में विभाजित है - १. सम्यग्दर्शनाधिकार, २. सम्यग्ज्ञानाधिकार, ३. सम्यक्चारित्राधिकार एवं ४. सम्यक्त्तपाधिकार। इन भागों में इनके इंगित विषयों का अत्यंत विस्तार पूर्वक विवेचन किया गया है।

स्वामी कार्तिकेय की कार्तिकेयानुप्रेक्षा -

यह ग्रंथ आध्यात्मिक उन्नति में सहायक बारह अनुप्रेक्षाओं का विषद् विवेचन प्रस्तुत करता है।

आचार्य नेमिचंद्र सिद्धान्तचक्रवर्ती का साहित्य -

आचार्य नेमिचंद्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ग्यारहवीं ईस्वी सदी के एक महान विद्वान आचार्य हुवे जिन्होंने कई ग्रंथों का प्रणयन किया जिनमें से कई आज तक प्रसिद्ध हैं। वे हैं -

- १ गोमटसार,
- २ त्रिलोकसार,
- ३ लब्धिसार,
- ४ क्षपणासार, एवं
- ५ द्रव्यसंग्रह.

उपसंहार -

ज्ञान अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसका महत्व इस बात में निहित है कि सूक्ष्मातिसूक्ष्म एकेन्द्रिय प्राणियों से लगाकर अति विकसित संज्ञी पंचेन्द्रिय प्राणियों में ज्ञान-दर्शन रूप उपयोग पाया जाता है अतः ज्ञान सब प्राणियों का प्राकृतिक, व आवश्यक मौलिक गुण है। ज्ञान ही उपयोग का दृष्टिगोचर भाग है, ज्ञानहीनता को ही जड़ता कहते हैं तथा वह अजीव का लक्षण है।

ज्ञान का दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि सम्यक्चारित्र का पालन भी सम्यग्ज्ञान के सद्भाव में ही हो सकता है, तथैव ज्ञानियों ने सदैव यही कहा, “प्रथम ज्ञान तब चारित्र (पढमं नाणं तओ दया)”।

यद्यपि ज्ञान जीवन का आवश्यक प्राकृतिक लक्षण है, इसका सम्यक् प्रकटीकरण कर्मावरण से अवगुंठित रहता है। ज्ञान को आवृत्त करनेवाला ज्ञानावरणीय कर्म है। ज्ञाननावरणीय कर्म के आवरण के हटने से ही पाँच प्रकार के ज्ञान - मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान तथा केवलज्ञान प्रकट होते हैं। ज्योंही चार घातिया कर्मों का क्षय हो जाता है, आत्मा पूर्णतया प्रभासित होकर अपनी संपूर्ण शुद्धता, संपूर्ण सौंदर्य व संपूर्ण शक्ति को जागृत कर लेती है तथा वह सर्वशुद्ध, अप्रतिपाती, अनंत एवं दिव्य केवलज्ञान को प्राप्त करती है, वह सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो जाती है। संपूर्ण आध्यात्म-साधना का अंतिम लक्ष्य यही है, इसके प्रकट होने पर कुछ भी प्रच्छन्न नहीं रहता सब प्रत्यक्ष हो जाता है। इसके प्रकटन के साथ ही यह भी सुनिश्चित हो जाता है कि अब आत्मा का भव-भ्रमण भी उसी भव में

१४६ : जैन-धर्म : जीवन-धर्म

शेष चार अघातिया कर्मों के क्षय के साथ ही समाप्त होने को है। यह (केवल) ज्ञान ही मर्त्यलोक के प्राणी के अमरत्व की घोषणा है।

अतः ज्ञान की साधना, वह भी सम्यग्ज्ञान की साधना, भी अत्यंत महत्वपूर्ण है।

* * *

अध्याय - ६ : अनेकान्तवाद व स्याद्वाद

अनेकान्तवाद व स्याद्वाद -

अनेकान्तवाद जैन-दर्शन की आत्मा को प्रतिभासित करता है। यही वह आधारशिला है जिसपर जैन-दर्शन का विराट प्रासाद खड़ा है। भगवान महावीर द्वारा अपने सर्वप्रथम उपदेश में ही उच्चरित तीन पदों ने उस अनेकान्तवाद की नींव डाली जो सदा-सर्वदा के लिये उनके द्वारा प्ररूपित धर्म-दर्शन की पहचान बनने वाला था। वे तीन पद थे - 'उप्पत्रै वा (वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं)', 'विगमै वा (वे विनष्ट भी होती हैं)' तथा 'धुवै वा (तथापि वे सदाकाल बनी रहती हैं)'। इन तीन पदों ने भगवान महावीर के उस सापेक्षवादी विचारधारा की ओर इंगित किया जो उस समय प्रचलित विभिन्न धर्म-दर्शनों के मध्य व्याप्त समस्त सैद्धान्तिक मतभेदों व वैमनस्य की कारणभूत एकांतवादी मताग्रहिता से सर्वथा भिन्न थी। उन्होंने एक ऐसा समन्वयवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया जिसने विभिन्न मत-मतान्तरों के बीच सामंजस्य का मार्ग प्रशस्त किया।

अनेकान्तवाद या किसी भी वस्तु या विषय को अनेक पक्षों से देख-समझ व ग्रहण कर पाने की दृष्टि भरतीय ही नहीं अपितु विश्व दर्शन-जगत को जैन परंपरा के चोबीसवें व अंतिम तीर्थंकर वैशालिक ज्ञातपुत्र श्रमण-भगवान महावीर की एक अमूल्य व अद्वितीय देन थी। इसमें उन्होंने कहा कि सत्य या वास्तविकता के अनेक (अनंत) पक्ष अनेक (अनंत) पहलू होते हैं जिन्हें कि एक साधारण बुद्धि-मेधा वाला व्यक्ति संपूर्ण रूप से नहीं देख पाता है, वह जितना देख पाता है उससे कहीं अधिक अनदेखा-अज्ञात रह जाता है। वह सत्य के कुछ ही पक्षों को देख-समझकर उन्हें ही संपूर्ण सत्य समझने लगता है जबकि कोई अन्य व्यक्ति उसी वास्तविकता के कुछ अन्य पहलुओं को देखकर उसके बारे में

अन्यथा धारणा भी रख सकता है। यही दृष्टि-भेद मतान्तरों व विरोध का कारण बन जाता है। भगवान महावीर ने इस दृष्टि-भेद को अनुभव किया तथा यह महसूस किया कि एक अपूर्ण सत्य को ही संपूर्ण सत्य समझ लेना तो सत्य का उपहास है, उसका अपमान है। उन्होंने कहा कि हम अपनी दृष्टि की सीमा को पहचाने तथा आंशिक सत्य को उसी रूप में ग्रहण करें तथा अन्यो द्वारा देखे-जाने गए आंशिक सत्यों का भी सम्मान करना सीखें। महावीर की इसी अनुभूतिजन्य स्वमत के प्रति हठाग्रहिता का अभाव व अन्य दार्शनियों के मतों को भी सही परिप्रेक्ष्य में देख पाने की दृष्टि ही जैन-धर्म की दार्शनिक व धार्मिक सहिष्णुता के आधार बने। यह अध्याय इस आश्चर्यजनक सिद्धान्त को इसके संपूर्ण दार्शनिक वैभव के साथ प्रस्तुत करने का एक विनम्र प्रयास है जिसमें उपयुक्त उदाहरणों व दृष्टान्तों के द्वारा सापेक्ष दृष्टि के विकास पर जोर दिया गया है जिससे कि इस सिद्धान्त के प्रयोग द्वारा व्यक्तिगत, सामाजिक, राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर कई कटु द्वंद्वों से बचा जा सके।

अब तक यह विशिष्ट अवदान सैद्धांतिक अध्ययन तक ही सीमित रहा, अतःएव इसके मानने वालों को अपने व्यक्तिगत व सामाजिक जीवन में इसका लाभ नहीं मिल पाया था। इसलिये आवश्यकता है कि इसे इसके सैद्धान्तिक चोले से बाहर निकालकर जन-सामान्य को उपलब्ध कराया जाय ताकि वे अपने दैनन्दिन जीवन में इसके व्यवहारिक उपयोग द्वारा इसके लाभों के प्राप्त कर सकें।

स्याद्वाद इसी अनेकान्तवाद द्वारा प्रकटित सापेक्ष-सत्य को ऐसे उदार शब्दों में व्यक्त करने की कला है जिससे कि हमारे वक्तव्य दूसरों को आघात नहीं पहुँचा सकें। अतः इस दृष्टि से स्याद्वाद को अनेकान्तवाद का वाचिक या भाषाई पक्ष कहा जा सकता है।

अनेकान्तवाद -

भगवान महावीर सत्य के उद्घाटन व व उसके प्रसार के प्रति

पूर्णरूपेण समर्पित थे। संबोधि प्राप्ति के पश्चात् उन्होंने आंशिक सत्यों के प्रति एकान्त आग्रहों व उनके द्वारा प्रायोजित बौद्धिक, दार्शनिक व धार्मिक विवादों की निरर्थकता को अनुभूत किया। उन्होंने महसूस किया कि यदि आंशिक सत्यों को समन्वित करके एक व्यापक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया जा सके तो वह संपूर्ण सत्य के कहीं अधिक समीप होगा। यही अनुभूति उनका बोध व वास्तविक ज्ञान बनी। उन्होंने अनुभव किया कि जब किसी एक पक्ष को उससे संबद्ध अन्य पक्षों से निरपेक्ष एकांत रूप से प्रस्तुत किया जाता है तो वह बिवाद को जन्म देता है क्योंकि दूसरे भी उस पक्ष को उसी परिप्रेक्ष्य में देखें यह आवश्यक नहीं। अतः समन्वय की कुंजी इस बात में है कि प्रथमतः तो किसी भी वस्तु या विचार को विभिन्न पक्षों से देखा जाय तथा जब उन्हें सीमित पहलुओं से देख पाना ही संभव हो तो दूसरों के पक्षों को भी ससम्मान ग्रहण किया जाय। सारांशतः यही अनेकान्तवाद है।

एकान्तदृष्टि की भ्रामकता व अनेकान्त की विशेषता को रेखांकित करने वाले कई उदाहरण समय-समय पर दिये गए हैं। एक शास्त्रीय दृष्टांत छः दृष्टिबाधित व्यक्तियों का है जो एक हाथी से रू-ब-रू होते हैं तथा उसके शरीर के अलग-अलग भागों को छूकर उसके बारे में अलग-अलग धारणाएँ व्यक्त करते हैं। जिस व्यक्ति ने हाथी की सूंड छुई वह उसे केले के पेड़ के समान मानता है, पूंछ को छूने वाला व्यक्ति उसे रस्सी के समान, धड़ को छूने वाला उसे दीवार के समान, कान को छूने वाला पंखे के समान, पोंव को छूने वाला स्तंभ के समान तथा उसके दांतों को छूने वाला उसे भाले के समान मानता है। हाथी के संपूर्ण रूप से अपरिचित होने, अपने-अपने अनुभवों के आधार पर बनाई गई धारणा को ही एकान्त रूप से संपूर्ण सत्य मान लेने तथा दूसरों की धारणा को मिथ्या समझने के कारण वे सब आपस में झगड़ने लगे। तभी वहाँ एक सामान्य दृष्टि संपन्न व्यक्ति आया तथा उसने प्रत्येक दृष्टिबाधित व्यक्ति को हाथी के विभिन्न अंगों को छुवा कर यह महसूस करवाया कि जो दूसरे कह रहे थे वह भी सही था। इस प्रयोग द्वारा उस व्यक्ति ने उन्हें न केवल हाथी के

स्वरूप को ज्यादा अच्छी तरह से जानने में सहायता की अपितु उन्हें दूसरों के मत को भी समझकर मतभेदों से ऊपर उठने की दृष्टि प्रदान की। इस दृष्टान्त का सामान्य दृष्टि संपन्न व्यक्ति ही अनेकान्त है जो हमें दूसरों के विचारों को खुले मन से उनके सही परिप्रेक्ष्य में देखने की दृष्टि प्रदान करता है तथा वस्तुओं व विचारों को अधिक सम्यक् रूप से समझने की सामर्थ्य भी देता है।

हमारे दैनंदिन जीवन-व्यवहार में भी यदि हम वस्तुओं की उपादेयता-अनुपादेयता का आकलन अनेकान्त दृष्टि से उनके विभिन्न पक्षों पर विचार किये बिना निरपेक्ष रूप से करते हैं तो न केवल जीवन दूभर हो सकता है बल्कि कई बार हम अपने आप को हास्यास्पद स्थिति में भी डाल सकते हैं। उदाहरणार्थ भोजन को ही लें - भोजन जीवन के लिये आवश्यक है तथा लाभकर भी, किंतु यदि इसी एकान्त दृष्टि से कोई व्यक्ति भोजन की मात्रा पर ध्यान दिये बिना खाता ही जाय तो क्या वही भोजन उसके लिये लाभकर रह सकेगा? यदि इसी एकान्त धारणा को भोजन की मात्रा के सापेक्ष दृष्टि से अनेकान्त बना दिया जाय तथा यह कहा जाय कि 'आवश्यक मात्रा में भोजन लाभकर है' तो भोजन के प्रति हमारा दृष्टिकोण सम्यक् हो जायगा। यही अनेकान्त का व्यवहार-पक्ष है। एक और उदाहरण संबंधों का लेते हैं - जैसा कि सर्व-विदित है, भगवान राम दशरथ-कौशल्या के पुत्र, लक्ष्मण-भरत-शत्रुघ्न के भ्राता, सीता के पति, लव-कुश के पिता तथा अयोध्या के राजा थे। यही कहा जाएगा कि इन सब अलग-अलग व्यक्तियों व स्थानों के सापेक्ष उनके संबंध अलग-अलग थे। यदि कोई व्यक्ति संबंधों की इस सापेक्षता से निरपेक्ष होकर किसी एक संबंध के बारे में ही एकांत आग्रह रखे और कहने लगे कि राम तो केवल राजा ही थे तो इससे अधिक हठ और दुराग्रह और क्या होगा? ऐसा व्यक्ति न केवल हास्यास्पद होगा अपितु वह अपने अज्ञान व अहंकार का भी भोंडा प्रदर्शन करेगा। व्यवहारिक व अविवादास्पद होने के लिये संबंधों की सापेक्षता को स्वीकार करना ही होगा। यही व्यवहारिक अनेकांतवाद है।

और भी अनेक उदाहरण हैं जिनसे एक ही वस्तु के अलग-अलग अपेक्षाओं से अलग-अलग गुणों की विवक्षा होती है - प्यास बुझाने व सींचाई की अपेक्षा से जीवनदाता पानी बाढ, डूबने आदि में जीवनहर्ता भी होता है; अग्नि जो जलाती है वह खाना भी तो पकाती है।

अब एक दार्शनिक उदाहरण लेते हैं - सत्ता के स्वरूप के बारे में जैन-दर्शन की अवधारणा उसकी अनेकांत विचारधारा का दिग्दर्शन अत्यंत मोहक अंदाज में करती है। अलग-अलग धर्म-दर्शनों के अनुसार सत्ता का स्वरूप अलग-अलग है। उपनिषद् व शांकर-वेदान्त के अनुसार सत् कूटस्थ-नित्य है, उनके अनुसार दृश्य जगत में दृष्टिगोचर परिवर्तन मात्र माया हैं। बौद्ध मतानुसार सत् निरन्वय-क्षणिक है, प्रत्येक चराचर वस्तु प्रतिक्षण परिवर्तनशील है, जगत में कुछ भी नित्य नहीं है, उनके अनुसार पदार्थ प्रतिक्षण उत्पन्न होता है व अगले ही क्षण नष्ट हो जाता है। सांख्यमत में पुरुष नित्य है तो प्रकृति परिणामी-नित्य। न्याय व वैशेषिक मतानुसार आत्मा व परमाणु तो नित्य है किंतु घट-पटादि सभी साकार दृष्टिगत वस्तुएँ प्रतिक्षण उत्पन्न व नष्ट होती हैं। अब यदि हमें इन में से किसी भी एक मत पर एकांत स्थिर रहना हो तो हम कहीं के नहीं रहेंगे। इन एकांतवादी विचारधाराओं के अंतर्विरोध व आपसी विरोध को प्रकट करने के लिये किसी उदाहरण की आवश्यकता नहीं है वे तो वैसे ही ऐसे विरोधाभास प्रस्तुत करते हैं कि सिर चकरा जाता है। इन एकांतवादी मान्यताओं का आपसी विरोध इतना उग्र था कि बौद्धों को अपने उद्गम के देश से ही निष्काशित होना पड़ा था क्योंकि न तो वे बहुसंख्यक वेदान्तियों के मत से सहमत हो सके न ही उनका घातक प्रतिरोध सहन कर सके, उन्हें भागना ही पड़ा। सत् के स्वरूप के बारे में जैन अवधारणा जो इस अध्याय के प्रथम अनुच्छेद में ही उल्लिखित तीन पदों (उप्पन्नै वा, विगमै वा, धुवै वा) द्वारा अभिव्यक्त की जा चुकी है तथा जिसे संक्षेप में 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्।' इस सूत्र से व्यक्त किया गया है, इन परस्पर विरोधी विचारधाराओं को इतनी सुंदरता से, इतने अभिराम रूप से व

इतनी पूर्णता से समन्वित करती है कि किसी भी प्रकार की असहमति के लिये कोई अवकाश ही नहीं रहता है। यह सर्वज्ञता से विभूषित तीर्थंकरों द्वारा उद्घाटित सत्ता के सापेक्ष्य स्वरूप का दिग्दर्शन कराती है।

अब हम देख पाते हैं कि सत्य कभी भी एकांत नहीं होता है। एकांत द्वारा हम अधिक से अधिक सत्यांश का ही दर्शन कर सकते हैं। ऐकांत कथनों पर हठपूर्वक डटे रहना मतांधता व मदांधता है, वैचारिक हिंसा है। ऐसी हठधर्मिता से अहिंसा की स्थापना व उसका पालन नहीं किया जा सकता है। इसीलिये यह कहा जाता है कि 'सर्वप्रथम तो हमारी विचारधारा संयत व संतुलित हो तथा उसकी अभिव्यक्ति भी संदर्भ-सापेक्ष्य हो। केवल अपने दृष्टिकोण से अपना मत प्रकट कर देना ही पर्याप्त नहीं है अपितु दूसरों को भी अपना मत प्रकट करने का अवसर देना आवश्यक है, तभी हम सत्य का दर्शन कर सकेंगे, तभी हम सही अर्थों में रचनात्मक रूप से अहिंसक हो सकेंगे। यहाँ हम सत्य की सीमित किंतु संदर्भ-सापेक्ष्य रूप में वाचिक अहिंसा का पालन करते हुवे अभिव्यक्ति के स्वरूप की आवश्यकता अनुभव करते हैं। इस आवश्यकता की पूर्ति 'स्याद्वाद' द्वारा संभव हुई।

स्याद्वाद -

स्याद्वाद भगवान महावीर के अहिंसा के प्रति पूर्ण समर्पण की अभिव्यक्ति है। उनके जीवन का संपूर्ण ध्येय व प्रयास यही रहा कि सत्य को प्रकट किया जाय किंतु उसकी अभिव्यक्ति इसप्रकार हो कि दूसरों का एकांत विरोध न हो, भाषा इतनी संयत व सापेक्ष्य हो कि उन्हें आघात न पहुँचे। उनके अनुसार जब हम अपने कथन को दूसरे पक्ष का भी ध्यान रखते हुवे किसी अपेक्षा से कहते हैं तो उसमें से हठाग्रहिता का कांटा निकल जाता है, हमारी बात किसी को चुभती नहीं है। यही महावीर की वाचिक अहिंसा थी। 'स्यात्' निपात सहित किसी अपेक्षा से कथन की यह जैन-परिपाटी ही स्याद्वाद है।

स्याद्धाद के सप्तभंगी रूपी कथनप्रणाली द्वारा जैन विचारकों ने अनेकान्त को वाचिक स्वरूप प्रदान कर दिया। हम सब जानते हैं कि इस जगत में कुछ भी न सर्वथा अच्छा होता है न सर्वथा बुरा होता है। हर पदार्थ में कुछ अच्छाई होती है, कुछ बुराई होती है। अच्छी वस्तुओं में भी बुराई का कुछ अंश होता है तथा बुरी वस्तुओं में भी अच्छाई का कुछ अंश अवश्य ही होता है। अब यदि हमें ऐसी किसी वस्तु के बारे में एक व्यवहारिक वक्तव्य देना हो जिसके बारे में हम केवल इतना ही जानते हैं कि उसमें कुछ अच्छाई है तथा कुछ बुराई भी है किंतु हम निश्चित रूप से नहीं जानते हैं कि उसमें अच्छाई और बुराई का अंश कितना-कितना है तो पाठक यह मानेंगे कि उसके बारे में 'यह वस्तु अच्छी है' या 'यह वस्तु बुरी है' जैसे एकांत वक्तव्यों से उसके वास्तविक स्वरूप को व्यक्त नहीं किया जा सकेगा। ऐसी परिस्थिति में हम सत्य का कथन निम्नांकित सात (१. सकारात्मक सापेक्ष, २. नकारात्मक सापेक्ष, ३. सकारात्मक-नकारात्मक सापेक्ष, ४. अनिश्चित सापेक्ष, ५. सकारात्मक अनिश्चित सापेक्ष, ६. नकारात्मक अनिश्चित सापेक्ष, व ७. सकारात्मक-नकारात्मक अनिश्चित सापेक्ष) में से एकाधिक वक्तव्यों से कर सकते हैं: -

१. किसी अपेक्षा से यह वस्तु अच्छी है।
२. किसी अपेक्षा से यह वस्तु बुरी है।
३. किसी अपेक्षा से यह वस्तु अच्छी व बुरी दोनों है।
४. किसी अपेक्षा से यह वस्तु अच्छी है या बुरी यह नहीं कहा जा सकता।
५. किसी अपेक्षा से यह वस्तु अच्छी है किंतु कितनी अच्छी है यह नहीं कहा जा सकता।
६. किसी अपेक्षा से यह वस्तु बुरी है किंतु कितनी बुरी है यह नहीं कहा जा सकता।
७. किसी अपेक्षा से यह वस्तु अच्छी व बुरी दोनों है किंतु कितनी कैसी है यह नहीं कहा जा सकता।

दर्शनशास्त्र की शब्दावलि में इन्हीं सात वैकल्पिक सापेक्ष्य कथन प्रकारों (भंगों) को स्यद्वाद की निम्न सप्तभंगी द्वारा कहा जाता है: -

भंग	अर्थ
१. स्यादस्ति	- किसी अपेक्षा से यह है।
२. स्यान्नास्ति	- किसी अपेक्षा से यह नहीं है।
३. स्यादस्तिनास्ति	- किसी अपेक्षा से यह है भी और नहीं भी।
४. स्यादवक्तव्यं	- किसी अपेक्षा से यह अकथनीय है।
५. स्यादस्तिअवक्तव्यं	- किसी अपेक्षा से यह है किंतु अकथनीय है।
६. स्यान्नास्तिअवक्तव्यं	- किसी अपेक्षा से यह नहीं है किंतु अकथनीय है।
७. स्यादस्तिनास्तिअवक्तव्यं	- किसी अपेक्षा से यह हैं भी और नहीं भी किंतु अकथनीय है।

यहाँ मैं एक 'उदाहरण' प्रस्तुत करना चाहता हूँ जो इस गूढ़ विषय को आसानी से समझ में आने योग्य बना देगा। यदि कोई व्यक्ति बीमार है, उसे जुकाम व बुखार दोनों है और यदि कोई उसकी हालत के बारे में पूछे तो उसे निम्न सात में से कोई उत्तर मिल सकता है जो कि बीमार व्यक्ति की हालत को व्यक्त करते हैं। ये सात वैकल्पिक उत्तर उसके स्वास्थ्य की स्थिति के सात भंग हैं: -

१. कुछ-कुछ ठीक है - जुकाम ठीक है (बुखार नहीं)।
२. कुछ-कुछ ठीक नहीं है - बुखार नहीं उतरा (किंतु जुकाम ठीक है)।
३. ठीक है भी और नहीं भी - जुकाम तो ठीक है, बुखार नहीं उतरा।
४. कुछ कहा नहीं जा सकता - मरीज की हालत ऐसी है कि उसके बारे में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता।
५. ठीक है किंतु कुछ कहा नहीं जा सकता - जुकाम तो ठीक है किंतु मरीज की हालत के बारे में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता।

६. ठीक नहीं है किंतु कुछ कहा नहीं जा सकता - बुखार तो नहीं उतरा है किंतु मरीज की हालत के बारे में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता।
७. ठीक है भी और नहीं भी किंतु कुछ कहा नहीं जा सकता - जुकाम ठीक है, बुखार नहीं उतरा है किंतु मरीज की हालत ऐसी है कि उसके बारे में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता।

हम देखते हैं कि ये सभी वक्तव्य वस्तु की अच्छाई-बुराई या मरीज के स्वास्थ्य की स्थिति के सापेक्ष है, इनमें से एक भी वक्तव्य निरपेक्ष नहीं है। स्थिति सापेक्ष होने से ही वे पहले उदाहरण में वस्तु की गुणवत्ता व दूसरे उदाहरण में मरीज के स्वास्थ्य की स्थिति का सच्चा प्रतिनिधित्व करते हैं। जब हम अपने वक्तव्य के पूर्व स्यात् (किसी अपेक्षा से) निपात लगा देते हैं तो हमारे वक्तव्य में से समस्त आक्रामकता निकल जाती है और वे पूर्णतः अनाक्रामक हो जाते हैं। समालोचना की आधुनिक वैज्ञानिक प्रणाली भी यही कहती है कि पहले आलोच्य वस्तु, व्यक्ति या विचार के अच्छे बिंदुओं का उल्लेख करने के उपरांत ही उनकी खामियों का उल्लेख जितने मृदु शब्दों में किया जा सके करना चाहिये ताकि वे क्लेशकर न हों।

सत्ता के स्वरूप के दार्शनिक उदाहरण में भी जैन मत यह कहता है कि द्रव्यापेक्षा सभी पदार्थ ध्रुव (नित्य) हैं तथा पर्यायापेक्षा (दृश्य आकार, वर्ण आदि की अपेक्षा) वे परिवर्तनशील हैं। इसे भी हम एक उदाहरण के द्वारा भली प्रकार समझ सकते हैं। जब एक स्वर्णाभूषण को तुड़वा कर दूसरा आभूषण बनवाया जाता है तो उसकी प्रथम आभूषण पर्याय का क्षय हो जाता है व दूसरी आभूषण पर्याय उत्पन्न होती है किंतु दोनों ही दशाओं में स्वर्ण-द्रव्य तो वही रहता है। इस प्रकार सत् के स्वरूप के बारे में जैन मत सापेक्ष है - द्रव्यापेक्षा हर वस्तु नित्य है, ध्रुव है तथा पर्यायापेक्षा हर वस्तु अनित्य है, उत्पाद-व्यययुक्त है। जैसे-जैसे कोई व्यक्ति बड़ा होता है उसकी बाल-पर्याय का क्षय होकर युवा पर्याय का आगमन होता है जिसका कालक्रमानुसार क्षय होकर वृद्धावस्था का पदार्पण होता है, किंतु इस सब

परिवर्तन के बीच भी जीवन के हर पड़ाव (पर्याय) पर व्यक्ति (द्रव्य) तो वही रहता है। पर्याय व द्रव्य का यह भेद हर वस्तु में स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है जिसे स्याद्वाद की सप्तभंगी द्वारा भलीभाँति अभिव्यक्त किया जा सकता है।

यहाँ 'स्यात्' शब्द के बारे में तनिक विचार कर लेना प्रासंगिक होगा। दर्शन के क्षेत्र में संभवतया यह सबसे गलत समझा गया शब्द है। प्रतिपक्ष द्वारा सामान्यतया इसका अर्थ 'शायद' करके जैन-दर्शन को संशयवादी दर्शन करार दे दिया जाता है जो कि तथ्य से बिल्कुल विपरीत है। जैसा कि पूर्व में बता दिया गया है और अब एक बार फिर पुरजोर कहा जा रहा है, 'स्यात्' का अर्थ है 'किसी अपेक्षा से' तथा यह कथन को संदर्भ सापेक्ष रूप से कहने का एक स्वरूप है, न कि संशय पैदा करने का आधार।

व्यावहारिक अनेकांत व स्याद्वाद -

हमारे आसपास अनंत वस्तुएँ हैं जिनमें से प्रत्येक की अनंत पर्यायें हैं जो प्रतिक्षण परिवर्तित होती रहती हैं। निरपेक्ष निश्चयात्मक कथन द्वारा हम किसी भी वस्तु की केवल एक पर्याय का कथन कर सकते हैं तथा हमारे कथन को सत्य के अनंतवें भाग की अभिव्यक्ति का माध्यम बना देते हैं जिसमें से सत्य का प्रमुख भाग अकथित रह जाता है। सामान्यतया नीम को कड़वा कह दिया जाता है किंतु यदि इसके औषधीय गुणों को अनदेखा कर दिया जाय तो नीम की उपयोगिता पर ही प्रश्नचिन्ह लग जायगा। अतः इसे एक ही दृष्टिकोण से देखना अनुपयुक्त ही नहीं अवांछित भी है। जब नीम जैसे साधारण पादप की स्थिति ऐसी है तो जो अनंत पर्यायों वाले अनंत पदार्थ हमारे आसपास हैं उनके विभिन्न गुण-दोषों का कथन हम निरपेक्ष निश्चयात्मक कथनों द्वारा कैसे कर सकते हैं? जैन दार्शनिकों ने इसे बहुत गहराई से अनुभव किया और इसी लिये उनकी चिंताएँ केवल मनुष्यमात्र के लिये ही नहीं रहीं अपितु उनका प्रसार प्राणीमात्र के लिये हुआ। उन्होंने यह महसूस किया कि मानवों की ही भाँति अन्य सभी

प्रणियों को भी जीने का अधिकार है, अपने आप को अपनी-अपनी अभिव्यक्ति के माध्यमों के द्वारा अभिव्यक्त करने का अधिकार है। यह सब जैन-दर्शन के अनेकांत व स्याद्धाद का ही सुफल है।

दैनन्दिन जीवन में भी अनेकांत की उपयोगिता उतनी ही है जितनी कि विचार व दर्शन के क्षेत्र में। वस्तुतः अनंकांत-दृष्टि हमें आवश्यक लचीलापन व भेदक अंतर्दृष्टि देती है जिससे हम भले व बुरे में भेद कर सकते हैं। हम अनुभव से जानते हैं कि एकांतवाद मतभेदों व विरोध का कारण है जबकि अनेकांत समझौते, सामंजस्य व मैत्री का आधार है। इसे और अधिक स्पष्टता से समझने के लिये यातायात-चिन्हों का उदाहरण लेते हैं - यातायात-चिन्ह यातायात-प्रवाह को सुगम व व्यवस्थित करने के लिये उपयोगी हैं, जो इनका पालन करते हैं वे अपने गंतव्य तक सुगमता से पहुंचते हैं। इसी प्रकार स्याद्धाद के सात भंग भी वचन प्रवाह के यातायात-चिन्ह कहे जा सकते हैं जिनका पालन करने से कोई वाचिक व वैचारिक अवरोध उत्पन्न नहीं होता है तथा विचारों का आदान-प्रदान सौमस्यपूर्ण वातावरण में होता है। अतः स्याद्धाद को वाचिक व वैचारिक संघर्षों के निवारण का सर्वोत्तम उपाय कहा जा सकता है।

उपसंहार -

जैन दर्शन के स्याद्धाद से सुस्पष्ट है कि स्वमंतव्य प्रकट करते समय हमें अन्य विचारों व दृष्टियों का भी ध्यान रखना चाहिये। हमें अपने मन-मस्तिष्क के द्वार व वातायन खुले रखने चाहिये ताकि उनमें अन्य विचारों का प्रवेश निर्बाध रूप से हो सके। बचपन से ही हमें हाशिया छोड़कर लिखना सिखाया जाता है ताकि त्रुटि-सुधार व विस्तार का अवकाश रहे। स्याद्धाद भी वैचारिक व दृष्टिकोणीय हाशिया है। जब हम जीवन के हर क्षेत्र में, हर गतिविधि में अनेकांत जनित सापेक्षता व स्याद्धाद जनित वाचिक अहिंसा का उपयोग करने लगेंगे तो हमारे जीवन से विरोधों की समाप्ति का बिगुल बजने लगेगा। एकांत हिंसकता है, शोषण है, संग्रहवृत्ति है, दुराचार है तो अनेकांत अहिंसा है, शोषणमुक्ति है, बांटने की कला है,

सदाचार है। अनेकांत निर्दोष विचारधारा का प्रवाह है जिससे निर्दोष सापेक्ष अहिंसक अभिव्यक्ति का प्रादुर्भाव होता है। निर्दोष जीवनवृत्ति में न हिंसा के लिये जगह है न शोषण के लिये न दुराचार के लिये, न लोभ-लालच व क्रोध-कषायों के लिये। कषायमुक्ति ही तो मुक्ति का द्वार है अतः अनेकांत व स्याद्वाद मुक्ति के द्वार हैं।

इस अध्याय का उपसंहार मैं जीवन में अनेकांत की महत्ता को दिग्दर्शित कराने वाले श्लोक से करना चाहूंगा जो इसे तीनों लोकों का एकमात्र गुरु स्वीकार करते हुवे कहता है कि इसके बिना संसार का कोई भी व्यवहार सम्यक्तया संचालित नहीं हो सकता है। यथा -

“जेण विणा लोयस्स वि ववहारो सव्वहा न निव्वडइ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो, णमो अपोगतवायस्स।।”

* * *

अध्याय - ७ : कर्म-सिद्धान्त

आत्मा व कर्म -

जीव या आत्मा संपूर्ण जैन-दर्शन के विकास का आधार है। जैन-दर्शन के अनुसार जीव एक स्वतंत्र सत्त्व है जो अपने सांसारिक अस्तित्व के काल में अपने शारीरिक आवरण के मन, वचन व काया (योग) के कार्य-कलापों व गुण-दोषानुसार उनके अच्छे या बुरे, सुखद या दुःखद प्रतिफल को भोगने के लिये उत्तरदायी है। आत्मा अव्यक्त व अरूपी है जो संसार में स्वयं को अपने शारीरिक आवरण द्वारा ही अभिव्यक्त करती है। जैन-दर्शन यह भी मानता है कि यह स्वतंत्र जीव (आत्मा) कर्म-बंधन के कारण ही संसार-परिभ्रमण व सांसारिक सुख-दुःखों को भोगने के लिये बाध्य होती है। जैन-दर्शनानुसार जीव के इस बंधन व तज्जन्य संसार-परिभ्रमण का कारण कर्म-द्रव्य है जो अनादि काल से आत्मा के साथ आबद्ध होता है तथा जीव के शरीर के प्रत्येक कर्म (कार्य) में उसकी ओर आकृष्ट होता है तथा उसके मनोभावों के अनुसार उसके साथ बंधता है। कर्म-द्रव्य ही आत्मा के भव-भ्रमण व स्वर्ग, नरक, मनुष्य व तिर्यच रूप चतुर्गति में पुनः-पुनः जन्म-मरण के लिये उत्तरदायी है।

कर्म -

कर्म एक ऐसा सार्वभौम शब्द है जिसे बारे में सब बात करते हैं किंतु जिसे समझते बहुत कम लोग हैं। इसकी महत्ता को संपूर्ण संसार में जीवन के हर क्षेत्र में स्वीकार किया गया है। न केवल भरतीय धर्म-दर्शनों में अपितु पाश्चात्य दर्शनों ने भी सत्कर्म व दुष्कर्म के रूप में इसके महत्त्व को स्वीकारा है। फिर भी अधिकतर दर्शन 'कर्म' के 'कार्य' अर्थ से आगे नहीं जाते हैं। केवल जैन-दर्शन ही इसके 'कार्य' व 'कर्म-द्रव्य' इन दो गुणार्थों को स्वीकार करता है।

कर्म-सिद्धान्त -

जहाँ तक जैन-दर्शन के 'कर्म व उसके अवश्यंभावी फल-विपाक' के कर्म-सिद्धान्त का प्रश्न है इसमें नया कुछ भी नहीं है क्योंकि लगभग सभी प्राच्य व पाश्चात्य दर्शन इस सिद्धान्त की हिमायत करते हैं। जब गोस्वमी तुलसीदास अपने महाकाव्य 'रामचरितमानस' में कहते हैं, "जो जस करहि सो तस फल चाखा" उनका मंतव्य वही होता है जो पाश्चात्य कथन, "जैसा बोवोगे वैसा काटोगे" का है। फिर भी जैन कर्म-सिद्धान्त का विकास इसके गणितीय-सूक्ष्मता व पूर्णता के साथ निष्पादन के लिहाज से अनूठा है। इस अध्याय में सर्वज्ञ तीर्थंकरों द्वारा द्रष्ट व पश्चात्काल में आचार्यों व धर्म-गुरुओं द्वारा प्रचारित जैन कर्म-सिद्धान्त की इसी सूक्ष्म परिशुद्धता व पूर्णता का दिग्दर्शन कराने की चेष्टा की गई है।

आध्यात्मिक दृष्टि से भी 'कर्म' महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह सभी सांसारिक प्राणियों का सतत सहचर है तथा जब तक जीव व कर्म का यह संबंध पूर्णरूपेण तोड़ नहीं दिया जाता तब तक जीव अपने मुक्ति के अंतिम लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता है। कर्म-संबंध के साथ तो यह लक्ष्य अप्राप्य ही रहता है। जैन शब्दावलि के अनुसार कर्म शब्द के दो अर्थ होते हैं - १. कोई भी मानसिक, वाचिक या कायिक कार्य (योग-क्रिया) तथा २. कर्म-द्रव्य या जीव के साथ संबद्ध कर्म-पुद्गल वर्गणा के परमाणु जो इस योग-क्रिया के फलस्वरूप आत्मा के संपर्क में आकर उसके साथ आबद्ध हो जाते हैं। यह भेद समझने योग्य है तथा यह अध्याय इस भेद को स्पष्ट करने का प्रयास करता है।

कर्म-सिद्धान्त का महत्त्व -

आठवीं सदी के श्रुतधर जैनाचार्य हरिभद्रसूरि ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'समराइच्चकहा (समरादित्य की कथा)' में कहा है कि 'इस संसार में प्रत्येक प्राणी को अपने ही पूर्वकृत कर्मों का फल-विपाक प्राप्त होता है, उसके भले

या बुरे में अन्य जीव तो निमित्तमात्र होता है।^१ सही वह सत्य है जो कर्म-सिद्धान्त के सार को प्रस्तुत करता है। जिसे समझ लेने से हम कई आपदाओं व क्लेशों से बचे रहते हैं। अक्सर हम निमित्त को उपादान समझने की भूल करते हैं तथा जब उनके माध्यम से हमारा कुछ भला या बुरा होता है तो हम उन्हें अपना मित्र या शत्रु समझने लगते हैं, मित्र के प्रति हमारा राग-भाव होता है तथा शत्रु के प्रति द्वेष भाव। यदि हम कर्म-सिद्धान्त के इस बिंदु को इसके सही परिप्रेक्ष्य में समझ लें तथा निमित्त को निमित्त ही समझें तो हमारा मानस राग व द्वेष से ऊपर उठकर, कषाय-विजय व वीतराग दशा की ओर गतिशील होने लगेगा, हम अपने अंतिम लक्ष्य - मुक्ति की प्राप्ति की दिशा में अग्रसर होंगे। इस प्रकार कर्म-सिद्धान्त की सही व सम्यक् समझ हमारे मोहनीय-कर्म जन्य राग-द्वेष, क्रोध-मान-माया-लोभ रूप कषाय के बंधन को तोड़ने में सहायक सिद्ध होगी, हमारा न कोई शत्रु होगा न कोई मित्र, हमारा सभी में सम-भाव होगा। इसके फलस्वरूप हम न केवल अच्छा सामंजस्यपूर्ण सांसारिक जीवन जीने में समर्थ होंगे अपितु अपने अंतिम लक्ष्य आत्म-मुक्ति की ओर भी निरंतर बढ़ते रहेंगे। इस प्रकार कर्म-सिद्धान्त की सही समझ जीव के इहलोक व परलोक दोनों संवार देती है।

भारतीय दर्शन-जगत में जैन कर्म-सिद्धान्त का स्थान -

भारतीय दर्शन-जगत को जैन-दर्शन ने कई अनुपम उपहार दिये हैं। तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित संपूर्ण अहिंसावाद व अनेकांतवाद की ही भाँति कर्म-सिद्धान्त भी भारतीय धर्म-दर्शनों के क्षेत्र को जैन-दर्शन की एक महत्त्वपूर्ण देन है।

सामान्यतया यह माना जाता है कि जैन-दर्शन कर्म-सिद्धान्त पर आधारित है। यद्यपि यह मान्यता गलत नहीं है किंतु यह सर्वथा सत्य भी

^१ "सत्त्वं पुष्पकयाणं कम्माणं पावए फलविवागं।
अवराहेसु गुणेषु य निमित्तमेत्तं परो होई॥"

नहीं है। यह कहना कि जैन-दर्शन केवल कर्मवाद पर आधारित है तथ्य से परे होगा। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के अनुसार जैन-दर्शन पाँच वादों पर आधारित है, यथा - कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, पूर्वकृतवाद एवं पुरुषार्थवाद। तथापि संभवतया इस त्रुटिपूर्ण मान्यता का कारण यह रहा होगा कि बीतते समय के साथ केवल कर्मवाद पर इतना विपुल साहित्य रचा गया कि शेष चार वादों का सम्मिलित साहित्य उसका शतांश स्थान भी नहीं पा सका था।

कर्मवाद पर उपलब्ध साहित्य -

यद्यपि सभी अंग व अंगबाह्य आगमों में कर्म व आत्मा पर उसके प्रभाव के विषय में कुछ न कुछ कहते ही हैं, फिर भी उनमें से किसी को भी सर्वथा कर्म विषयक नहीं कहा जा सकता है। कर्मवाद के प्रवर्तक व अध्यापक इस तथ्य को निर्विवाद रूप से मानते हैं कि कर्म-सिद्धान्त का उद्भव आठवें कर्मप्रसद पूर्व से निर्यूहित सामग्री से हुवा है। कालक्रम से सभी चौदह पूर्वों के ज्ञान के विस्मृत व विलुप्त हो जाने के कारण वर्तमान पीढ़ी के लिये कर्म-सिद्धान्त विषयक मौलिक ग्रंथ व सामग्री उपलब्ध नहीं है। फिर भी श्रुतधर आचार्यों द्वारा प्रणीत वर्तमान में उपलब्ध साहित्य निम्नानुसार है: -

श्वेताम्बर परंपरा में उपलब्ध कर्म-साहित्य -

- क. कर्मप्रकृति,
- ख. पंचसंग्रह,
- ग. कमग्रंथ,
- घ. कर्मस्तव,
- ङ. कर्मस्वामित्व,
- च. षड्शीतिका,
- छ. शतक, एवं
- ज. सप्ततिका.

इस सूचि के अंतिम छः ग्रंथों का प्रणयन १४ वीं ईस्वी सदी के श्वेतांबर परंपरा के आचार्य देवेन्द्रसूरि द्वारा किया गया है। वर्तमान में ये ग्रंथ ही छः कर्म-ग्रंथों के रूप में विश्रुत हैं तथा श्वेतांबर जैन परंपरा में कर्म-सिद्धान्त विषयक अध्ययन का आधार हैं।

दिगंबर आचार्यों द्वारा प्रणीत ग्रंथ -

- क. महाकर्मप्रकृति प्राभृत, तथा
- ख. कषाय पाहुड़.

ये दोनों ग्रंथ उपरोक्त आठवें कर्मप्रवाद पूर्व से उद्धृत माने जाते हैं।

आत्मा का अस्तित्व -

“कर्म-बंध कौन करता है तथा उसका फल-विपाक कौन भोगता है?” जैन-दर्शनानुसार इस प्रश्न का उत्तर है - “आत्मा ही कर्म-बंध करता है तथा आत्मा ही उनके अपरिहार्य फल-विपाक को भोगता है।” अतः हमारे लिये यह आवश्यक और उचित होगा कि इस कर्मवाद के विषय में आगे बढ़ने से पहले हम यह स्थापित करें कि आत्मा का अस्तित्व है। निम्न सात प्रमाण आत्मा के अस्तित्व को प्रमाणित करते हैं: -

१. स्वानुभव,
२. विरुद्ध प्रमाण का अभाव,
३. मना करना भी मना करनेवाले के अस्तित्व को प्रमाणित करता है,
४. यह तर्क कि ब्रह्मांड में सब-कुछ विपरीत युग्मों में पाया जाता है यह सिद्ध करता है कि जड़ अजीव (अनात्म) पदार्थ के विपरीत कोई चैतन्य सजीव पदार्थ भी अवश्य ही है जिसे हम आत्मा कहते हैं,
५. आगम-प्रमाण,
६. वर्तमान काल के वैज्ञानिकों का मत, एवं
७. पुनर्जन्म.

आत्मा और कर्म का अनादि संबंध -

हम पूर्व में ही यह उल्लेख कर चुके हैं कि आत्मा एक स्वतंत्र सत्त्व है जिसे उसके साथ आबद्ध कर्म-द्रव्य द्वारा संसार के बंधनों में रखा जाता है। यह कर्म-बंधन ही उसके समस्त चतुर्गतिक संसार परिभ्रमण का कारण है। जब आत्मा स्वयं को इस कर्म-बंधन से मुक्त कर लेती है तो वह निर्वाण को प्राप्त कर कर्म-मुक्त सिद्धों के लोक - सिद्धलोक या सिद्धशिला पर निवास करती है जहाँ से कभी भी पुनरागमन नहीं होता है। यह हमें सोचने के लिये बाध्य करता है कि आखिर आत्मा व कर्म-द्रव्य का यह संबंध कब व कैसे हुवा? क्योंकि अपने कर्म-भार से भारित संसारी जीव (सभी संसारी जीव कर्म-भार से भारित होते हैं, कर्म-भार से रहित होते ही तो सिद्ध हाकर निर्वाण को प्राप्त हो जाते हैं व संसार-चक्र से बाहर निकलकर सिद्धलोक को प्रस्थित हो जाते हैं) इस संसार में अनादिकाल से पाए जाते हैं तथा उनके अस्तित्व के प्रारंभ की कोई तिथि निश्चित नहीं की जा सकती है।

आत्मा व कर्म-द्रव्य के संयोग के प्रारंभ की भी कोई तिथि निश्चित नहीं की जा सकती। अतः निर्विवाद रूप से यह मानना होगा कि आत्मा व कर्म-द्रव्य का संयोग अनादि है। जैन-दर्शन का तो यह ध्रुव-सत्य है।

आत्मा और कर्म को अलग किया जा सकता है -

यद्यपि आत्मा व कर्म का संबंध अनादिकाल से है, वे सम्यक् प्रयत्न से अलग किये जा सकते हैं। आत्मा को कर्म-द्रव्य से पृथक् करना व तज्जन्य आत्म-मुक्ति ही सभी आध्यात्मिक साधनाओं का अंतिम ध्येय है। यह कर्म-मुक्ति इतनी इष्ट है क्योंकि इसके द्वारा ही आत्मा अपने स्वाभाविक स्वातंत्र्य को प्राप्त कर संसार के क्लेशों व कष्टों से मुक्त हो सकती है, अनंत अखंडानंद को प्राप्त कर सकती है। यह तर्कसंगत भी है क्योंकि सभी जीवों के लिये स्वतंत्रता ही स्वाभाविक अवस्था है तथा बंधन अस्वाभाविक और प्रत्येक प्राणी बंधन के विभाव से मुक्ति के स्वभाव की

ओर जाना चाहता है। कर्म-सिद्धान्त का संपूर्ण खेल आत्मा को कर्म-द्रव्य से अलग करके बंधन से मुक्ति की ओर लेजाने का खेल है।

जैन कर्म-सिद्धान्त

कर्म : परिभाषा -

कर्म वह अजीव पुद्गल-द्रव्य है जो राग-द्वेष युक्त संसारी आत्माओं के उनके मन-वचन-काया (समुच्चय रूप में 'योग' संज्ञक) की क्रियाओं से उत्पन्न कंपनो से आकृष्ट होकर उनके साथ आबद्ध होता है।

कर्म-संयोग -

वे पाँच कारण जो आत्मा को कर्म-द्रव्य को आकर्षित करने वाले कंपनों से कंपित करते हैं तथा उसे कर्म-बंध युक्त बनाते हैं, इस प्रकार हैं:-

१. मिथ्यात्व - इससे प्राणी का नजरिया गलत हो जाता है तथा वह आत्म-अहितकारी गतिविधियों को भी आत्म-हितकारी मानने लगता है व उनसे विरत नहीं होता है।
२. अविरति - हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म व परिग्रह जैसे आत्म-अहितकारी कारणों से विरत नहीं होना व भोग-विलास युक्त अनुशासनहीन जीवन जीना ही अविरति है जो कर्म आस्रव व बंध कारक हैं।
३. प्रमाद - अनावश्यक प्रवृत्ति करना व आवश्यक प्रवृत्ति में सावधानी नहीं बरतना प्रमाद है जो अनावश्यक कर्मास्रव-बंध का कारण होता है।
४. कषाय - क्रोध, मान, माया व लोभ कषाय हैं। ये प्राणियों के मानसिक संतुलन को बिगाड़ देते हैं जिससे वे कई अनाचारों में प्रवृत्त होते हैं तथा कर्म-बंध करते हैं। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि कषाय रहित प्रवृत्ति कर्मास्रव का कारण होती है, कषायों का सद्भाव ही आस्रवित कर्म-द्रव्य को आत्मा के साथ

आबद्ध करता है।

५. योग :- जैन शब्दावलि में मन, वचन व काया को समुच्चय रूप से योग की संज्ञा दी गई है। जीव जीवन पर्यंत सकाम अथवा जीवित रहने के लिये भी अकाम योग-प्रवृत्ति करता ही है। योग (तन-मन-वचन) की इन क्रियाओं से आत्मा में ऐसे कंपन होते हैं जो कर्म-द्रव्य को उसकी ओर आकर्षित (आस्रवित) करते हैं, जो कषायों की स्थिति में आत्मा के साथ बंध जाते हैं।

कर्म : द्रव्य व भाव स्तर पर -

यद्यपि पिछले अनुच्छेद में कर्मास्रव व बंध के पाँच कारण बताए गए हैं, उन सबका समावेश केवल अंतिम दो - कषाय व योग - में किया जा सकता है। यह कहना भी त्रुटिपूर्ण नहीं होगा कि कर्म-बंध के लिये मूलतः कषाय ही उत्तरदायी हैं क्योंकि कषाय के अभाव में योग (मन, वचन व काया) की क्रियाएँ भी कर्म-बंधकारक नहीं होती हैं। फिर कषाय (क्रोध, मान, माया व लोभ) भी राग-द्वेष जन्य ही हैं क्योंकि जिन वस्तुओं व प्राणियों व विचारों के प्रति हमारे मन में राग होता है उनके लिये ही हमारे मन में लोभ भी होता है तथा उनके अभाव व अहित के कारण माया व क्रोध की स्थिति बनती है व उनकी प्राप्ति से मान का उदय होता है। इसी प्रकार जिन वस्तुओं व प्राणियों व विचारों के प्रति हमारे मन में द्वेष होता है उनके प्रति क्रोध का होना भी स्वाभाविक ही है। ये ही अंततोगत्वा हिंसा, असत्य आदि के कारणभूत होते हैं अतः कषाय व उनके कारणभूत राग-द्वेष ही सब अनर्थ की जड़ हैं। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि राग-द्वेष व कषाय भावात्मक हैं तथा कर्म-पुद्गल-द्रव्य, जो योगों की क्रियाओं द्वारा आत्म-प्रदेश में आस्रवित होते हैं तथा कषायों के कारण आत्मा के साथ आबद्ध होते हैं, द्रव्य हैं। राग-द्वेष व कषाय भाव के कारण कर्म-बंध की संभावना रहती है किंतु योगों की क्रियाओं के अभाव में वे आत्मा के साथ आबद्ध नहीं हो सकते हैं; यह संयम या विरति का सुपरिणाम है। दूसरी ओर योगों कर क्रियाएँ भी कर्म-द्रव्य को केवल आत्म-प्रदेश की ओर आकृष्ट कर सकती हैं किंतु कषायों के अभाव में वह

भी आत्मा के साथ आबद्ध नहीं हो सकता है; यह कषाय-विजय का सुफल है।

इस प्रकार निम्नांकित दो परिस्थितियों का निर्माण संभव है: -

१. कषायों के प्रभाव में की गई मन, वचन व काया की क्रियाएँ, तथा
२. कषाययुक्त विचार जिनको क्रियान्वित न किया गया हो।

हम यह स्पष्टतया देख सकते हैं कि प्रथम स्थिति में योगों की क्रियाओं द्वारा उत्पन्न कंपनो से कर्म-द्रव्य आत्म-प्रदेश की ओर आकर्षित होगा तथा कषायों के प्रभाव से उसके साथ आबद्ध भी होगा। इस प्रकार आत्मा के साथ बंधने वाला कर्म-द्रव्य ही द्रव्य-कर्म है। दूसरी स्थिति में कषाय भावों के कारण कर्म-बंध की पूर्ण संभावना तो बनती है किंतु योगों की क्रियाओं के अभाव में कर्मास्रव ही नहीं होने के कारण बंधन नहीं हो सकता है। द्रव्य-बंधन से रहित मनोभावों के कारण कर्म-बंध की यह संभावना ही भाव-कर्म है।

चार प्रकार के कर्म-बंध -

हमने देखा कि कर्म-बंध मन, वचन या काया की क्रियाओं तथा कषाय-भावों के कारण होते हैं। इन क्रियाओं की मात्रा व विशेषता के तथा इन क्रियाओं को करते समय कषायों की तीव्रता-मंदता के आधार पर उनसे होने वाले कर्म-बंध भी निम्न चार परिवर्तनीय प्रचलों के अनुसार अलग-अलग कोटि के हो सकते हैं: -

१. बंध की विशेषता (प्रकृति-बंध),
२. आबद्ध कर्म-द्रव्य की मात्रा (प्रदेश-बंध),
३. बंध की तीव्रता-मंदता (अनुभाग-बंध), तथा
४. वह समयावधि जब तक आत्मा के साथ आबद्ध कर्म-द्रव्य उससे अलग होने तक उसके साथ संयुक्त रहते हैं (स्थिति-बंध)।

अब हम एक-एक कर इन चार प्रकार के कर्म-बंधों की कुछ विस्तार से चर्चा करेंगे।

कर्म-बंध की विशेषता (प्रकृति-बंध) -

आत्मा के अनंत गुण होते हैं जो उसके साथ संयुक्त कर्म-द्रव्य के कारण प्रभावित होते हैं। यह प्रभाव कर्म-बंधन के समय मन, वचन व काया की क्रियाओं व मनोभावों की विशेषताओं के अनुसार होते हैं क्योंकि इन्हीं के द्वारा आत्मा को विभिन्न प्रकार से प्रभावित करने वाले कर्म-पुद्गल आत्मा की ओर आकृष्ट होकर उसके साथ आबद्ध होते हैं। इस तर्क के अनुसार तो आत्मा के अनंत गुणों को प्रभावित करने वाले कर्म-बंध भी अनंत प्रकार के होने चाहियें तथा वे होते भी हैं किंतु उन अनंत प्रकार के कर्म-बंधों को निम्न आठ वर्गों में विभाजित किया गया है: -

आत्मा के ज्ञान-गुण को आवृत्त करने वाला कर्म-बंध (ज्ञानावरणीय-कर्म),

१. आत्मा के दर्शन-गुण को आवृत्त करने वाला कर्म-बंध (दर्शनावरणीय-कर्म),
२. जीव को सुख-दुःख की अनुभूति कराने वाला कर्म-बंध (वेदनीय-कर्म),
३. आत्मा को मोहाविष्ट कर उसके विवेक को नष्ट कर विभ्रम पैदा करने वाला कर्म-बंध (मोहनीय-कर्म),
४. जन्म विशेष में जीव के आयुष्य का निदान करने वाला कर्म-बंध (आयु-कर्म),
५. जन्म विशेष में जीव के जैविक वर्ग (Bio-classification) या चतुर्गति में शरीरविशेष (देव, नारक, मनुष्य या तिर्यंच) का निदान करने वाला कर्म-बंध (नाम-कर्म),
६. गति विशेष में जीव की सामाजिक स्थिति का निदान करने वाला कर्म-बंध (गोत्र-कर्म), तथा
७. आत्मा के सद्गुण प्रकाश को अवरुद्ध करने वाला कर्म-बंध (अंतराय-कर्म).

इन विभिन्न प्रकार के कर्मों के कार्य-प्रभाव उनके नामों से ही सुस्पष्ट हैं। इन आठों को भी फिर दो समूहों में रखा गया है जो निम्नानुसार हैं: -

१. घातिया-कर्म जो आत्मा के मौलिक गुणों का घात करके उसके समुत्थान को अवरुद्ध करते हैं -

- क. ज्ञानावरणीय-कर्म,
- ख. दर्शनावरणीय-कर्म,
- ग. मोहनीय-कर्म, एवं
- घ. अंतराय-कर्म; तथा

२. अघातिया-कर्म जो आत्मा के समुत्थान को तो बाधित नहीं करते हैं किंतु जिन्हें क्षय किये बिना संसार-मुक्ति संभव नहीं है -

- क. वेदनीय-कर्म,
- ख. आयु-कर्म,
- ग. नाम-कर्म, एवं
- घ. गोत्र-कर्म

यह तो उनका प्राथमिक वर्गीकरण (मूल-प्रकृतियों) है। इनमें से प्रत्येक के कुछ उपवर्ग (उत्तर-प्रकृतियों) होते हैं जो निम्नानुसार हैं: -

	मूल कर्म-प्रकृतियों	उनकी उत्तर प्रकृतियों की संख्या
१.	ज्ञानावरणीय-कर्म	००५
२.	दर्शनावरणीय-कर्म	००६
३.	वेदनीय-कर्म	००२
४.	मोहनीय-कर्म	०२८
५.	आयु-कर्म	००४
६.	नाम-कर्म	१०३
७.	गोत्र-कर्म	००२
८.	अंतराय-कर्म	००५
	कुल योग :	१५८

कर्मों की उत्तर-प्रकृतियों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है -

१. ज्ञानावरणीय-कर्म की पाँच उत्तर-प्रकृतियों हैं -
 - क. मतिज्ञानावरणीय-कर्म,
 - ख. श्रुतज्ञानावरणीय-कर्म,
 - ग. अवधिज्ञानावरणीय-कर्म,
 - घ. मनः-पर्यायज्ञानावरणीय-कर्म, तथा
 - ङ. केवलज्ञानावरणीय-कर्म.
२. दर्शनावरणीय-कर्म की नौ उत्तर-प्रकृतियों हैं -
 - क. चक्षुदर्शनावरणीय-कर्म,
 - ख. अचक्षुदर्शनावरणीय-कर्म,
 - ग. अवधिदर्शनावरणीय-कर्म,
 - घ. केवलदर्शनावरणीय-कर्म,
 - ङ. निद्रा-दर्शनावरणीय-कर्म,
 - च. निद्रा-निद्रा दर्शनावरणीय-कर्म,
 - छ. प्रचलादर्शनावरणीय-कर्म,
 - ज. प्रचला-प्रचलादर्शनावरणीय-कर्म, एवं
 - झ. स्त्यानगृद्धिदर्शनावरणीय-कर्म.
३. वेदनीय-कर्म की निम्न दो उत्तर-प्रकृतियों हैं: -
 - क. शातावेदनीय, व
 - ख. अशातावेदनीय.
४. मोहनीय-कर्म की अष्टाईस उत्तर-प्रकृतियों हैं -
 - क. तीन प्रकार के दर्शन-मोहनीय कर्म -
 - (i) मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म,
 - (ii) मिश्रमोहनीय कर्म,
 - (iii) क्षायिकसम्यक्त्व-मोहनीय कर्म,
 - ख. सोलह प्रकार के कषायजन्य मोहनीय कर्म हैं -
 - (i-iv). अनंतानुबन्धी कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) जन्य मोहनीय कर्म,

(v-viii) अप्रत्याख्यानी-कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ)
जन्य मोहनीय कर्म,

(ix-xii) प्रत्याख्यानावरण-कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ)
जन्य-मोहनीय कर्म,

(xiii-xvi) संज्वलन कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ)
जन्य मोहनीय कर्म, तथा

ग. नौ प्रकार के नोकषायजन्य मोहनीय-कर्म -

- (i) हास्यजन्य मोहनीय कर्म,
- (ii) रतिजन्य मोहनीय कर्म,
- (iii) अरतिजन्य मोहनीय कर्म,
- (iv) भयजन्य मोहनीय कर्म,
- (v) शोकजन्य मोहनीय कर्म,
- (vi) जुगुप्साजन्य मोहनीय कर्म,
- (vii) स्त्रीवेदजन्य मोहनीय कर्म,
- (viii) पुरुषवेदजन्य मोहनीय कर्म, तथा
- (ix) नपुंसकवेदजन्य मोहनीय कर्म.

१. आयु-कर्म की चार उत्तर-प्रकृतियों निम्नानुसार हैं: -

- क. नरकायु-कर्म,
- ख. तिर्यचायु-कर्म,
- ग. मनुष्यायु-कर्म, तथा
- घ. देवायु-कर्म,

२. नाम-कर्म की १०३ उत्तर-प्रकृतियों निम्नानुसार हैं: -

- क. चौदह पिण्ड-प्रकृतियों की ७५ उत्तर-प्रकृतियों (१-७५) -
 - (i) गतिनाम-कर्म ४
 - (ii) जातिनाम-कर्म ५
 - (iii) तनुनाम-कर्म ५
 - (iv) अंगोपांगनाम-कर्म ३

१७२ : जैन-धर्म : जीवन-धर्म

	(v) बंधननाम-कर्म	१५
	(vi) संघातननाम-कर्म	५
	(vii) संहनननाम-कर्म	६
	(viii) संस्थाननाम-कर्म	६
	(ix) वर्णनाम-कर्म	५
	(x) गंधनाम-कर्म	२
	(xi) रसनाम-कर्म	५
	(xii) स्पर्शनाम-कर्म	८
	(xiii) आनुपूर्वीनाम-कर्म	४
	(xiv) विहायोगतिनाम-कर्म	२
	<u>कुल योग :</u>	<u>७५</u>
ख.	आठ प्रत्येक-प्रकृतियों (७६-८३) -	
	(i) पराघात नाम-कर्म	
	(ii) उच्छवास नाम-कर्म	
	(iii) आतप नाम-कर्म	
	(iv) उद्योत नाम-कर्म	
	(v) अगुरुलघु नाम-कर्म	
	(vi) तीर्थंकर नाम-कर्म	
	(vii) निर्माण नाम-कर्म, तथा	
	(viii) उपघात नाम-कर्म	
ग.	त्रस दशक (८४-९३) -	
	(i) त्रसनाम-कर्म	
	(ii) बादरनाम-कर्म	
	(iii) पर्याप्तनाम-कर्म	
	(iv) प्रत्येकनाम-कर्म	
	(v) स्थिरनाम-कर्म	

- (vi) शुभनाम-कर्म
- (vii) सुभगनाम-कर्म
- (viii) सुस्वरनाम-कर्म
- (ix) आदेयनाम-कर्म, तथा
- (x) यशःकीर्तिनाम-कर्म

घ. स्थावर दशक (६४-१०३) -

- (i) स्थावरनाम-कर्म
- (ii) सूक्ष्मनाम-कर्म
- (iii) अपर्याप्तनाम-कर्म
- (iv) साधारणनाम-कर्म
- (v) अस्थिरनाम-कर्म
- (vi) अशुभनाम-कर्म
- (vii) दुर्भगनाम-कर्म
- (viii) दुःस्वरनाम-कर्म
- (ix) अनादेयनाम-कर्म, तथा
- (x) अयशःकीर्तिनाम-कर्म

७. गोत्र-कर्म की दो उत्तर-प्रकृतियों हैं -

- क. उच्चगोत्र-कर्म, व
- ख. नीचगोत्र-कर्म.

८. अंतराय-कर्म की पाँच उत्तर-प्रकृतियों निम्नानुसार हैं -

- क. दानांतराय-कर्म,
- ख. लाभांतराय-कर्म,
- ग. भोगांतराय-कर्म,
- घ. उपभोगांतराय-कर्म, तथा
- ङ. वीर्यान्तराय-कर्म.

बद्ध कर्म की मात्रा (प्रदेश-बंध) -

कर्म-द्रव्य की वह मात्रा जो आत्मा के साथ उसके कषाय-भावों या राग-द्वेष के कारण मोहाविष्ट होकर उसके मन वचन या काया की क्रियाओं से आकृष्ट होकर कषाय प्रभाव से उसके साथ संश्लिष्ट हो जाती है, प्रदेश-बंध कहलाती है। कर्म-द्रव्य की यह मात्रा आत्मा के साथ प्रकृति-बंध में उल्लेखित अष्ट कर्मों के रूप में बंधती है जिनका तुलनात्मक परिमाण निम्नानुसार है: -

आयु-कर्म का परिमाण सबसे कम होता है।

ख. गोत्र-कर्म का परिमाण आयु-कर्म के तुल्य ही होता है।

ग. नाम-कर्म का परिमाण आयु-कर्म के परिमाण से कुछ अधिक होता है।

घ. ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय व अंतराय कर्मों का परिमाण आपस में समतुल्य होता है किंतु आयु-कर्म के परिमाण से कुछ अधिक होता है।

ङ. मोहनीय-कर्म का परिमाण उससे भी अधिक होता है तथा

च. वेदनीय-कर्म का परिमाण सबसे अधिक होता है।

इन आठकर्म-प्रकृतियों में कर्म-द्रव्य की जो मात्रा होती है उसका ही उनकी अपनी-अपनी उत्तर-प्रकृतियों में विभाजन होता है।

कर्म-बंध की तीव्रता -

जैन कर्म-सिद्धान्त के अनुसार कर्म-बंध की तीव्रता का सीधा संबंध कर्म-बंधक क्रिया-कलापों को करते समय के कषायों की प्रगाढता से है। कर्म-बंध की प्रगाढता की तरतमता कषायों की तीव्रता की तरतमता पर आश्रित है। तीव्रतर कषायों से आविष्ट आत्मा प्रगाढतर कर्म-बंधनों को बांधती है तथा अप्रगाढ कषायों से कम तीव्रता वाले कर्म बंधते हैं। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि शुभ या अशुभ भावनात्मक आवेश जितने तीव्र होंगे, आबद्ध कर्म का सुख-विपाक या दुःख-विपाक भी उतना ही तीव्र होगा।

कर्म-बंध का काल-मान (स्थिति-बंध) -

वह कालावधि जिसके लिये एकबार आबद्ध कर्म-द्रव्य निर्जरा पूर्व आत्मा के साथ संश्लिष्ट रहता है वह उस कर्म-बंध की स्थिति कहलाती है। इस कालावधि को प्रत्येक कर्म-बंध की अधिकतम संभव अवधि व न्यूनतम संभव अवधि के रूप में दिखाया जाता है। जैन शब्दावलि में अधिकतम संभव अवधि को उत्कृष्ट-स्थिति तथा न्यूनतम संभव अवधि को जघन्य-स्थिति कहा जाता है। अष्टकर्मों की उत्कृष्ट व जघन्य स्थितियाँ निम्नानुसार हैं: -

कर्म-प्रकृति	उत्कृष्ट-स्थिति	जघन्य-स्थिति
१. ज्ञानावरणीयकर्म	३० कोटाकोटि ^२ सागरोपम ^३	अंतर्मुहुर्त ^४
२. दर्शनावरणीयकर्म	३० कोटाकोटि सागरोपम	अंतर्मुहुर्त
३. वेदनीयकर्म	३० कोटाकोटि सागरोपम	१२ मुहुर्त
४. मोहनीयकर्म	७० कोटाकोटि सागरोपम	अंतर्मुहुर्त
५. आयुकर्म	३३ कोटाकोटि सागरोपम	अंतर्मुहुर्त
६. नामकर्म	२० कोटाकोटि सागरोपम	८ मुहुर्त
७. गोत्रकर्म	२० कोटाकोटि सागरोपम	८ मुहुर्त
८. अंतरायकर्म	३० कोटाकोटि सागरोपम	अंतर्मुहुर्त

कर्म की विभिन्न अवस्थाएँ -

जैन कर्म-सिद्धान्त में आत्मा व कर्म-द्रव्य के संयोग की बंधन, सत्ता

^२ कोटाकोटि = १०^{१४} .

^३ सागरोपम जैन काल-गणना में असंख्यकाल की वृहत्तर इकाई है जो पल्योपम का १०^{१४} गुनी होती है, पल्योपम का मान वह अमाप्य कालावधि है जो एक योजन x एक योजन x एक योजन (१ योजन = ४ कोस = लगभग ८ मील) के गड्ढे को युगलियों के महीन से महीन बालों के छोटे-छोटे टुकड़ों से कूट-कूट कर भरा जाए तथा प्रति १०० वर्षों में एक टुकड़ा निकाला जाए तो उस गड्ढे को खाली करने में लगती है।

आदि विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन मिलता है। वे विभिन्न अवस्थाएँ हैं -

१. बंधन, २. सत्ता, ३. उदय, ४. उदीरणा, ५. उद्वर्तना, ६. अपवर्तना, ७. संक्रमण, ८. उपशम, ९. निधत्ति, १०. निकाचन, ११. अबाधाकाल व १२. निर्जरा।

इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है -

१. बंधन - कर्म-द्रव्य का आत्मा के साथ नीर-क्षीरवत मिलजाने की प्रक्रिया को बंधन कहते हैं। यह प्रकृति-बंध, प्रदेश-बंध, अनुभाग-बंध व स्थिति-बंध रूप चार प्रकार का होता है।
२. सत्ता - आत्मा के साथ बद्ध कर्म-द्रव्य की बंधन से लगाकर निर्जरा होने तक की अवधि को सत्ता कहते हैं। इसमें उदयपूर्व की तथा उदयकाल की दोनों अवधियाँ सम्मिलित हैं। उदयपूर्व फल न देते हुवे भी कर्म-द्रव्य आत्मा से बद्ध अवस्था में विद्यमान रहता है।
३. उदय - यही वह अवस्था है जिसमें बद्ध कर्म अपना अवश्यभावी सुखकर या दुःखकर फल-विपाक देता है। कर्म-द्रव्य इस प्रकार फल देकर आत्मा से अलग हो जाता है जिसे निर्जरा कहते हैं।
४. उदीरणा - बद्ध कर्म-द्रव्य को प्रयत्नपूर्वक समय से पहले तप आदि के द्वारा उदय में लाकर उसका विपाक प्राप्त कर लेना उदीरणा है। इसे हम फलों के पकने पकाने की विधि के उदाहरण द्वारा आसानी से समझ सकते हैं। किसी भी फल को प्राकृतिक रूप से पकने में एक निश्चित समय लगता है किंतु तापमान वृद्धि या रसायन के छिड़काव आदि विभिन्न उपायों द्वारा उसे निश्चित अवधि से पहले ही पकाया जा सकता है। उसी प्रकार कर्मफल को भी विभिन्न उपायों द्वारा समय से पहले प्राप्त किया जा सकता है। सामान्यतया जिस कर्म-प्रकृति का उदय चल रहा हो उसके सजातीय कर्मों की ही उदीरणा की जा सकती है।
५. उद्वर्तना - बद्ध कर्म की स्थिति या अनुभाग में भाव-विशेष या

⁴ लगभग ४८ मिनट का काल एक मुहुर्त काल होता है, उससे कुछ कम कालावधि को अंतर्मुहुर्त कहते हैं।

अध्यवसाय-विशेष के कारण वृद्धि होजाना उद्धर्तना कहलाता है। इसे उत्कर्षण भी कहते हैं।

६. अपवर्तना - बद्ध कर्म की स्थिति या अनुभाग में भाव-विशेष या अध्यवसाय-विशेष के कारण कमी होजाना अपवर्तना कहलाता है। इसे अपकर्षण भी कहते हैं।

(उद्धर्तना व अपवर्तना के नियम से यह स्पष्ट है कि भाव व अध्यवसाय के समुचित प्रयोग द्वारा बद्ध कर्म की तीव्रता-मंदता में भी परिवर्तन किया जा सकता है)

७. संक्रमण - एक उप-प्रकार (उत्तर-प्रकृति) के कर्म-पुद्गल-परमाणुओं का दूसरे सजातीय उप-प्रकार (उत्तर-प्रकृति) के कर्म-पुद्गल-परमाणुओं में परिवर्तित हो जाना संक्रमण है। यह अंतःमूलप्रकृति ही हो सकता है अंतर्मूलप्रकृति नहीं। अर्थात् संक्रमण एक मूल-प्रकृति की उत्तर-प्रकृतियों में ही संभव है, एक का दूसरे में नहीं। यह नियम भी सार्वभौम नहीं है - आयु-कर्म की चार उत्तर-प्रकृतियों में संक्रमण नहीं होता है न ही मोहनीय-कर्म की दर्शन-मोहनीय व चारित्र-मोहनीय उत्तर-प्रकृतियों में।

८. उपशमन - कर्म की जिस अवस्था में उदय, उदीरणा, निधत्ति व निकाचना संभव न हो उसे उपशमन कहते हैं।

९. निधत्ति - जिस अवस्था में कर्म के उद्धर्तना व अपवर्तना के अलावा और कोई परिवर्तन, जैसे कि उदीरणा, संक्रमण आदि, संभव न हों वह अवस्था निधत्ति कहलाती है।

१०. निकाचन - वह अवस्था जिसमें कर्म को जिस रूप में बांधा हो उसी रूप में अनिवार्यतः भोगना पड़े वह निकाचन है। इसे नियत-विपाक वाला कर्म भी कह सकते हैं।

११. अबाधा - कर्म के बंधन व उदय के बीच का अंतराल ही अबाधाकाल है। यह कर्म की सत्ता का भाग है जो कि बंधन व निर्जरा के बीच का अंतराल है। अबाधाकाल में कर्म जिस रूप में बंधा है उसी रूप में रहता है।

१२. निर्जरा - बद्ध कर्म का समुचित फल-विपाक देकर आत्मा से अलग

हो जाना निर्जरा है।

कर्म-निर्जरा के उपाय -

अब तक हम यह समझ गए हैं कि आत्मा जो कि स्वाभाविक रूप से स्वतंत्र, शुद्ध व निर्दोष है कर्म-बंधन के कारण संसार में रहने के लिये विवश होती है। उसकी यह विवशता तभी समाप्त होती है जब उसके कर्म उससे छूट जाते हैं। अतः अब हमें कर्म-निर्जरा के उपायों पर ध्यान देना चाहिये जिनका अनुसरण कर आत्मा अपने शुद्ध, स्वतंत्र व निर्दोष स्वरूप को प्रकट कर सके तथा संसार से मुक्त होकर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो सके।

जैन मतानुसार मुक्ति का मार्ग सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन व सम्यक्चारित्र की त्रिवेणी से होकर जाता है। कुछ तत्त्ववेत्ता केवल दो साधनों - (सम्यक्) ज्ञान व क्रिया - की ही बात करते हैं। उनके अनुसार सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान में ही समाहित है क्योंकि सम्यग्दर्शन के अभाव में तो सम्यग्ज्ञान का होना भी असंभव है। कुछ अन्य मुक्ति-मार्ग के चार अंग - (सम्यक्) दर्शन, ज्ञान, चारित्र व तप - बतलाते हैं। इस मत के मानने वाले तप को चारित्र से अलग मानते हैं जब कि रत्नत्रय के समर्थक इसे चारित्र का आवश्यक अंग मानते हैं।

यहाँ यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि जब वेदिक दर्शन कर्म, ज्ञान, योग व भक्ति रूप चतुरंग मुक्ति-मार्ग को मानता है तो जैन-दर्शन उसी मुक्ति को अपने त्रिआयामी (सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र) या द्विआयामी (ज्ञान व क्रिया) मुक्ति-मार्ग द्वारा प्राप्त करने का दावा कैसे करता है? तनिक विचार करने से यह समझना कठिन नहीं है कि वेदिक परंपरा द्वारा विहित चार अंगों में से कर्म व योग जैन परंपरा के सम्यक्चारित्र में समाहित हो जाते हैं क्योंकि जैन परंपरा के सम्यक्चारित्र में मन-वचन-काय-संयम, वैचारिक शुद्धता एवं समभाव का समावेश है वहीं वेदिक परंपरा में भी कर्म के अंतर्गत मन-वचन-काय-संयम आता है तथा योग-साधना द्वारा वैचारिक शुद्धता व समभाव को प्राप्त किया जाता है। इस प्रकार वे समान ही हैं।

वेदिक दर्शन की भक्ति को जैन-दर्शन के सम्यग्दर्शन के समकक्ष रखा जा सकता है क्योंकि दोनों में ही धर्म-सिद्धांतों पर दृढ़ विश्वास पर बल दिया गया है। ज्ञान पर तो दोनों परंपराओं में समान रूप से जोर दिया ही गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नाम व संख्या का भेद होने पर भी जैन परंपरा में विहित रत्नत्रय मुक्ति-मार्ग व वेदिक परंपरा के धर्म-दर्शनों में विहित चतुरंग मुक्ति-मार्ग सारतः समान ही हैं।

जैन कर्म-सिद्धान्त का सारांश -

जैन-दर्शन का मत है कि शुद्ध व स्वतंत्रताप्रेमी आत्मा स्वयं के योग (मन-वचन-काया) की क्रियाओं तथा कषाययुक्त भावों के कारण कर्म-द्रव्य के साथ संयुक्त होकर अशुद्ध व पराधीन हो जाती है तथा संसार परिभ्रमण के लिये बाध्य हो जाती है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि जीव कर्म करने में स्वाधीन होता है अर्थात् वह निर्णय कर सकता है कि वह अमुक कर्म करे अथवा नहीं किंतु कर्मफल को भोगने में वह पराधीन होता है।

कर्म-द्रव्य को सुविधा के लिये कई बार केवल कर्म ही कह दिया जाता है जब कि कर्म का अर्थ क्रिया भी होता है। जैन कर्म-सिद्धांतानुसार प्रत्येक कर्म आत्मा के सापेक्ष बध्यमान, बद्ध व उदय, इन तीन में से किसी अवस्था में पाया जाता है। इन्हीं अवस्थाओं को बंध, सत्ता व उदय भी कहा जाता है। जैन कर्मसिद्धांत विषयक ग्रंथों में कर्म को आठ प्राथमिक (मूल-प्रकृतियों) तथा १५८ आनुषांगिक (उत्तर-प्रकृतियों) वर्गों में विभाजित किया गया है। सांसारिक प्राणियों से संबंधित कर्म विषयक ऐसा विस्तृत व स्वानुभूत वर्णन अन्य किसी भी धर्म-दर्शन में प्राप्त नहीं होता है। उदाहरणार्थ पातंजल योग-दर्शन में कर्मफल के रूप में केवल गति, आयु व वेदन का ही उल्लेख मिलता है जो कि जैन कर्म-सिद्धांत में वर्णित विषद व्याख्याओं के समक्ष नगण्य ही सिद्ध होता है।

जैन-कर्म-सिद्धान्त ऐसे-ऐसे प्रश्नों के उत्तर देता है जैसे कि -
“कर्म-द्रव्य आत्मा के साथ कैसे आबद्ध होता है?” “वे क्या कारण हैं जो

इस प्रकार के कर्म-बंधनों को जन्म देते हैं?” “कर्म आत्मा के साथ कब तक बंधे रह सकते हैं?” “कोई कर्म फल देने से पूर्व कितने समय तक सुप्तावस्था में रह सकता है?” “क्या कर्म के पूर्व-निर्धारित उदयकाल से पहले ही कर्मफल को भोगा जा सकता है, यदि हाँ तो कैसे?” “वे कैसे मनोभाव व क्रियाएँ हैं जिनसे ये परिवर्तन घटित होते हैं?” “क्या एक प्रकार का कर्म दूसरे प्रकार के कर्म में परिवर्तित हो सकता है?” “क्या कर्म की मात्रा व तीव्रता-मंदता को घटाया-बढ़ाया जा सकता है?” “क्या दृढ़ आत्मबल से तीव्र कर्म-विपाक को रोका जा सकता है?” “इस प्रकार के परिवर्तनों की सीमा क्या है?” “ऐसा क्यों है कि किन्हीं कर्मों के बंध समय में ही निर्धारित फलविपाक में सर्वोत्तम प्रयास से भी कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता है?” “ऐसा क्यों है कि शरीर के द्वारा किये गए कर्मों का कर्ता व भोक्ता शरीर नहीं अपितु आत्मा है?” “आध्यात्मिक साधनाओं के द्वारा दृढ़तापूर्वक बद्ध कर्मों को भी आत्म-प्रदेश से अलग कैसे किया जाता है?” आदि।

हम इस अध्याय का उपसंहार यह कह कर कर सकते हैं कि ‘कर्म’ जैन-दर्शन की विशेषता नहीं है किंतु इसकी विशेषता है जैन तत्त्ववेत्ताओं द्वारा किया गया इसका अद्वितीय विश्लेषण।

अध्याय - ८

आत्म-विकास के सोपान : गुणस्थान

आत्मा की मोह से मुक्ति तक की विकास-यात्रा -

कर्म-बंधनों से जकड़ी हुई आत्मा की स्थिति स्वाभाविक रूप से शुद्ध और स्वतंत्र आत्मा की स्वाभाविक स्थिति से कहीं भिन्न होती है। जब आबद्ध कर्म उदय में आते हैं तो आत्मा की स्वाभाविक अनंत शक्ति को भी दमित करके कम कर देते हैं। उसे अपनी अनंत शक्ति व सामर्थ्य का भान ही नहीं रहता तथा वह स्वयं की शोचनीय दशा पर भी ध्यान नहीं दे पाती है। सर्वसमर्थ आत्मा स्वयं की वास्तविकता से ही अनभिज्ञ हो जाती है। ऐसी बंधनावस्था में वह अपने आप को अजीव पदार्थों से निर्मित जड़ शरीर से एकाकार समझने लगती है। वह स्वयं को चैतन्य आत्मा व जड़ शरीर के द्वित्व को, उनके भेद-विज्ञान को समझने में असमर्थ पाती है तथा स्वयं को शारीरिक भोगों के प्रति पूर्णतया समर्पित कर देती है। वह अपने आध्यात्मिक सरोकारों को हवा में उड़ा देती है। यह आत्मा की निम्नतम अवस्था होती है जिसमें वह शरीर व आत्मा (जड़ व चेतन) को एक समझने के मिथ्यात्व से आवेष्टित सर्वथा मोहग्रस्त होती है। तथापि जैसे-जैसे आत्मा से अनजाने में ही, विपाक-भोग से या अकाम-निर्जरा के द्वारा आबद्ध मोहनीयकर्म का दबाव कुछ कम होता है, वह आत्मा व शरीर के भेद-विज्ञान का अनुभव करके आत्मा की शक्तियों से परिचित होने लगती है। यही सम्यग्दर्शन का प्रभात है, प्रादुर्भाव है, जिसके उदित होने मात्र से आत्मा मिथ्यात्व के गहन अंधकार से निकल कर सत्य के प्रकाश की पहली किरण का साक्षात्कार करती है, वह झूठ की काल-कोठरी से निकल कर सत्य के उपवन में विहार करने लगती है। यहीं से उसकी आत्मविकास की यात्रा का सूत्रपात हो जाता है। यद्यपि यह यात्रा सतत है, फिर भी रेल-पथ पर आने वाले विश्राम-स्थलों (रेल्वे-स्टेशन) व संधिस्थलों

(जंक्शन) की भांति ही उसके भी कुछ जाने-माने पड़ाव हैं। 'मोह' की गहन निद्रा से जागृत आत्मा का अंतिम गंतव्य तो निर्वाण या 'मोक्ष' ही है।

इस अध्याय में हम जीव (आत्मा) की मोह से मोक्ष तक की इस आध्यात्म-यात्रा के मार्ग में आने वाले चौदह पड़ावों की चर्चा करेंगे जिन्हें जैन-दर्शन में गुणस्थान कहा गया है।

भ्रामक मिथ्यात्व से जागृति -

मोह या विभ्रम का कारण यह मिथ्या धारणा है कि आत्मा व उसका शरीर रूपी आवरण अलग-अलग नहीं बल्कि एक ही हैं। इस मिथ्या धारणा के प्रभाव में ही राग व द्वेष रूपी आत्मिक विकृतियों पैदा होती हैं तथा जीव भौतिक सुख-सुविधाओं के पीछे भागता हुआ आत्म-धर्म के प्रति प्रमाद का आचरण करता है तथा उसके कार्य-कलाप कषायों से क्लुषित मानसिकता द्वारा संचालित होने लगते हैं।

जैन मान्यतानुसार सूक्ष्म वनस्पति जगत के अनंतानंत सूक्ष्मातिसूक्ष्म निगोद संज्ञक जीव अनंत काल तक मोह-मिथ्यात्व के प्रभाव में ही रहते हैं। उनकी इस अत्यंत शोचनीय दशा का कारण है उनका अत्यल्प जीवन काल। (एक बार पलक झपकाने जितनी अल्पावधि में निगोद पर्याय के जीव असंख्य बार जीवन-मरण कर लेते हैं) उन्हें तो इन सब कष्टों के बीच अपनी दयनीय दशा के बारे में विचार करने का अवकाश ही नहीं होता है। वे इस प्रकार की अवस्था में असंख्यासंख्य काल तक रहते हैं तथा कभी कभार किन्हीं निगोदियों को इस स्थिति से उबरने का अवसर मिलता है तब वे जीवन की मुख्यधारा में आ पाते हैं जहाँ उनके लिये मिथ्यात्व व मोह से ऊपर उठना भी संभव होता है। यह माना जाता है कि केवल उतने ही जीव निगोद-पर्याय से जीवों की मुख्यधारा में आ पाते हैं जितने जीव मुख्यधारा से निर्वाण प्राप्त कर मोक्षगामी सिद्ध हो जाते हैं। निगोद-पर्याय से मुख्यधारा में आए जीवों में से भी कुछ ही ऐसे होते हैं जिनकी संसार-मुक्ति संभव होती है, वे भव्य-जीव कहलाते हैं। अन्य तो

मुख्यधारा में आने के उपरांत भी अनंतकाल तक संसार-चक्र में ही भ्रमण करते हैं, वे अभव्य-जीव कहे जाते हैं।

भव्य-जीवों के भव-भ्रमण के अंतराल में कभी न कभी ऐसा समय जरूर आता है जब मोहनीयकर्म के क्षय (फल-विपाक देकर आत्म-प्रदेश से अलग हो जाना), उपशम (उदय में न होना) या क्षयोपशम (आंशिक रूप से क्षय व शेष का उपशम होना) के कारण मिथ्यात्व के गहन अंधकार में से सत्य की एक किरण फूटती है और वे मिथ्यात्व से ऊपर उठ कर सम्यक्त्व का साक्षात्कार कर लेते हैं। सत्य के इस साक्षात्कार, जो सही दिशा में एक कदम होता है, की तुलना हम ग्रंथिभेद के साथ कर सकते हैं।

इस अध्याय की विषय-वस्तु यह आध्यात्मिक विकास-यात्रा ही है।

गुणस्थान -

गुणस्थान या जीवस्थान भव्य आत्मा की सम्मोहक, भ्रामक व बंधक मिथ्यात्व से सम्यक्त्व की मार्गदर्शक ज्योति, केवलज्ञान की सर्वांग सर्वज्ञता, अनंतानंद की अनुभूति व अखण्ड आत्मसामर्थ्य की विमोचक व उद्धारक परिशुद्ध पूर्णता की यात्रा के मार्ग में आने वाले पड़ाव हैं। चौदह ऐसे विशिष्ट पड़ाव हैं जो आत्मा की अबाध अपूर्णता से असीम पूर्णता की इस विकास-यात्रा के मार्ग में आते हैं। यहाँ हम इन पड़ावों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करेंगे तथापि उसके पूर्व इनके बारे में कुछ तथ्यों को जान व समझ लेना परमावश्यक है। वे तथ्य इस प्रकार हैं -

1. आत्मा के आध्यात्मिक उत्थान या पतन की प्रक्रिया एक सतत प्रक्रिया है जिसमें मार्ग में अनंत बिंदु हैं। चौदह गुणस्थान तो केवल पारंपरिक रूप से चिन्हित मुकाम हैं।
2. गुणस्थानों के क्रम में आरोह व अवरोह विशुद्ध आध्यात्मिक प्रक्रियाएँ हैं, इनकी कोई भौतिक अभिव्यक्ति नहीं होती है।
3. इस प्रक्रिया का नियंत्रण किसी भी समय आत्मा के साथ आबद्ध कर्म-द्रव्य के द्वारा होता है। इस आबद्ध कर्म-द्रव्य में कर्मा-बेशी

जीव के शारीरिक आवरण के मन-वचन-काया के क्रिया-कलापों तथा राग-द्वेष, मोह, कषाय या इनके विपरीत भावों से होती है। अतः गुणस्थान क्रम में आरोह या अवरोह एक सतत परिवर्तनशील प्रक्रिया है जो आत्म-गुणों के इन कारकों पर निर्भर है।

४. तीन-करण - गुणस्थान आरोहण के क्रम में साधक की साधना में आध्यात्मिक विकास करते-करते ऐसे अवसर भी आते हैं जब उसे कुछ विशिष्ट प्रयत्न करने पड़ते हैं। तथा कुछ विशिष्ट उपलब्धियों भी होने लगती है।

क. यथाप्रवृत्तिकरण - जब साधक (सातवें गुणस्थान पर) अप्रमत्त साधना करता है तो उसका सामना अविश्वास की विकट ग्रंथि से होता है जिसका भेदन वह स्वयं अपने दृढ संकल्प व भागीरथ प्रयत्न से ही कर सकता है, उसका यह सम्यक् प्रयास ही यथाप्रवृत्तिकरण है।

ख. अपूर्वकरण - (आठवें गुणस्थान में) बादर-कषायों का निवारण करके जब साधक रस-स्थिति घात व गुणसंक्रमण द्वारा कर्मों का दलन करता है तो उसे अपूर्व अनुभूति होती है। यही अपूर्वकरण है।

ग. अनिवृत्तिकरण - (नवें गुणस्थान में) तीन संज्वलन-कषायों (क्रोध-मान-माया) का निवारण करके जब साधक संपूर्ण कषायक्षय के सन्निकट होता है तो वह अनिवृत्तिकरण करता है।

५. उपशम और क्षपक श्रेणियों - आध्यात्मिक विकास की इस यात्रा में एक मुकाम के बाद उसका आगे का विकास केवल कर्मक्षय द्वारा ही हो सकता है, उनके उपशम द्वारा नहीं। बादर कषायों के निवारण के पश्चात् जो साधक कर्मों के उपशम (उपशम-श्रेणि) द्वारा आगे बढ़ता है उसकी गति ग्यारहवें गुणस्थान पर ही केवल अवरुद्ध ही नहीं हो जाती है अपितु वहाँ से उसका पतन भी प्रारंभ हो जाता है जो प्रथम मिथ्यात्व-गुणस्थान तक भी जा सकता है। कर्मों के साथ सांप-सीढ़ी के इस खेल में वही साधक निर्वाण तक निरंतर आगे बढ़ता रह सकता है जो कर्मक्षय के मार्ग

(क्षपक-श्रेणि) से आगे बढ़ता है।

चौदह गुणस्थान -

अब हम चौदह गुणस्थानों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करते हैं -

१. मिथ्यात्व-गुणस्थान -

आध्यात्मिक दृष्टि से यह आत्मा की सबसे हीन निम्नतम अवस्था है। इस अवस्था में आत्मा पूरी तरह मिथ्यात्व व तज्जन्य विभ्रम की मुट्टि में होता है। निगोद-पर्याय के अनंत जीव, स्थावर-एकेन्द्रिय जीव तथा देव-मनुष्य-नारक-तिर्यच के अधिकतर जीव भी मिथ्यात्वग्रस्त होते हैं। उनकी जीवन-दृष्टि, उनकी विचारधारा, उनकी मनोवृत्ति मिथ्या-धारणाओं के रंग में रंग जाती हैं तथा वे वस्तुओं को यथार्थ रूप में, उनके सही परिप्रेक्ष्य में नहीं देख पाते हैं। या तो निगोदियों की भाँति उनकी कोई धारणा ही नहीं होती है। और अन्य मिथ्यादृष्टि प्राणियों में जो धारणा होती वह मिथ्या-धारणा ही होती है। पंचेन्द्रिय प्राणियों में भी मिथ्यादृष्टि जीवों की संख्या सम्यग्दृष्टि जीवों की अपेक्षा असंख्यगुणा अधिक होती है। इससे यह प्रकट होता है कि मिथ्यात्व का शिकंजा बहुत कसा हुआ है तथा इससे छुटकारा पाना भी उतना ही कठिन है। प्राणियों के मिथ्यात्व की स्थिति में रहने की अवधि भी बहुत लंबी है। इससे छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय दर्शन-मोहनीय कर्म के क्षय, उपशम या क्षयोपशम द्वारा मिथ्यात्व-ग्रंथि को खोलना है।

२. सास्वादन-गुणस्थान -

आत्मिक गुणों की दृष्टि से यह आत्मा की दूसरी अवस्था है जो केवल ऊपर के गुणस्थानों से नीचे आते समय ही संभव है। वे जीव जिन्हें अभी स्थाई क्षायिक-सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हुआ हो तथा वे किसी कारण से ऊपर के गुणस्थानों से अवनत होकर नीचे की ओर आ रहे हों उनकी एक अवस्था ऐसी होती है जिसमें वे मिथ्यात्व के अति निकट होते हैं फिर भी उनमें सम्यक्त्व का कुछ अंश शेष रह जाता है। इसकी तुलना ऐसे व्यक्ति

के मुंह में अटके स्वाद के साथ की गई है जिसने खीर खाकर वमन कर दी हो। खीर तो वमन कर दी जाती है किंतु उसका मीठा स्वाद कुछ देर के लिये बना रहता है। इस गुणस्थान के प्राणी की भी कुछ ऐसी ही स्थिति होती है।

३. मिश्र-गुणस्थान -

यह सम्यक्त्व के संदर्भ में आत्मा की तीसरी स्थिति है जो अनंतानुबंधी कषाय व दर्शन-मोहनीय कर्म के क्षय, उपशम या क्षयोपशम के कारण मिथ्यात्व से सम्यक्त्व की ओर बढ़ रहे जीव में तथा अनंतानुबंधी कषाय व दर्शन-मोहनीय कर्म के उदय से सम्यक्त्व से मिथ्यात्व की ओर पतित हो रहे प्राणी में भी पाई जा सकती है। जैसा कि इसके नाम से ही भासित होता है इसमें प्राणी में सम्यक्त्व व मिथ्यात्व का मिश्रण पाया जाता है। सादि मिथ्यात्व वाला प्राणी विकासक्रम में पहले गुणस्थान से सीधे इस गुणस्थान में आता है किंतु सम्यक्त्व से मिथ्यात्व की ओर जाने वाला प्राणी चतुर्थ गुणस्थान से इसमें आता है तथा अपनी अधोगति में इस गुणस्थान को भी पार करता है। जब किसी जीव को जिसे अस्थाई औपशमिक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, उच्च गुणस्थानों से नीचे की ओर आते समय एक स्थिति ऐसी आती है जब उसमें सम्यक्त्व व मिथ्यात्व दोनों विद्यमान होते हैं तथा वह संशय व अनिर्णय की स्थिति में होता है। उसकी स्थिति की तुलना ऐसे व्यक्ति के साथ की गई है- जो शर्करा मिश्रित दधि खाता है और उसके मुंह में दही का खट्टा व शक्कर का मीठा दोनों स्वाद होते हैं। वह निर्णय नहीं कर पाता है कि उसके मुंह का स्वाद खट्टा है या मीठा। इस गुणस्थान की स्थिति एक अंतर्मुहुर्त की ही होती है तथा यदि अनंतानुबंधी कषाय-चतुष्क का उदय चल रहा हो तो प्राणी दूसरे गुणस्थान के रास्ते मिथ्यात्व गुणस्थान की ओर जाता है अन्यथा वह चतुर्थ गुणस्थान में जाता है।

४. अविरत सम्यग्दृष्टि-गुणस्थान -

यह सम्यक्त्व के संदर्भ में आत्मा की चतुर्थ स्थिति है जो

अनंतानुबंधी कषाय व दर्शन-मोहनीय कर्म के क्षय, उपशम या क्षयोपशम के कारण मिथ्यात्व से सम्यक्त्व की ओर बढ़ रहे जीव में तथा अनंतानुबंधी कषाय व दर्शन-मोहनीय कर्म के उदय से सम्यक्त्व से मिथ्यात्व की ओर पतित हो रहे प्राणी में भी पाई जा सकती है। जैसा कि पूर्व में उल्लेख कर दिया गया है, जब जीव अनंतानुबंधी कषाय व दर्शन-मोहनीय कर्म का क्षय, उपशम या क्षयोपशम कर लेता है तो वह मिथ्यात्व से सम्यक्त्व की ओर बढ़ता है उसकी मिथ्या धारणाएँ सही धारणाओं में परिवर्तित होने लगती हैं। तब वह आत्मा व शरीर के, तथा हेय, ज्ञेय व उपादेय के अंतर को समझने लगता है। इस मुकाम पर पहुँचने पर वह सत्ता के वास्तविक स्वरूप को और तत्त्वों को जानने लगता है तथा उन पर श्रद्धा करने लगता है। उसे यह अनुभूत होने लगता है कि आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र की त्रिवेणी से होकर जाता है और यह भी कि तीर्थकरों द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों पर दृढ़ श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है, उनका ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है तथा इन दोनों के अनुसार आचरण ही सम्यक्चारित्र है। लेकिन फिर भी चारित्र-मोहनीय-कर्म व अप्रत्याख्यानी कषाय के उदय के कारण वह अपने आप को चाहते हुवे भी सम्यक्चारित्र का पालन करने में असमर्थ पाता है। इस गुणस्थान के विभिन्न घटकों की उत्कृष्ट-जघन्य स्थितियाँ इस प्रकार है -

क. सम्यक्त्व की -

उत्कृष्ट - एक अंतर्मुहुर्त,

जघन्य - क्षायिक सम्यक्त्व की सदाकाल व

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की ६६ सागरोपम.

ख. इस गुणस्थान की -

उत्कृष्ट - एक अंतर्मुहुर्त,

जघन्य - ३३ सागरोपम से कुछ अधिक.

यह स्थिति तब तक ही रहती है जब तक जीव अविरत सम्यग्दृष्टि रहता है। ज्यों ही वह अविरत से विरत हो जाता है तथा आंशिक या पूर्ण रूप से व्रत ग्रहण कर लेता है वह उच्चतर गुणस्थानों में चला जाता है।

५. देशविरत-गुणस्थान -

यह सम्यक्त्व व चारित्र के संदर्भ में आत्म-विकास की पंचम स्थिति है जो अनंतानुबंधी कषाय व दर्शन-मोहनीय कर्म के क्षय, उपशम या क्षयोपशम के कारण मिथ्यात्व से सम्यक्त्व की ओर व चारित्र-मोहनीय कर्म व प्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से अविरति से विरति की ओर बढ़ रहे जीव में तथा इसके विपरीत विरति से अविरति तथा सम्यक्त्व से मिथ्यात्व की ओर पतित हो रहे प्राणी में भी पाई जा सकती है। इस पड़ाव पर भी संयम की पूर्णता नहीं आ पाती है अतः जीव देशविरत - श्रावक ही हो पाता है। यहाँ भी यह ज्ञात रहे कि इनमें से भी कई श्रावक पूरे बारह व्रतों को ग्रहण कर उनका पालन करते हैं, कई श्रावक-प्रतिमाओं की आराधना भी करते हैं तथा कई केवल कुछेक व्रतों का ही पालन कर पाते हैं। इस गुणस्थान की जघन्य स्थिति एक अंतर्मुहूर्त की तथा उत्कृष्ट स्थिति एक पूर्वकोटि वर्ष से कुछ कम होती है।

६. प्रमत्तसंयत-गुणस्थान -

यह सम्यक्त्व व चारित्र के संदर्भ में आत्म-विकास की छठी स्थिति है जो अनंतानुबंधी कषाय व दर्शन-मोहनीय कर्म के क्षय, उपशम या क्षयोपशम के कारण मिथ्यात्व से सम्यक्त्व की ओर व चारित्र-मोहनीय कर्म व प्रत्याख्यानावरण व अप्रत्याख्यानी कषायों के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से अविरति से विरति की ओर बढ़ रहे जीव में तथा इसके विपरीत विरति से अविरति तथा सम्यक्त्व से मिथ्यात्व की ओर पतित हो रहे प्राणी में भी पाई जा सकती है। इस पड़ाव पर अप्रत्याख्यान के क्षयोपशम के कारण साधक पंचमहाव्रत रूप संयम तो ग्रहण कर लेता है किंतु संज्वलन कषाय-चतुष्क का उदय रहने के कारण वह अपनी साधना में प्रमाद करता है, उसकी साधना अप्रमत्त नहीं हो पाती है। इस गुणस्थान में साधक के निद्रा, विकथा, भौतिकता के प्रति आकर्षण व भोग तथा कषाय रूपी प्रमादाचरण की संभावना हर समय बनी रहती है। इस गुणस्थान की जघन्य व उत्कृष्ट स्थितियाँ पौंचवें गुणस्थान के समान ही होती हैं।

७. अप्रमत्तसंयत-गुणस्थान -

यह सम्यक्त्व व चारित्र के संदर्भ में आत्म-विकास की सातवीं स्थिति है जो अनंतानुबंधी कषाय व दर्शन-मोहनीय कर्म के क्षय, उपशम या क्षयोपशम के कारण मिथ्यात्व से सम्यक्त्व की ओर व चारित्र-मोहनीय कर्म व प्रत्याख्यानावरण, अप्रत्याख्यानी व संज्वलन कषायों के देश-क्षय, उपशम या क्षयोपशम से अविरति से विरति की ओर बढ़ रहे जीव में तथा इसके विपरीत विरति से अविरति तथा सम्यक्त्व से मिथ्यात्व की ओर पतित हो रहे प्राणी में भी पाई जा सकती है। इस पड़ाव पर अप्रत्याख्यान के क्षयोपशम के कारण साधक पंचमहाव्रत रूप संयम ग्रहण करता है तथा उसका प्रमाद रहित पालन भी करता है। इस गुणस्थान में साधक के निद्रा, विकथा, भौतिकता के प्रति आकर्षण व भोग तथा कषाय रूपी प्रमादाचरण की संभावना नहीं रहती है तथा वह धर्म-ध्यान में रत रहता है। इसी गुणस्थान में वह विशेष रूप से आत्मशोधक प्रक्रियाओं (तीन करणों) में से प्रथम - यथाप्रवृत्तिकरण के प्रयोग से ग्रंथिभेद करता है। इस गुणस्थान की जघन्य स्थिति एक समय की तथा उत्कृष्ट स्थिति एक अंतर्मुहुत की होती है।

८. निवृत्तिबादर-गुणस्थान -

यह सम्यक्त्व व चारित्र के संदर्भ में आत्म-विकास की आठवीं स्थिति है जो अनंतानुबंधी कषाय व दर्शन-मोहनीय कर्म के क्षय, उपशम या क्षयोपशम के कारण मिथ्यात्व से सम्यक्त्व की ओर व चारित्र-मोहनीय कर्म व अनंतानुबंधी, प्रत्याख्यानावरण व अप्रत्याख्यानी कषायों के पूर्ण-क्षय से अविरति से विरति की ओर बढ़ रहे जीव में तथा इसके विपरीत विरति से अविरति तथा सम्यक्त्व से मिथ्यात्व की ओर पतित हो रहे प्राणी में भी पाई जा सकती है। इस अवस्था में अप्रमत्त साधक बादर-कषायों से पूर्णतया मुक्त नहीं हो पाता है फिर भी यहीं उसकी साधना के भाविष्य की नींव रखी जाती है। जो साधक क्षपक-श्रेणि पर आरुढ़ होते हैं वे उत्तरोत्तर विकास करते हुवे सिद्ध, बुद्ध व मुक्त हो जाते हैं तथा जो उपशम-श्रेणि

पर चढ़ते हैं वे न केवल ग्यारहवें गुणस्थान से आगे नहीं जा पाते हैं अपितु वहाँ से नीचे ही गिरते हैं। इसी गुणस्थान में साधक अपूर्वकरण का प्रयोग भी करता है, अतः इसे अपूर्वकरण-गुणस्थान भी कहा जाता है। 'गुणस्थान क्रमारोह' के अनुसार इस अवस्था में साधक के लिये शुक्लध्यान संभव है। इस गुणस्थान की जघन्य व उत्कृष्ट स्थितियाँ सातवें गुणस्थान के समान ही होती हैं।

६. अनिवृत्तिबादर-गुणस्थान -

यह सम्यक्त्व व चारित्र के संदर्भ में आत्म-विकास की नवीं स्थिति है जो गुणस्थान आरोह व अवरोह दोनों स्थितियों में प्राप्य है। इस अवस्था में अप्रमत्त साधक संज्वलन-कषायों से मुक्ति का प्रयास करता है किंतु उनसे पूर्णतया मुक्त नहीं हो पाता है, उनके कुछ अंश फिर भी शेष रह जाते हैं। जो साधक क्षपक-श्रेणि पर आरूढ़ होते हैं वे उत्तरोत्तर विकास करते हुवे सिद्ध, बुद्ध व मुक्त हो जाते हैं तथा जो उपशम-श्रेणि पर चढ़ते हैं वे ग्यारहवें गुणस्थान तक तो चढ़ जाते हैं किंतु उनके कषाय फिर उदय में आ जाते हैं तथा वे वहाँ से नीचे गिरते हैं। इस गुणस्थान को अनिवृत्तिकरण के प्रयोग के कारण अनिवृत्तिकरण-गुणस्थान भी कहा जाता है। इस गुणस्थान की भी जघन्य व उत्कृष्ट स्थितियाँ सातवें गुणस्थान के समान ही एक समय व एक अंतर्मुहूर्त ही होती हैं।

१०. सूक्ष्मसंपराय-गुणस्थान -

यह सम्यक्त्व व चारित्र के संदर्भ में आत्म-विकास की दसवीं स्थिति है जो गुणस्थान आरोह व अवरोह दोनों स्थितियों में प्राप्य है। इस अवस्था में अप्रमत्त साधक संज्वलन-कषायों से मुक्ति का प्रयास करता है तथा क्रोध, मान व माया से मुक्त भी हो जाता है किंतु लोभ कषाय के कुछ सूक्ष्म अंश फिर भी शेष रह जाते हैं। जो साधक क्षपक-श्रेणि पर आरूढ़ होते हैं वे इन लोभ-दलिकों का भी क्षय करके इस गुणस्थान से सीधे बारहवें गुणस्थान को प्राप्त करते हैं तथा आगे भी आत्म-विकास करते हुवे सिद्ध,

बुद्ध व मुक्त हो जाते हैं तथा जो उपशम-श्रेणि पर चढ़ते हैं वे सूक्ष्म लोभ-कषाय के भी उपशम द्वारा ग्यारहवें उपशांतकषाय-गुणस्थान तक तो चढ़ जाते हैं किंतु उनके कषाय फिर उदय में आ जाते हैं तथा वे वहाँ से नीचे गिरते हैं। इस गुणस्थान तक योग व कषाय दोनों विद्यमान रहते हैं तथा इसके उत्तरवर्ती ग्यारहवें से तेरहवें गुणस्थान तक केवल कषाय रहित योग व चौदहवें में कषाय व योग दोनों का अभाव होता है। इस गुणस्थान की भी जघन्य व उत्कृष्ट स्थितियाँ सातवें गुणस्थान के समान ही एक समय व एक अंतर्मुहुर्त ही होती हैं।

११. उपशांतकषाय-गुणस्थान -

यह सम्यक्त्व व चारित्र के संदर्भ में आत्म-विकास की ग्यारहवीं स्थिति है जो गुणस्थान आरोह के क्रम में उन साधकों द्वारा प्राप्त की जाती है जो आठवें गुणस्थान में उपशमश्रेणि पर आरूढ होते हैं तथा नवें व दसवें गुणस्थानों में क्रमशः सूक्ष्म संज्वलन क्रोध-मान-माया तथा लोभ-कषाय दलिकों का भी पूर्ण उपशम करके अस्थायी रूप से ही सही वीतरागता को छू लेते हैं। तथापि यह स्थिति एक अंतर्मुहुर्त तक ही रह पाती है तथा तत्पश्चात् उपशांत कषाय पुनः उदय में आकर साधक को नीचे धकेल देते हैं। यह पतन आत्मा के भाव-सामर्थ्यानुसार किसी भी स्तर पर रुक सकता है। जिन जीवों ने पूर्व में ही क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया हो वे चतुर्थ गुणस्थान से नीचे नहीं जाते हैं किंतु जिन साधकों का सम्यक्त्व क्षायोपशमिक होता है वे तो निम्नतम पहले मिथ्यात्व-गुणस्थान तक भी गिर सकते हैं। यह समझना आवश्यक है कि आत्मा इस गुणस्थान से आगे क्यों नहीं जा सकती है। कारण यह है कि इसके आगे के आत्मिक विकास के लिये आत्मा से कषायों व मोहनीय-कर्म (राग-द्वेष) की पूर्णतः निर्जरा आवश्यक है न कि केवल उपशम। जिन साधकों ने आठवें गुणस्थान में क्षपकश्रेणि का आरोहण किया होता है वे तो इस गुणस्थान को स्पर्श भी नहीं करते हैं, वे तो दसवें गुणस्थान से सीधे बारहवें गुणस्थान को प्राप्त करते हैं। हाँ! इस गुणस्थान को प्राप्त तथा अंतर्मुहुर्तमात्र के लिये ही सही वीतरागता का स्पर्श कर चुकी आत्मा की मुक्ति का कालमान निश्चित हो

जाता है, वह अधिकतम अर्द्ध- पुद्गलपरावर्तन काल में निर्वाण को प्राप्त करती है। इस गुणस्थान की भी जघन्य व उत्कृष्ट स्थितियों सातवें गुणस्थान के समान ही एक समय व एक अंतर्मुहुर्त ही होती हैं।

१२. क्षीणकषाय-वीतराग-गुणस्थान -

यह सम्यक्त्व व चारित्र के संदर्भ में आत्म-विकास की बारहवीं स्थिति है जो गुणस्थान आरोह के क्रम में उन साधकों द्वारा प्राप्त की जाती है जो आठवें गुणस्थान में क्षपकश्रेणि पर आरूढ होते हैं तथा नवें व दसवें गुणस्थानों में क्रमशः सूक्ष्म संज्वलन क्रोध-मान-माया तथा लोभ-कषाय दलिकों का भी पूर्ण क्षय करके स्थाई रूप से वीतरागता को प्राप्त करते हैं। पूर्ण कषाय-मुक्ति की परिणति मोहनीय कर्म के क्षय के रूप में होती है तथा साधक वीतराग हो जाता है, वह समस्त सांसारिकता से मुक्त होकर केवल शुक्लध्यान में संलग्न हो जाता है। उसका शुक्लध्यान भी शुद्ध से शुद्धतर होता हुआ चार घातिया कर्मों के क्षय होते ही शुद्धतम हो जाता है तथा साधक केवली होकर तेरहवें सयोगीकेवली-गुणस्थान पर चढ़ जाता है जहाँ से निर्वाण का अंतिम लक्ष्य केवल चार अघातिया कर्मों के क्षय होने की औपचारिकता मात्र रह जाता है। इस गुणस्थान की स्थिति केवल एक अंतर्मुहुर्त की होती है।

१३. सयोगीकेवली-गुणस्थान -

यह सम्यक्त्व व चारित्र के संदर्भ में आत्म-विकास की तेरहवीं स्थिति है जो गुणस्थान आरोह के क्रम में उन साधकों द्वारा प्राप्त की जाती है जो आठवें गुणस्थान में क्षपकश्रेणि पर आरूढ होते हैं तथा बारहवें गुणस्थान में चार घातिया कर्मों का क्षय करके केवलत्व को प्राप्त करते हैं। इस गुणस्थान में साधक मोहनीय-कर्म के क्षय द्वारा प्राप्त पूर्ण अभ्रामकता, ज्ञानावरणीय-कर्म के क्षय से प्राप्त सर्वज्ञता, दर्शनावरणीय-कर्म के क्षय से प्राप्त सर्वदर्शिता तथा अंतराय-कर्म के क्षय से प्राप्त पूर्ण आत्म सामर्थ्य का स्वामी होता है। इसे सयोगीकेवली-गुणस्थान भी कहते हैं क्योंकि सर्वशुद्ध

आत्मा अभी भी शारीरिक कलेवर में आबद्ध होती है जिससे मुक्ति कालक्रम से शेष चार अघातिया कर्मों के क्षय से ही मिल सकती है। काल व्यतीत होने के साथ ही आयु-कर्म का क्षय होता है तथा दो अन्य अघातिया कर्म - नाम व गोत्र - भी इसके साथ-साथ ही क्षय हो जाते हैं किंतु कई बार ऐसा होता है कि आयु कर्म के संपूर्ण क्षय होने के सन्निकट होने पर भी वेदनीय कर्म का काफी भाग अभुक्त रह जाता है जिसका वेदन भी मुक्ति की प्राप्ति के लिये आवश्यक है। क्योंकि आयु-कर्म को तो बढ़ाया नहीं जा सकता है, अतः शेष वेदनीय-कर्म का वेदन अवशिष्ट आयु में करने के लिये सयोगी केवली 'केवली-समुद्घात' संज्ञक एक विशेष प्रक्रिया अपनाते हैं जिसमें वे अपने आत्म-प्रदेशों का विस्तार संपूर्ण लोकाकाश में कर लेते हैं तथा शेष वेदनीय-कर्म का वेदन कर लेते हैं। इस प्रकार सभी अष्ट-कर्मों का क्षय होते ही आत्मा भौतिक शरीर के आवरण से रहित होकर चौदहवें अयोगीकेवली-गुणस्थान को प्राप्त कर लेती है। तेरहवें सयोगीकेवली गुणस्थान में आत्मा न्यूनतम एक अंतर्मुहुर्त व अधिकतम एक करोड़ पूर्व-वर्ष से कुछ कम स्थिति तक रह सकती है।

१४. अयोगीकेवली-गुणस्थान -

यह आत्म-विकास की चौदहवीं व अंतिम स्थिति है जो गुणस्थान आरोह के क्रम में उन साधकों द्वारा प्राप्त की जाती है जो आठवें गुणस्थान में क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ होते हैं तथा बारहवें गुणस्थान में चार घातिया कर्मों का क्षय करके केवलत्व को प्राप्त करते हैं तथा तेरहवें सयोगीकेवली-गुणस्थान में शेष चार अघातिया कर्मों का भी निःशेष क्षय करके अयोगी केवलत्व को प्राप्त करते हैं। इस उपलब्धि को प्राप्त करने के लिये जब केवली साधकों के आयु-कर्म निःशेष होने को होते हैं तो वे योग-निरुध्धन (समस्त शारीरिक क्रियाओं को रोकना) व शैलेशीकरण (शिलावत् निष्कंप अवस्था में अवस्थित हो जाना) द्वारा देह का त्याग करके इस गुणस्थान में प्रवेश करते हैं। इस स्थिति में आत्मा केवल पाँच ह्रस्वाक्षरों (अ, इ, उ, ऋ व लृ) के उच्चारण जितने काल तक ही रहती है। तत्पश्चात् वह संसारी जीवन को सदा-सर्वदा के लिये त्यागकर लोकाग्र

की ओर ऊपर उठती है तथा सभी सांसारिक आत्माओं के अंतिम लक्ष्य निर्वाण या संसार-मुक्ति को प्राप्त कर लोकाकाश की सर्वोच्च सीमा पर स्थित ईशत्प्राग्भार पृथ्वी पर सिद्धलोक में जाकर स्थित हो जाती है।

उपसंहार -

चौदह गुणस्थानों उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन तत्त्व- दर्शकों ने इनको अपने स्वयं के जीवन में प्रकट करके, अनुभूत करके कितने व्यवस्थित रूप से आने वाली पीढ़ियों के हितार्थ इनका उपदेश किया है। इनसे हमें आत्म-विकास के विभिन्न घटकों - दृष्टि का सम्यक् व यथार्थ होना, सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति, कषायजय, मन-वचन-काया का संयम, अपने आध्यात्मिक कर्तव्यों के पालन में अप्रमाद, निद्रा-विकथादि से बचाव ताकि साधक अविरत गति से आत्म-साधना में रत रह सके व आत्म-विकास के उत्तरोत्तर सोपान चढ़ते-चढ़ते अपने अंतिम लक्ष्य - निर्वाण या मुक्ति को प्राप्त कर सके।

* * *

જૈન-ધર્મ : જીવન-ધર્મ

તૃતીય સ્વર્ણ

જૈન લોક-વિજ્ઞાન

અધ્યાય-૬	-	દ્રવ્યલોક
અધ્યાય-૧૦	-	ક્ષેત્રલોક
અધ્યાય-૧૧	-	કાલલોક
અધ્યાય-૧૨	-	ભાવલોક

इस खण्ड में चिरंतन काल से तत्त्व-चित्तकों की जिज्ञासा के दूसरे क्षेत्र - 'लोक-स्वरूप' को अपना विषय बनाया गया है। विषय को द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव के सापेक्ष्य 'द्रव्यलोक', 'क्षेत्रलोक', 'काललोक' तथा 'भावलोक' संज्ञक चार अध्यायों के माध्यम से प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

अध्याय - ६ : द्रव्यलोक

ब्रह्माण्डीय द्रव्य -

जैन मतानुसार ब्रह्माण्ड छः प्रकार के द्रव्यों (षड्द्रव्यों) से निर्मित है जिनमें से केवल एक मूर्त, दृश्य व साकार है शेष पाँच अमूर्त, अदृश्य व निराकार हैं। मूर्त द्रव्य को पुद्गल-द्रव्य की संज्ञा से जाना जाता है जो कि समस्त दृष्टिगोचर लोक के लिये उत्तरदायी है। पाँच अदृश्य द्रव्य हैं - १. आत्मा या जीव-द्रव्य, २. अवकाश प्रदाता आकाश-द्रव्य, ३. गति का उदासीन माध्यम (ईश्वर या चल-जड़त्व) - धर्म-द्रव्य, ४. स्थिति का उदासीन माध्यम (एंटीईश्वर या अचल-जड़त्व) - अधर्म-द्रव्य तथा ५. समय-मानक काल-द्रव्य। इस अध्याय में हम द्रव्यलोक का विहंगावलोकन प्रस्तुत करेंगे।

आत्मा : जीव-द्रव्य -

हम इस अमूर्त, अव्यक्त, अरूपी, अदृश्य द्रव्य की विस्तृत चर्चा नव-तत्त्व विषयक 'तत्त्वार्थ' शीर्षकीय तृतीय अध्याय में कर चुके हैं। जीव या आत्मा या चैतन्य-द्रव्य नौ तत्त्वों में पहला है जो कि जैन-दर्शन के भव्य प्रासाद का आधार है। वहाँ हमने अपर्याप्तक सूक्ष्म-एकेन्द्रिय जीवों से लगाकर पर्याप्तक संज्ञी-पंचेन्द्रिय जीवों तक के चौदह जीव-समास का वर्णन किया था। वहीं देव, मनुष्य, नारक व मनुष्येतर जलचर, थलचर, खेचर पशु, पक्षी, मत्स्य, कीट, पतंग आदि तिर्यंच रूप चतुर्गति के जीवों के बारे में भी जानकारी प्राप्त की थी। वहीं हमने जीव को कर्म-बंधनों से होने वाले कष्टों के बारे में जाना तथा यह भी जाना कि सभी जीवों के अभ्युदय की चरमोपलब्धि कर्म-बंधनों से स्वतंत्र, दुःखमय संसार से मुक्त, सर्वशुद्ध आत्म-द्रव्य के रूप में होती है जो तत्पश्चात् अशरीरी अवस्था में अनंत-चतुष्टय (अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख व अनंत आत्मसामर्थ्य) से संयुक्त होकर सिद्ध-आत्माओं की निवासस्थली - ईषत्प्राग्भारपृथ्वी

(सिद्धशिला) स्थित सिद्धलोक में निवास करती हैं। यही सभी जीवों की स्वाभाविक अवस्था है तथा उनका अंतिम लक्ष्य व गंतव्य भी।

अनात्मा : अजीव-द्रव्य -

अजीव-द्रव्य में आकाश, धर्म-अधर्म व काल भी अमूर्त, अव्यक्त, अरूपी, व अदृश्य द्रव्य हैं। सर्वत्र व्याप्त आकाश-द्रव्य की व्यापकता सर्वाधिक है, केवल वही ऐसा द्रव्य है जो लोक की सीमाओं से बाहर भी व्याप्त है जहाँ इसे अलोकाकाश कहा जाता है। यह द्रव्य अन्य सभी द्रव्यों व पदार्थों को अपने में रहने व गति करने के लिये अवकाश प्रदान करता है। ईथर व एंटी-ईथर या चल व अचल जड़त्व-बल समस्त लोकव्यापी हैं तथा सभी पदार्थों की गति व स्थिति के उदासीन माध्यम होते हैं। यहाँ तक कि अलोकाकाश में, जहाँ ये नहीं पाए जाते हैं, किसी भी पदार्थ की न तो गति संभव है न ही स्थिति (मौजूदगी), अतः वे भी लोकाकाश तक ही सीमित हो जाते हैं। काल जो सनातन है, सदा-सर्वदा प्रवहमान है, कभी किसी के लिये नहीं रुकता है वह लोक के समस्त पदार्थों में परिवर्तन का कारक होता है। पुद्गल-द्रव्य मूर्त, व्यक्त, रूपी व दृश्यमान द्रव्य है जो लोक की समस्त भौतिकता का संवाहक है। तत्त्वार्थों के अध्याय में हम इनकी भी चर्चा कर चुके हैं। इस अध्याय में हम पुद्गल-द्रव्य के विषय में अधिक विस्तार से जानने का प्रयास करेंगे।

रूपी द्रव्य -

इस ब्रह्माण्ड में जो कुछ दिखाई देता है तथा ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से जाना व अनुभूत किया जा सकता है वह सब इसका मूर्त, रूपी, व्यक्त भौतिक भाग है जो कि पुद्गल-द्रव्य के ही विभिन्न प्रकार के रूपांतरणों में भासित होता है। इसे देखा जा सकता है क्योंकि इसका निश्चित आकार-प्रकार होता है तथा वह सूक्ष्म परमाणु से लगाकर महान स्कंधों के रूप में पाया जाता है। इसे अनुभूत किया जा सकता है क्योंकि इसमें वर्ण, रूप, रस, गंध, स्पर्श व आकार के गुण होते हैं -

वर्ण - दृश्य-द्रव्य पाँच मूल रंगों में आता है जिनके मिश्रण से असंख्य रंगों की छटाएँ बनती हैं। वे पाँच मूल रंग हैं - काला, नीला, पीला, लाल व श्वेत।

गंध - गंध दो प्रकार की होती है - सुगंध व दुर्गन्ध।

रस - रस या स्वाद भी पाँच हैं - कटु, तिक्त, कसैला, खट्टा व मीठा।

स्पर्श - आठ प्रकार के स्पर्श हैं - नरम-कठोर, हल्का-भारी, शीत-उष्ण, तथा चिकना-खुरदुरा।

आकृति - मूलाकृतियों पाँच है जिनके सम्मिश्रण से किसी भी आकृति का निर्माण हो सकता है। वे मूलाकृतियाँ हैं - वलय, वृत्त, त्रिकोण, चतुर्भुज व आयत्त।

दृश्य लोक के पदार्थों के सभी संभव व्यक्त गुण पदार्थों के इन्हीं पाँच आधारभूत गुणों के कारण होते हैं तथा संसार में हम जो भी विविधता देखते हैं वह भी इन्हीं गुणों के विभिन्न प्रकार के संयोजनों, संगठनों व उनके क्रमों में होने वाले परिवर्तनों (permutations and combinations) के कारण ही होती है।

आत्मा व शरीर : जीव-अजीव संयोग -

व्यक्त अजीव द्रव्य सजीव आत्म-द्रव्य के साथ दो प्रकार से संयुक्त होता है - १. दृश्य भौतिक शरीर (औदारिक शरीर) के रूप में तथा २. अदृश्य कर्म-द्रव्य के रूप में जो कि कर्म-बंध के रूप में आत्मा के साथ संयुक्त होता है तथा जन्म-जन्मान्तर तक कर्मण-शरीर के रूप में उसके साथ लगा रहता है। हम हमारे आस-पास जो भी देव, मनुष्य, नारक, तिर्यंच रूप चतुर्गति के जीव-जंतु देखते हैं वे सब इसी प्रकार की शरीरी आत्माएँ हैं जो संसार में आत्मा के औदारिक आदि शरीर-कलेवर में दिखाई पड़ती हैं।

इन सब चलते हुवे, रेंगते हुवे थलचर, तैरते हुवे जलचर व उड़ते हुवे खेचर प्राणियों के अतिरिक्त और भी पृथ्वीकाय, अप्काय व वनस्पतिकाय के स्थावर एकेन्द्रिय जीव हैं तथा वायुकाय व तेजस्काय के त्रस एकेन्द्रिय

जीव हैं। इनके अलावा भी इन्हीं के संयोग से निर्मित अन्य चल व अचल जीवाजीव होते हैं।

पृथ्वीकाय - पृथ्वीकाय के जीव सूक्ष्म और स्थूल दो प्रकार के तथा प्रत्येक के पर्याप्तक व अपर्याप्तक दो-दो प्रकार होते हैं। सूक्ष्म पृथ्वीकाय के जीव संसार में सर्वत्र व्याप्त होते हैं किंतु स्थूल पृथ्वीकाय के जीव संसार के कुछ ही भागों में पाए जाते हैं तथा वे भी मृदु व कठोर दो प्रकार के होते हैं। मृदु पृथ्वीकाय काली, नीली, लाल, पीली, सफेद व विवर्ण वर्णों की मृदा व महीन रज के रूप में पाए जाते हैं तथा कठोर पृथ्वीकाय के जीव कठोर-भूमि, कंकर-पत्थर, बालुका-रेत, शिला, शैल-लवण, लोह, ताम्र, रांगा, सीसा, स्वर्ण, हीरा, सिंदूर, प्रवाल, मनःशिल, सुरमा, अभ्रक, राहु-रत्न, स्फटिक, लाल, मरकत, नीलम, चंदन, गेरू, गंधक, अश्मक, आदि के रूप में पाए जाते हैं।

अष्काय - अष्काय (जलकाय) के जीव भी सूक्ष्म और स्थूल दो प्रकार के तथा प्रत्येक के पर्याप्तक व अपर्याप्तक दो-दो प्रकार होते हैं। सूक्ष्म अष्काय के जीव संसार में सर्वत्र व्याप्त होते हैं किंतु स्थूल अष्काय के जीव संसार के कुछ ही भागों में पाए जाते हैं। पर्याप्तक स्थूल अष्काय के जीव शुद्धोदक, ओस, नमी, धुंध व हिम के रूप में पाए जाते हैं।

वनस्पतिकाय - वनस्पतिकाय के जीव भी सूक्ष्म और स्थूल दो प्रकार के तथा प्रत्येक के पर्याप्तक व अपर्याप्तक दो-दो प्रकार होते हैं। सूक्ष्म वनस्पतिकाय के जीव संसार में सर्वत्र व्याप्त होते हैं किंतु स्थूल वनस्पतिकाय के जीव संसार के कुछ ही भागों में पाए जाते हैं। पर्याप्तक स्थूल वनस्पतिकाय के जीव प्रत्येक व साधारण शरीरी होते हैं। प्रत्येक शरीरी वनस्पतिकाय के जीवों के प्रत्येक के भिन्न-भिन्न लगने वाले शरीर होते हैं किंतु साधारण वनस्पतिकाय के जीवों के असंख्य शरीर एक ही पिंड के रूप में पाए जाते हैं जो एक ही शरीर का आभास देते हैं। प्रत्येक शरीरी वनस्पतिकाय के जीवों के अनेक प्रकार हैं जैसे वृक्ष, गुल्म, लता, वल्ली, आदि तथा साधारण शरीरी भी अनेक प्रकार के कंद-मूल के रूप में पाए जाते हैं।

तेजस्काय - तेजस्काय (अग्निकाय) के जीव भी सूक्ष्म और स्थूल दो प्रकार के तथा प्रत्येक के पर्याप्तक व अपर्याप्तक दो-दो प्रकार होते हैं। सूक्ष्म तेजस्काय के जीव संसार में सर्वत्र व्याप्त होते हैं किंतु स्थूल तेजस्काय के जीव संसार के कुछ ही भागों में पाए जाते हैं। पर्याप्तक स्थूल तेजस्काय के जीव अंगार, मुर्मुर्, चिनगारी आदि के रूप में पाए जाते हैं।

वायुकाय - वायुकाय के जीव भी सूक्ष्म और स्थूल दो प्रकार के तथा प्रत्येक के पर्याप्तक व अपर्याप्तक दो-दो प्रकार होते हैं। सूक्ष्म वायुकाय के जीव संसार में सर्वत्र व्याप्त होते हैं किंतु स्थूल वायुकाय के जीव संसार के कुछ ही भागों में पाए जाते हैं। पर्याप्तक स्थूल वायुकाय के जीव शुद्ध-वायु, घनवात, चक्रवात, अंधड़ आदि के रूप में पाए जाते हैं।

संयुक्त-शरीर - एकेन्द्रिय जीवों के शरीर केवल पृथ्वी, जल, वायु आदि से ही निर्मित होते हैं। हमारे आस-पास दिखाई देने वाले मनुष्य, पशु, आदि जीवों के शरीर तथा भवन, उपकरण, वाहन आदि अजीव वस्तुओं के निर्माण में पंचतत्त्वों - पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, पुद्गल व आकाश का योगदान होता है। ये सब संयुक्त शरीर के उदाहरण हैं।

उपसंहार -

द्रव्यलोक बहुत ही जटिल सत्ता है जिसमें जीव व अजीव दोनों ही द्रव्य व उनसे निर्मित जीवित प्राणी तथा अजीव वस्तुएँ विद्यमान हैं। हम व्यक्त पुद्गल द्रव्य को तथा जीवों के इसी पुद्गल द्रव्य द्वारा निर्मित विभिन्न प्रकार के एकल या संयुक्त शरीरों को देखा, चखा, सूँघा, छुआ जा सकता है, जब कि आकाशादि अव्यक्त द्रव्यों को केवल तर्क द्वारा सिद्ध किया जा सकता है।

अध्याय - १० : क्षेत्रलोक

लोक का विस्तार -

इस अध्याय में पाठकों को जैन साहित्य में प्राप्त लोक के विस्तार के प्रमाण तथा उसके विभिन्न भागों यथा अधोलोक की सात नारक भूमियों, मध्यलोक या मनुष्यलोक के जंबूद्वीपादि, उर्ध्वलोक की स्वर्गभूमियों तथा ईषत्प्राग्भारपृथ्वी पर सिद्धलोक आदि की स्थितियों का कुछ अनुमान कराने का प्रयास किया जा रहा है।

क्षेत्र-विस्तार के परिमाण (अंगुल, योजन व रज्जू) -

लोक अत्यधिक विशाल है तथा उसी अनुपात में उसके विस्तार को नापने वाली इकाइयों भी उतनी ही विशाल हैं। सर्वप्रथम इन इकाइयों का परिचय कराना ही उचित होगा।

अंगुल -

जैन दूरी-माप प्रणाली में दूरी को नापने की व्यवहारिक इकाई अंगुल है। अंगुल के कई प्रकार प्रयोग में थे जो कि मानक नहीं थे जिनका बाद में मानकीकरण किया गया होगा। प्रथम मानक इकाई के रूप में आठ जौ के दानों को एकसाथ रखने पर उनकी चौड़ाई के बराबर उत्सेधांगुल माना जाता था। उत्सेधांगुल इकाई का प्रयोग शरीर व प्रतिमाओं की ऊँचाई नापने के लिये किया जाता था। यह उत्सेधयोजन का ७६८००० वॉ भाग होती थी। डॉ. एन. एल. जैन के अनुसार एक उत्सेधांगुल का मान लगभग १.७ सेण्टीमीटर है। दूसरा अंगुल-माप एक औसत स्वस्थ मनुष्य की अंगुली के पोर के परिमाण से लिया गया जिसे आत्मांगुल के नाम से जाना जाता था तथा उसका परिमाण उसकी ऊँचाई के ८४ वें भाग के समान माना जाता था। यह उत्सेधांगुल से दुगुना होता

था। स्पष्ट है कि इस माप का भी कोई मानक नहीं था। अंगुल-माप की शृंखला में तीसरा माप प्रमाणांगुल था जो ५०० आत्मांगुलों या १००० उत्सेधांगुलों के बराबर था। इन तीन अंगुल-मापों का उपयोग क्रमशः व्यक्तियों व देव प्रतिमाओं की ऊँचाई नापने, भूमि व दूरियों नापने तथा समुद्री व खगोलीय दूरियों नापने के लिये किया जाता था।

योजन : भौगोलिक दूरियों का माप -

योजन को भी कई प्रकार से परिभाषित किया गया है। उत्सेध-योजन को, जो उत्सेधांगुल का ७६८००० गुना होता था, वर्तमान काल के आठ मील के बराबर माना जाता है। जंबूद्वीप विज्ञान संशोधन केन्द्र, पालिताना द्वारा प्रकाशित 'हमारा सच्चा भूगोल' में व्यक्त मतानुसार एक उत्सेध-योजन चार गज या नौ मील या १५ किलोमीटर के बराबर होता है।

उत्सेध-योजन का प्रयोग जमीनी दूरियों नापने के लिये ही किया जाता था। खगोलीय दूरियों के लिये प्रमाण-योजन प्रयुक्त होता था जो उत्सेध-योजन से ४०० गुना या ३६०० मील या ६००० कि. मी. के बराबर होता था।

रज्जू : ब्रह्माण्डीय माप -

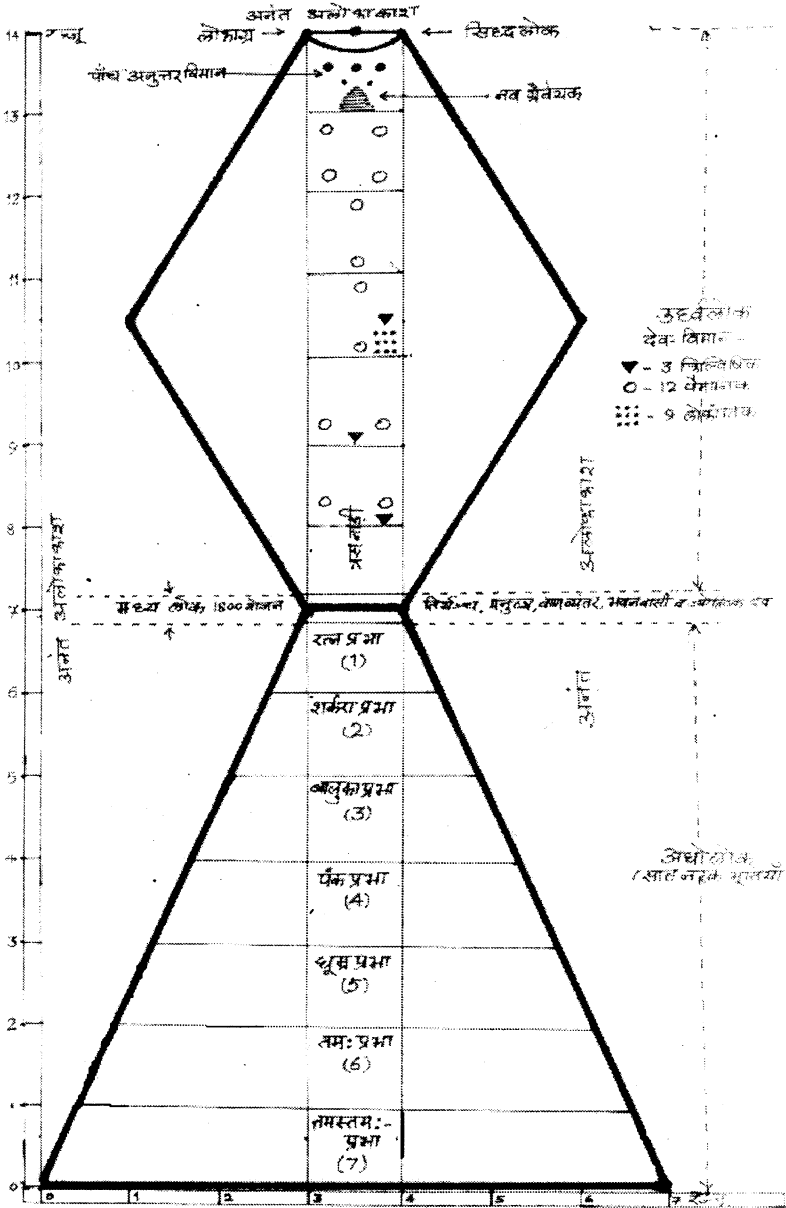
जब दूरियों अत्यंत विशाल हों तथा जिन्हें किसी भौतिक संसाधन द्वारा नापना भी संभव न हो तो उन्हें अभिव्यक्त करने के लिये उतनी ही विशाल इकाई की भी आवश्यकता प्रतीत होती है। रज्जू एक ऐसी ही विशाल ब्रह्माण्डीय इकाई है जो केवल लोक का क्षेत्र परिमाण व्यक्त करने के लिये प्रयुक्त की जाती है। जैन आगम व आगमेत्तर साहित्य में लोक का विस्तार इसी इकाई में व्यक्त किया गया है। इस इकाई की विशालता का अनुमान इस सूत्र से लगाया जा सकता है जो कल्पनातीत है - यदि कोई देव एक लाख प्रमाण-योजन प्रति समय की गति से लगातार छः माह तक चलता रहे तो जो दूरी वह तय करता है वह एक रज्जू है। यह दूरी मध्यलोक के बाह्यतम स्वयंभूरमण समुद्र के एक सिरे से दूसरे सिरे तक की

व्यासीय दूरी के समान है तथा कोई भी ज्ञात माप्य दूरी इसके समीप नहीं आती है। यद्यपि वर्तमान में खगोलीय दूरियों का माप प्रकाश-वर्ष भी अतिविशाल है किंतु रज्जू तो निश्चित रूप से विस्मयकारी है।

लोक का स्वरूप -

जैन मान्यतानुसार लोकाकाश का आकार एक ऐसे व्यक्ति के समान है जो पोंव फेलाकर तथा अपने हाथ कमर पर रखकर खड़ा हो। अगले पृष्ठ पर दिये गए रेखाचित्र में दिखाए अनुसार इसकी आकृति ऐसी है जैसे कि अपने आधारों से जुड़े दो रुण्डित शंकु किसी तीसरे शंकु के रुण्डित शीर्ष पर रखे गए हों। इस आकृति के शीर्ष से आधार की दूरी चौदह रज्जू है, आधार पर शंकु का व्यास सात रज्जू, सर्वोच्च रुण्डित शीर्ष तथा मध्य में जुड़े शंकुशीर्षों का व्यास एक रज्जू तथा शीर्ष व मध्य के बीच में सबसे चौड़े भाग का व्यास पाँच रज्जू है। यही वह लोकाकाश है जिसके सर्वोच्च शीर्ष पर सिद्धलोक, ऊपरी आधे भाग में देव-विमान, निचले आधे भाग में सभी नरक भूमियों व व्यंतर देव-विमान तथा मध्य भाग में मनुष्यलोक व कुछ देव-विमान स्थित हैं।

यह तर्कसंगत ही है कि अधोलोक के नाम से विख्यात लोकाकाश के निम्नार्द्ध में सात नरकभूमियाँ हैं जिनपर नारक जीव रहते हैं। यहीं वाणव्यंतर देवों का भी निवास होता है। लोक के मध्य भाग, जिसे मध्यलोक या मनुष्यलोक कहते हैं, मनुष्य तथा तिर्यच जीव रहते हैं तथा भवनपति व ज्योतिष्क देव भी। ऊपर के लोकार्द्ध में बारह वैमानिक, नौ त्रैवेयक तथा पाँच अनुत्तरविमान देवलोक है जिसमें देवता अपने-अपने देव-विमानों में स्वर्गीय ठाटबाट से रहते हैं। लोक के सर्वोच्च शिखर पर ईषत्प्राग्भार-पृथ्वी है जिसे सिद्धशिला भी कहते हैं तथा जिस पर सिद्ध-आत्माएँ अपने अनंत-चतुष्टय के साथ ज्ञान-दर्शन रूप परिणमन करती हुई विराजमान रहती हैं। लोक के इस आकार के परे केवल आकाश-द्रव्य है जिसे अलोकाकाश कहते हैं।



चौदह रज्जू प्रमाण लोक-विस्तार

लोकाकृति के बीचोबीच शीर्ष से आधार तक एक रज्जू व्यास वाला वेलनाकार क्षेत्र त्रसनाड़ी कहलाता है तथा केवल वही ऐसा क्षेत्र है जिसमें समस्त लोक के त्रस जीव पाए जाते हैं, शेष भाग में केवल स्थावर एकेन्द्रिय जीव अथवा अजीव पदार्थ ही पाए जाते हैं।

सिद्धलोक -

लोक के सर्वोच्च शिखर पर, जिसके ऊपर केवल अलोकाकाश है, सिद्धत्त्व प्राप्त सिद्ध-बुद्ध और मुक्त आत्माओं का निवास है जो सिद्धलोक कहलाता है। सिद्धलोक सिद्धशिला पर स्थित है जिसे ईषत्प्राग्भार पृथ्वी भी कहा जाता है। यह सिद्धशिला सर्वोच्च अनुत्तर देव-विमान - सर्वार्थसिद्ध से १२ योजन ऊपर स्थित है, इसका वर्ण चमकीला श्वेत है, इसका व्यास ४५ लाख योजन जिसके केन्द्र में इसकी मोटाई आठ योजन होती है जो कम होते होते किनारों पर मक्खी के पंख जितनी पतली हो जाती है। इस पृथ्वी के एक योजन ऊपर तक लोकाकाश होता है जिसके ऊपर-ऊपर वातावरण का घनत्व विरल होता जाता है। सभी सिद्धात्माएँ ईषत्प्राग्भार पृथ्वी के ऊपर के सर्वोच्च सोलहवें भाग में तनु वात-वलय में निवास करती हैं।

उर्ध्वलोक -

उर्ध्वलोक लोक का वह भाग है जो मध्यलोक से ऊपर तथा ईषत्प्राग्भारपृथ्वी से नीचे स्थित है। ऊपर से नीचे तक इस भाग का विस्तार सात रज्जू से कुछ कम होता है तथा इसमें बारह वैमानिक, नौ ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर विमानों के स्वर्गों के देव-विमान स्थित होते हैं जिनमें इन-इन स्वर्गों के देवता निवास करते हैं। (यहाँ यह ज्ञातव्य है कि भवनपति, वाण- व्यंतर तथा ज्योतिष्क देवता अधोलोक व मध्यलोक में ही निवास करते हैं) उर्ध्वलोक के देव-विमान निम्नानुसार हैं: -

१. बारह कल्-वैमानिक स्वर्ग - मध्यलोक के ऊपर बारह वैमानिक देव-विमान हैं। वे हैं - १. सौधर्म, २. ईशान, ३. सनत्कुमार, ४. माहेन्द्र, ५. ब्रह्म, ६. लान्तक, ७. महाशुक्र, ८. सहस्रार, ९.

आनत्, १०. प्राणत्, ११. आरण एवं १२. अच्युत्।

२. नौ त्रैवेयक स्वर्ग - नौ त्रैवेयक देव विमान इस प्रकार हैं - १. सुदर्शन, २. अमोघ, ३. सुप्रबुद्ध, ४. यशोधर, ५. वत्स, ६. सुवत्स, ७. सुमनस, ८. सोमनस तथा ९. प्रियदर्शन।
३. पाँच अनुत्तरविमान स्वर्ग - पाँच अनुत्तरविमान सर्वोच्च देव-विमान हैं इनके ऊपर केवल सिद्धशिला ही है। वे पाँच देव-विमान हैं - १. विजय, २. वैजयन्त, ३. जयन्त, ४. अपराजित तथा ५. सर्वार्थसिद्ध। इनमें अत्यंत पुण्यशाली जीव सर्वाधिक ऋद्धिमान देवों के रूप में जन्म लेते हैं तथा यहाँ आयुष्य पूर्ण करके मनुष्य भव में जन्मते हैं जो उनका अंतिम भव होता है। अर्थात् वे उसी जन्म में जन्म-जन्मांतर का क्षय करके मुक्त हो जाते हैं।

मध्यलोक -

जैन लोक-विज्ञान के अनुसार लोक का मध्य भाग, जिसे तिर्यकलोक या मनुष्यलोक भी कहते हैं, वह एक रज्जू चौड़ा तथा १८०० योजन मोटाई वाला है जिसकी ६०० योजन मोटाई उर्ध्वदिशमें तथा शेष ६०० योजन अधोदिशा की ओर होती है। इसमें असंख्य द्वीप-समुद्र हैं जो समकेन्द्रिक वलयों के आकार में होते हैं। सबसे मध्य में वृत्तकार जंबूद्वीप है जो एक लाख योजन चौड़ा है तथा जो लवणसमुद्र से घिरा हुआ है जिसका बाहरी व्यास दो लाख योजन है। इस द्वीप का बाह्यतम वलय स्वयंभूरमणसमुद्र का है जो एक रज्जू व्यास का है। मध्यलोक ही भवनपति व ज्यातिष्क देवों तथा मनुष्यों एवं पशुजगत की निवासस्थली है। इसी मध्यलोक के प्रथम द्वीप जंबूद्वीप का ही एक उप महाद्वीप भरतक्षेत्र है जिसमें हम सब निवास करते हैं।

भरतक्षेत्र -

जंबूद्वीप का भरतक्षेत्र नामक हमारा उपमहाद्वीप ५२६ योजन से कुछ अधिक चौड़ा है जिसे पूर्व से पश्चिम की ओर फैली हुई वैताढ्य पर्वत शृंखला दो भागों में बाँटती है। उपमहाद्वीप का उत्तरी भाग दो महानदियों - गंगा तथा सिंधु द्वारा सिंचित है। ये महानदियों क्रमशः पूर्व और पश्चिम की

ओर बहती हैं तथा अंततः लवणसमुद्र में मिल जाती हैं। ये दो नदियाँ तथा वैताद्वय पर्वत भरतक्षेत्र को छः भागों में बाँटते हैं जिन्हें विजित करके ही कोई राजा चक्रवर्ती का पद अर्जित कर सकता था। हमारी निवासस्थली इस भरत क्षेत्र के दक्षिण-मध्य भाग में मानी गई है जिसे आर्यक्षेत्र कहते हैं। यही वह भाग है जिसमें अनंत कालचक्र में समय-समय पर तीर्थंकर जन्म लेते हैं तथा जिन-धर्म का प्रतिपादन करते हैं। वर्तमान भौगोलिक स्थितियाँ परिवर्तित हैं फिरभी कुछ भाग तो आज भी पहचाने जा सकते हैं।

महाविदेहक्षेत्र -

जंबूद्वीप का ही एक और उप महाद्वीप है जो महाविदेह क्षेत्र के नाम से विख्यात है। इस क्षेत्र की विशेषता यह है कि इसमें सदाकाल जिन भगवंत विचरण करते हैं। वर्तमान समय में भी वहाँ श्रीमंधरादि बीस विहरमान तीर्थंकर भगवंत विचरण कर रहे हैं तथा जिन-धर्म का उपदेश दे रहे हैं।

अधोलोक -

जैसा कि हम पूर्व में उल्लेख कर चुके हैं, अधोलोक में सात नरकभूमियाँ एक-दूसरे के ऊपर अधर में स्थित हैं तथा यही वाणव्यंतर देवों के विमान भी हैं। अधोलोक का उर्ध्व-विस्तार सात रज्जू से ६०० योजन कम है तथा प्रथम नरकभूमि का व्यास एक रज्जू तथा सातवीं का सात रज्जू होता है। सात नरकभूमियाँ निम्नानुसार हैं: -

१. रत्नप्रभा पृथ्वी,
२. शर्कराप्रभा पृथ्वी,
३. बालुकाप्रभा पृथ्वी,
४. पंकप्रभा पृथ्वी,
५. धूम्रप्रभा पृथ्वी,
६. तमःप्रभा पृथ्वी, तथा
७. महातमःप्रभा पृथ्वी,

ये सभी नरकभूमियाँ उत्तरोत्तर चौड़ी होती हैं। सातवीं नरकभूमि

सात रज्जू चौड़ी होती है।

उपसंहार -

यह लोक का क्षेत्र की दृष्टि से बहुत ही संक्षिप्त विवरण है। सभी सांसारिक प्राणी सिद्धलोक को छोड़कर उसके विभिन्न भागों में सतत पुनर्जन्म करते हैं। सिद्धलोक ही वह भाग है जहाँ से वापस आना नहीं होता है।

इस वृत्तांत में दिया गया भरतक्षेत्र व महाविदेहक्षेत्र का संक्षिप्त विवरण ही इस बात को दर्शाने के लिये पर्याप्त हैं कि ये हमारे क्षेत्र की वर्तमान भौगोलिक स्थिति से मेल नहीं खाते हैं। इस अंतर का भेद अतीत के गर्भ में छुपा हुआ है जिसे खोजने के लिये अत्यंत श्रमसाध्य शोध की आवश्यकता है। आशा करनी चाहिये कि इस अंतर को अंततः पाट दिया जायगा।

* * *

अध्याय - ११ : काल-लोक

काल -

जैन-दर्शन की काल संबंधी धारणा दो स्पष्ट धाराओं - प्रवाह व परिवर्तन - में प्रतिभासित होती है। पहली धारणा के अनुसार काल का धर्म निरंतर प्रवहमान रहना है। काल का प्रवाह एक अनादि-अनंत तथा सतत प्रक्रिया है जो कभी किसी व्यक्ति या वस्तु के लिये नहीं रुकती है। काल अनादि काल से प्रवहमान रहा है, वर्तमान में प्रवाहित हो रहा है तथा भविष्य में भी सदाकाल प्रवाहित होता रहेगा। काल के इसी गुण ने इसके लिये यह कहावत अर्जित की है कि 'time and tide wait for none'। दूसरी धारणा के अनुसार काल सभी अन्य द्रव्यों में परिवर्तन का कारण है। काल के प्रवाह के साथ-साथ सभी जीवाजीव पदार्थ परिवर्तित होते रहे हैं, हो रहे हैं तथा होते रहेंगे क्योंकि इस परिवर्तशील संसार में कुछ भी स्थिर व अपरिवर्तनीय नहीं है।

काल ही वह चतुर्थ आयाम है जो ब्रह्माण्ड में सबको नियंत्रित करता है क्योंकि वह अपने प्रवाह से किसी को भी अप्रभावित नहीं रहने देता है। भूतकाल में कभी ऐसा नहीं हुवा, वर्तमान काल में ऐसा नहीं हो रहा है तथा भविष्य में भी कभी ऐसा नहीं होगा कि काल बीत जाय और पदार्थों में कोई परिवर्तन न हो।

इस अध्याय में हम काल के प्रवाह-गुण की चर्चा करेंगे। (परिवर्तन अगले अध्याय का विषय है) प्रवाह की अपेक्षा से काल को तीन सुस्पष्ट भगों में विभाजित किया गया है - १. माप्य काल (संख्यकाल), २. अमाप्य काल (असंख्यकाल) तथा ३. अनंतकाल। जैन काल गणना में संख्यकाल को सूक्ष्मतम इकाई 'समय' से अधिकतम माप्य इकाई 'शीर्षप्रहेलिका' तक में

मापा जाता है। असंख्यकाल को केवल अनुमानों में व्यक्त किया जा सकता है तथा जैन वांग्मय में यह अनुमान 'पल्योपम', 'सागरोपम', 'कालचक्र' से होते हुवे वह काल के अंतिम अनुमान 'पुद्गल-परावर्तन' तक जाता है। अनंतकाल तो अनंत है ही। इस अध्याय का उद्देश्य पाठकों को जैन काल-गणना व कालानुमान से अवगत कराना है।

काल : लोक-द्रव्य के रूप में -

जैन साहित्य में वर्तमान में उपलब्ध द्रव्यों के वर्गीकरण में 'काल' को षड्द्रव्यों में एक अव्यक्त-अरूपी-अकाय द्रव्य के रूप में स्थान प्राप्त है। काल को एक स्वतंत्र द्रव्य मानने या न मानने के विषय में कुछ विवाद रहा है। पंचास्तिकायों में काल को सम्मिलित नहीं किया जाना तथा इसे द्रव्य मानते हुवे भी स्कंध बनाने योग्य न मानना इस बात की ओर संकेत करता है कि काल को षड्द्रव्यों में सम्मिलित करना पश्चाद्विचार की बात है।

काल को स्वतंत्र द्रव्य नहीं मानने वालों का तर्क है कि यह केवल जीव व पुद्गल की पर्याय है, इसमें द्रव्य का स्कंधनिर्माण गुण नहीं होने से इसे द्रव्य मानना उचित नहीं। दूसरी ओर इसे स्वतंत्र द्रव्य मानने वाले कहते हैं कि जिस प्रकार जीव व पुद्गल की गति व स्थिति के लिये उदासीन सहायक द्रव्यों के रूप में धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय स्वतंत्र द्रव्य हैं, वैसे ही जीव व पुद्गल में निरंतर होने वाले परिवर्तन के लिये भी एक उदासीन सहायक स्वतंत्र द्रव्य होना चाहिये और वह द्रव्य केवल 'काल' ही हो सकता है।

काल-प्रवाह -

जैनागमों में व्यवहार काल (सांत) व निश्चय काल (अनंत) के उल्लेख प्राप्त होते हैं। व्यवहार काल संख्य (जिसकी समय से पूर्वकोटिवर्ष या शीर्षप्रहेलिका तक गणना की जा सकती है) तथा असंख्य (जिसे नापा तो नहीं जा सकता किंतु जिसका उल्लेख पल्योपम, सागरोपम, कालचक्र व

पुद्गल-परावर्तन आदि अनुमानों के रूप में व्यक्त किया जाता है तथा वह अमाप रूप से दीर्घकालीन होते हुवे भी समाप्त होता है) निश्चय काल तो अनंत ही होता है।

काल का महत्त्व -

व्यवहार काल की मौलिक इकाई 'समय' है जो इतनी छोटी है कि एक सेकंड में लगभग 90^{400} समय होते हैं। यद्यपि इतने सूक्ष्म काल-खण्ड को वर्तमान में उपलब्ध कालमापी यंत्रों से नापना संभव नहीं है, हम यह कह सकते हैं कि हमारे तीर्थंकरों ने सूक्ष्म समय को भी नगण्य नहीं, समझा तथा अपने अनुयाइयों को समयमात्र का भी प्रमाद न करके सतत अप्रमत्त रूप से अपने कर्तव्यपालन का उपदेश दिया। इससे यह स्पष्ट है कि वे दुर्माप्य सूक्ष्मातिसूक्ष्म कालखण्ड - समय को भी कितना महत्त्वपूर्ण समझते थे।

काल की महत्ता को रेखांकित करने वाले कुछ बिंदु निम्नोक्त हैं: -

१. काल परिवर्तन का माध्यम है। यह परिवर्तन के सार्वभौम नियम की पुष्टि करता है।
२. काल ही भूत, वर्तमान व भविष्य तीनों कालों में विद्यमान रहता है। अन्य सब परिवर्तनशील हैं।
३. काल ही सब माध्यमों की अपेक्षा सर्वाधिक कर्तव्यनिष्ठ है। लोक में होने वाली अनियमितताओं के बीच भी नियमित रूप से प्रवहमान रहता है।
४. समय की कभी भी पुनरावृत्ति नहीं होती है। जो समय बीत जाता है वह कभी भी लौटकर नहीं आता।
५. हर व्यक्ति या वस्तु का वय व विकास कालाश्रित होता है।
६. हर जीव और अजीव पदार्थ कालक्रम से परिवर्तित व नष्ट हो जाता है।
७. सर्वशक्तिमान प्रकृति भी कालानुसार गतिमान होती है।

८. सर्वशक्तिमान कर्म भी कालानुसार ही उदय में आकर फल देते हैं।

९. तीर्थंकर और सिद्ध भी काल से परे नहीं होते हैं। वे भी अपनी आयु को एक समय भी बढ़ा या घटा नहीं सकते हैं।

ये कारण हमें समय की महत्ता समझाने तथा उसके साथ खिलवाड़ नहीं करने देने के लिये पर्याप्त हैं।

काल-गणना -

जैन परंपरा में काल-गणना की दो पद्धतियाँ विद्यमान हैं। १.

जिसमें काल को असंख्य अतिसूक्ष्म इकाइयों में नापा जाता है तथा २. जिसमें इसे संख्य सूक्ष्म इकाइयों में नापा जाता है। हमने एक पद्धति का वर्णन तीसरे अध्याय में काल-द्रव्य के अंतर्गत किया था, अब जैन तत्त्वदर्शनानुसार कालमान पद्धति का वर्णन करते हैं -

संख्यात काल -

आवलिका	-	सूक्ष्मतम माप्य कालखण्ड (असंख्य समय तुल्य)
क्षुल्लक भव	-	२५६ आवलिका तुल्य,
श्वासोच्छ्वास (प्राण)	-	१७ क्षुल्लक भव से कुछ अधिक,
स्तोक	-	७ प्राण तुल्य,
लव	-	७ स्तोक तुल्य,
मुहुर्त	-	७७ लव तुल्य (४८ मिनट तुल्य),
अहोरात्र	-	३० मुहुर्त तुल्य,
पक्ष	-	१५ अहोरात्र तुल्य,
मास	-	२ पक्ष (कृष्ण व शुक्ल) तुल्य,
ऋतु	-	२ मास तुल्य,
अयन	-	३ ऋतु तुल्य,
वर्ष	-	२ अयन, ६ ऋतु (१२ मास),
युग	-	५ वर्ष तुल्य,
शताब्दि	-	२० युग तुल्य,

२१४ : जैन-धर्म : जीवन-धर्म

पूर्वांग	-	८४ लाख वर्ष तुल्य,
पूर्व	-	८४ लाख पूर्व (7056×10^{10} वर्ष),
शीर्षप्रहेलिका	-	महत्तम माप्य कालखण्ड जो $84^{36} \times 10^{180}$ वर्ष तुल्य है।

असंख्यात काल -

पल्योपम - १ योजन लंबे, १ योजन चौड़े व १ योजन गहरे गड्ढे को युगलियों के महीन बालों के टुकड़ों से टूंस-टूंस कर भरकर यदि प्रति १०० वर्षों में एक-एक टुकड़ा निकाला जाय तो उस गड्ढे को खाली होने में लगने वाला समय एक पल्योपम कहलाता है।

सागरोपम - दस कोटाकोटि (10^{15}) पल्योपम तुल्य,

कालचक्र - बीस कोटाकोटि सागरोपम का एक कालचक्र होता है जिसमें दस कोटाकोटि सागरोपम का उत्सर्पिणी-काल तथा उतने ही कालमान का अवसर्पिणी-काल होता है।

उत्सर्पिणी-काल - इस अर्द्ध कालचक्र के छः आरों में कालक्रम से सुखवृद्धि होती है, सुख का उत्कर्ष होता है। इसके छः आरे हैं - १. दुःखमा-दुःखमा, २. दुःखमा, ३. दुःखमा-सुखमा, ४. सुखमा-दुःखमा, ५. सुखमा तथा ६. सुखमा-सुखमा।

अवसर्पिणी-काल - इस अर्द्ध कालचक्र के छः आरों में कालक्रम से सुख की हानि होती है, दुःख का उत्कर्ष होता है। इसके छः आरे हैं - १. सुखमा-सुखमा, २. सुखमा, ३. सुखमा-दुःखमा, ४. दुःखमा-सुखमा, ५. दुःखमा तथा ६. दुःखमा-दुःखमा।

(वर्तमान में हम बीस कोटाकोटि सागरोपम कालमान के हुंडा नामक कालचक्र के दस कोटाकोटि सागरोपम कालमान के अवसर्पिणीकाल के २१००० वर्ष कालमान के पंचम दुःखमा आरे में हैं जिसके लगभग अढ़ाई हजार वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। जैन कालगणना के अनुसार लोक भूत काल में ऐसे अनंत कालचक्रों से चला आरहा है तथा भविष्य में भी ऐसे अनंत कालचक्रों तक चलता रहेगा।)

पुद्गल-परावर्तन-काल - जिस काल में कोई जीव लोक के संमस्त

पुद्गल-परमाणुओं से जनित सुख या दुःख का वेदन करता है वह एक पुद्गल-परावर्तन काल कहलाता है। यह काल इतना अनाकलनीय रूप से लंबा है कि इसके अनुमान के लिये कोई सूत्र भी नहीं दिया गया है।

अनंत-काल - इसके वर्गीकरण से ही स्पष्ट है कि यह काल अनंत है, इसका कोई अंत नहीं है।

काल अस्तिकाय नहीं -

काल का एक और पक्ष यह है कि इसके परमाणु आपस में संयुक्त होकर स्कंध (काय) नहीं बनाते हैं अपितु रत्नराशि के ढेर में रखी हुई मणियों के समान एकल रूप में ही रहते हैं। इसके इस काय नहीं बनाने के गुण के कारण ही इसकी गणना अस्तिकायों में नहीं की गई है।

उपसंहार -

काल लोक का एक अभिन्न अंग है। यह उन षड्द्रव्यों में से एक है जिनसे लोक का अस्तित्व है। इसके निरंतर प्रवाह-गुण तथा कालक्रम से हर पदार्थ को परिवर्तित कर देने के गुण के कारण काल लोक के सबसे सशक्त माध्यमों में गिना जाता है। सत्य ही कहा जाता है कि सब-कुछ समय पर निर्भर करता है; समय बलवान है, पुरुष बलवान नहीं।

काल के इस वर्णन से हम यह स्पष्ट रूप से अनुभव करते हैं कि काल के बारे में जैन अवधारणा ऐसे अत्यंत विशाल पैमाने पर है जैसा कि न तो किसी अन्य धर्म-दर्शन में पाया जाता है न ही यह वर्तमान में लोक के काल की अवधारणा से मेल खाता है। जाहिर है, इस विषय में शोध की, काफ़ी संभावनाएँ हैं।

अध्याय - १२ : भावलोक

भाव -

भाव द्विअर्थी है। भाव का एक अर्थ है पर्याय अर्थात् किसी भी जीव या अजीव पदार्थ की किसी भी समय की अवस्था। अजीव पदार्थ में केवल द्रव्य होता है जिसकी विभिन्न अवस्थाएँ होती हैं, जीव पदार्थ में द्रव्य के अतिरिक्त चैतन्यता भी होती है। वहाँ परिवर्तन चैतन्यता के होते हैं। जीव की चैतन्यता की तात्क्षणिक अवस्था को भी भाव कहा जाता है। यह भाव का दूसरा अर्थ है। इस अध्याय में भाव को भौतिक व मानसिक दोनों प्रकार की पर्याय के अर्थ में लिया गया है जो निरंतर परिवर्तनशील है। इस अर्थ को समझे बिना इस अध्याय को हृदयंगम करना कठिन होगा।

सत्ता का स्थायित्व व अस्थायित्व -

सत्ता विषयक जैन मान्यता त्रिआयामी है। इसमें सत्ता को उत्पाद (उत्पत्ति), व्यय (विनाश) व ध्रौव्य (स्थायित्व) के गुणों से युक्त माना गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सतत उत्पाद व व्यय के कारण सत्ता या लोक के सभी वास्तविक पदार्थ सतत परिवर्तनशील हैं तथा वही लोक-पदार्थ ध्रौव्य गुण के कारण सदाकाल विद्यमान भी रहता है। प्रथमदृष्ट्या इसमें कुछ विरोधाभास प्रतीत हो सकता है किंतु जब हम यह समझ लेते हैं कि लोकालोक के समस्त पदार्थ द्रव्य रूप तथा पर्याय रूप होते हैं तथा पदार्थ का जो रूप हमें सतत परिवर्तित होते हुवे दिखाई देता है वह उसका पर्याय रूप है तथा जो वस्तु का द्रव्य रूप है वह तो सदाकाल अपरिवर्तित, स्थाई या ध्रुव रहता है। इस अध्याय में हम लोक के निरंतर परिवर्तनशील रूप का दिग्दर्शन करेंगे तथा उपयुक्त उदाहरणों के द्वारा यह स्पष्ट करने की चेष्टा करेंगे कि पदार्थ के परिवर्तित होने वाले रूप अस्थाई ही नहीं अपितु

क्षणिक होते हैं तथा उनके प्रति आसक्ति उपादेय नहीं है, अतः हमें इन क्षणिकताओं से ऊपर उठकर पदार्थ के ध्रुव रूप पर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिये।

सतत परिवर्तनशील भाव -

परिवर्तन प्रकृति का नियम है। हर व्यक्ति और वस्तु के लिये परिवर्तन अपरिहार्य है, स्वाभाविक है। जैसे-जैसे काल व्यतीत होता है कुछ भी अपरिवर्तित नहीं रहता है। जीव जन्म लेते हैं, वे बढ़ते हैं, वृद्ध होते हैं, रुग्ण होते हैं, मरते हैं तथा फिर उसी या किसी अन्य गति में जन्म लेते हैं। यह उनका भौतिक-पर्याय (mode) परिवर्तन है। जीवों के, विशेषकर संज्ञी जीवों के, विचार, मनस्थितियाँ, चित्तवृत्तियाँ, उनके मिजाज, उनके भाव भी निरन्तर परिवर्तित होते रहते हैं। यह उनका भाव-पर्याय (mood) परिवर्तन है। वस्तुएँ निर्मित होती हैं, वे पुरानी होकर घिस जाती हैं, वे बदरंग हो जाती हैं, वे टूट जाती हैं तथा फिर किसी अन्य रूप में ढल जाती हैं या ढाल दी जाती हैं। कोई भी जीव या अजीव प्राणी या वस्तु अपरिवर्तित नहीं रहता है, हर जीवाजीव पदार्थ परिवर्तन के प्रवाह में बह रहा है। अजीव वस्तुओं के भौतिक-पर्याय परिवर्तित होते हैं तथा जीव-जगत में भाव-पर्याय परिवर्तित होते हैं।

अगर हम अपने आसपास की वस्तुओं पर दृष्टिपात करें तो हम परिवर्तन के इस प्रवाह से अभिन्न नहीं रह सकते हैं। हम पाते हैं कि प्रकृति में ऋतुएँ बदलती हैं, मौसम बदलता है, रात और दिन बदलते हैं, दृश्य और परिदृश्य बदलते हैं, पेड़ और पौधे बदलते हैं - एक बीज अंकुरित होता है, पौधा बनता है तथा बढ़ते-बढ़ते एक बहुत बड़ा पेड़ बन जाता है; पेड़ों के भी ऋतु अनुसार परिवर्तन होते रहते हैं - पत्ते गिरते हैं, नव-किसलय फूटते हैं, फूल और फल आते हैं और एक दिन वही पेड़ धराशायी होकर ईधन बनता है या सड़-गल कर मिट्टी में मिल जाता है, काल-कवलित हो जाता है।

बच्चा जन्म लेता है, बढ़ता है, किशोरावस्था पार कर वह यौवन में

स्वयं पिता-माता बनता है, वृद्ध होता है और मृत्यु को प्राप्त होता है। किंतु क्या यही जीवन का अंत है? नहीं, व्यक्ति (प्राणी) मरता है किंतु जीवन चलता रहता है। जीव (आत्मा) तो कभी नहीं मरता है, वह तो शरीर की मृत्यु के बाद पुनर्जन्म में अन्य शरीर धारण करके उसी जीवन-चक्र का पुनः-पुनः अनुभव करता है। लेकिन कब तक? जब तक कर्म-बंधन उसे इस संसार में रहने को विवश करता है तथा सर्वशक्तिमान कर्म उसे भवांतरण के लिये बाध्य करता है। जब जीव समस्त कर्म-द्रव्य को स्वयं से निःशेष अलग कर लेता है तो वह इस भवबाधा को पार करके बुद्ध हो जाता है, मुक्त हो जाता है, सिद्ध हो जाता है किंतु यह भी परिवर्तन का अंत नहीं है। सिद्धावस्था में भी जीव के ज्ञान-दर्शन रूप परिणमन होते ही हैं।

जीव-अजीव की परिवर्तनशील पर्यायें -

हमें स्थायित्व के मध्य विद्यमान समस्त पदार्थों की सतत-परिवर्तन की प्रक्रिया को समझना होगा। हम जानते हैं कि लोक में जीव व अजीव पदार्थ होते हैं, अतः हमें इन जीव व अजीव पदार्थों के परिवर्तन (उत्पाद-व्यय) व अपरिवर्तन (ध्रौव्य) को समझना होगा।

जीव सत्त्व के पर्याय-परिवर्तन -

हमें यह समझना होगा कि जीव-सत्त्व (आत्मा) किस प्रकार परिवर्तित होता है तथापि अपना स्थायित्व बनाए रखता है। जैन-दर्शन पुनर्जन्मवादी दर्शन है जो मृत्यु के बाद आत्मा के पुनः जन्म लेने में विश्वास करता है। जैन-मतानुसार जब तक जीव संसारी अवस्था में रहता है, वह भवांतर में पुनर्जन्म करता रहता है। स्वयं अरूपी होते हुवे भी संसारी अवस्था में आत्मा के शरीर रूपी कलेवर होते हैं जिनमें एक शरीर भौतिक शरीर होता है जिसे औदारिक शरीर कहते हैं। किसी भी भव-विशेष में मृत्यु का अर्थ है आत्मा का इस भौतिक शरीर रूपी कलेवर को त्याग देना तथा पुनर्जन्म का अर्थ है आत्मा का अन्य भौतिक शरीर प्राप्त कर लेना। यह भौतिक शरीर ही है जो बढ़ता है, बूढ़ा होता है, रुग्ण होता है

तथा नष्ट (मृत) होता है। हमें यह समझना होगा कि आत्मा इसी भौतिक शरीर-कलेवर के माध्यम से सुख-दुःख का अनुभव करते हुवे मनोभावों के परिवर्तन से गुजरती है फिर भी चैतन्य-द्रव्य रूप में अपरिवर्तित ही रहती है। वह जन्मांतर में एक भौतिक शरीर से दूसरे में गमन करती है फिर भी आत्मा तो वही रहती है। शरीर ही आत्मा के भौतिक-पर्याय हैं जो प्रतिसमय परिवर्तित होते रहते हैं, आत्म-द्रव्य स्थाई रहता है। शरीर जन्म लेते हैं, यही उत्पाद है; शरीर नष्ट होते हैं, यही व्यय है; किंतु हर अवस्था में जो चैतन्य आत्म-द्रव्य शरीरों में विद्यमान रहता है वह तो स्थाई रहता है, यही ध्रौव्य है। यह उदाहरण स्थूल है जो समझने में बहुत आसान है। किंतु पर्याय परिवर्तन तो आत्मा के एक शरीर में रहते हुवे भी प्रतिसमय होते रहते हैं। एक जन्म में भी जीव का शरीर जन्मसे लेकर मृत्यु तक एक जैसा नहीं रहता, वह प्रतिसमय परिवर्तित होता है। उसकी किसी भी क्षण की स्थिति ही उसकी तात्क्षणिक पर्याय है जो अगले ही क्षण परिवर्तित हो जाती है। अतः हर समय एक पर्याय नष्ट होती है तथा दूसरी पर्याय उत्पन्न होती है फिर भी शरीर तो वही रहता है जिन पुद्गलों से शरीर निर्मित है उनका स्वरूप बदलता है किंतु पुद्गल-द्रव्य वही रहता है। यह शरीर का पर्याय-परिवर्तन व द्रव्य-स्थायित्व (उत्पाद-व्यय व ध्रौव्य) है। आत्मा की शरीर-पर्याय का यह परिवर्तन (मृत्यु व पुनर्जन्म) तथा शरीर में घटित होने वाले परिवर्तन आसानी से समझ में आने वाले हैं क्योंकि वे स्थूल हैं इंद्रियगोचर हैं, दिखाई देते हैं किंतु मनोभावों व चित्तवृत्तियों में घटित होने वाले भाव-पर्याय परिवर्तन सूक्ष्म हैं, इंद्रिय-अगोचर होने के कारण कठिनाई से समझ में आते हैं। जैसा कि हम पूर्व में उल्लेख कर चुके हैं, शरीर तो आत्मा के लिये केवल वेदन (अनुभव) के माध्यम हैं जिनके द्वारा आत्मा अपने पूर्वकृत क्रियाओं के द्वारा बद्ध शुभाशुभ कर्मों के उदयानुसार सुख-दुःख का वेदन करती है। ये आनंददायक या दुःखदायक अनुभव चैतन्य जीव के भावजगत में तदनुसार भावनाएँ जागृत करती हैं जिनसे उसके मनोभावों (moods) में परिवर्तन आता है। यद्यपि यह परिवर्तन सूक्ष्म होने के कारण हर बार इंद्रियगोचर नहीं होता है, आत्मा तो इसको हरसमय अनुभव करती ही है। ये भाव-पर्याय परिवर्तन भी सतत

होते हैं तथा सिद्ध, बुद्ध और मुक्त आत्माएँ भी भाव-परिणामन से अछूती नहीं हैं, उनके भाव भी प्रतिसमय के अपने ज्ञानोपयोग से क्या जानते हैं तथा दर्शनोपयोग से क्या देखते हैं के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं जिन्हें ज्ञान-परिणामन व दर्शन-परिणामन कहते हैं।

अजीव सत्त्व - पुद्गल के पर्याय-परिवर्तन -

हमें यह भी समझना होगा कि अजीव द्रव्य में पर्याय-परिवर्तन किस प्रकार घटित होते हैं तथा इस निरंतर घटित होने वाले पर्याय-परिवर्तन के बीच वह अपना स्थायित्व किस प्रकार कायम रख पाता है। उदाहरणस्वरूप हम एक मिट्टी की ईंट को लेते हैं - कुंभकार मृदा लेकर उससे ईंट बनाता है, कोई व्यक्ति उस ईंट को खरीदकर उससे अपना घर बनवाता है जो कालांतर में ढह जाता है तथा समय पाकर ईंट भी भुरभुरा कर पुनः मिट्टी में मिल जाती है। इस उदाहरण में मुख्य मृदा-द्रव्य था जो निम्नानुसार परिवर्तित होते हुवे भी सदाकाल बना रहा: -

परिवर्तन	पर्याय-व्यय	पर्याय-उत्पाद	द्रव्य-ध्रौव्य
मिट्टी से ईंट	मिट्टी	ईंट	मिट्टी
ईंट से मकान	ईंट	मकान	मिट्टी
मकान से खंडहर	मकान	खंडहर	मिट्टी
खंडहर से मलवा	खंडहर	मलवा	मिट्टी
मलवे से पुनः मिट्टी	मलवा	मिट्टी	मिट्टी

ये सब पर्याय परिवर्तन हैं। मुख्य द्रव्य मृदा था जिसकी धूलि-पर्याय नष्ट होकर ईंट पर्याय को जन्म देती है, ईंट पर्याय नष्ट होकर घर-पर्याय को जन्म देती है, घर-पर्याय नष्ट होकर खंडहर-पर्याय को जन्म देती है, खंडहर-पर्याय नष्ट होकर मलवे को जन्म देती है तथा मलवा-पर्याय नष्ट होकर पुनः मृदा-पर्याय को जन्म देती है। पर्याय या तात्क्षणिक अवस्था में परिवर्तन हुवा, उनकी आकृतियाँ बदल गई, एक अवस्था का व्यय होकर

दूसरी अवस्था का उत्पाद हुवा किंतु इस समस्त पर्याय-परिवर्तन के बीच मृदा-द्रव्य सदैव विद्यमान रहा है तथा भविष्य में होने वाले समस्त पर्याय-परिवर्तनों के बीच भी रहेगा। यही इसके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का समीकरण है।

षड्द्रव्यों में पर्याय-परिवर्तन -

षड्द्रव्यों में से जीव-द्रव्य तथा पुद्गल-द्रव्य के पर्याय-परिवर्तनों के बारे में हम पिछले अनुच्छेदों में विस्तार से चर्चा कर चुके हैं। शेष चार द्रव्य हैं - गति का माध्यम धर्मास्तिकाय, स्थिति का माध्यम अधर्मास्तिकाय, अवकाशप्रदाता आकाश तथा सतत व्यतीत होने वाला परिवर्तन का माध्यम काल-द्रव्य। ये सभी भी सतत पर्याय परिवर्तित होते हैं व ध्रुव भी रहते हैं। देखना यह है कि कैसे?

धर्मास्तिकाय का पर्याय-परिवर्तन -

यह अजीव-द्रव्य, जो समस्त लोकाकाश पर्यंत व्याप्त है, उन जीवों तथा पुद्गलों की गति में सहायक होता है जो पर्यायापेक्षा स्वयं सतत परिवर्तनशील हैं। यह सामान्य ज्ञान का विषय है कि जब कोई वस्तु किसी माध्यम में गति करती है तो उस माध्यम के परमाणुओं का क्रम और विन्यास भी परिवर्तित हो जाते हैं। इसी प्रकार ज्यों ही कोई जीव या पुद्गल-स्कंध धर्मास्तिकाय (आधुनिक विज्ञान सम्मत ईथर) माध्यम में गति करता है इस माध्यम का क्रम या विन्यास भी परिवर्तित हो जाता है। अतः गतिशील जीव व पुद्गल का प्रत्येक पर्याय-परिवर्तन धर्मास्तिकाय माध्यम के भी पर्याय-परिवर्तन का कारण बनता है। फिर भी माध्यम का धर्म-द्रव्य तो पर्याय-परिवर्तन के बावजूद अपरिवर्तित ही रहता है। पर्याय-परिवर्तन में एक पर्याय का व्यय होकर ही दूसरी पर्याय का उत्पाद होता है तथा धर्म-द्रव्य तो ध्रुव ही रहता है, अतः धर्म-द्रव्य की सत्ता उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के नियम का सम्यक् पालन करती है।

अधर्मास्तिकाय का पर्याय-परिवर्तन -

धर्मास्तिकाय के पर्याय परिवर्तन व द्रव्य के ध्रौव्य को समझ लेने के

पश्चात् जीव व पुद्गल के स्थिति में सहायक माध्यम अधर्मास्तीकाय में स्थित पदार्थों में होने वाले पर्याय (स्थिति)-परिवर्तन से इसमें होने वाले पर्याय-परिवर्तन को समझना कठिन नहीं होगा।

आकाशास्तिकाय का पर्याय-परिवर्तन -

आकाश का कार्य लोक के अन्य सभी पदार्थों को अवकाश प्रदान करना है। जब आकाश में अवकाशित किसी भी पदार्थ का सतत होने वाला पर्याय-परिवर्तन होता है तो आकाश-द्रव्य के प्रदेशों का क्रम व विन्यास भी परिवर्तित हुवे बिना नहीं रहता फिर भी इन पर्याय-परिवर्तनों के बीच भी आकाश-द्रव्य तो ध्रुव या अपरिवर्तित ही रहता है।

काल-द्रव्य का पर्याय-परिवर्तन -

काल का स्वभाव है व्यतीत होना। अतः जो कालाणु वर्तमान समय में है वह अगले ही समय में बीत चुका होता है। यही काल का पर्याय-परिवर्तन है फिर भी द्रव्यापेक्षा तो काल अक्षर या सनातन ही है। यही काल के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य हैं। इस परिवर्तन के तथा काल द्वारा प्रायोजित परिवर्तन के बारे में विस्तृत चर्चा पिछले अध्याय में कर चुके हैं, उसका अतिरिक्त विस्तार अनावश्यक है।

उपसंहार -

भाव या जीवाजीव पदार्थों के भौतिक तथा चैतन्य पर्याय सतत परिवर्तित होते हैं। पर्यायापेक्षा वे हर समय नष्ट होते हैं, उत्पन्न होते हैं तथा इन सब के मध्य द्रव्यापेक्षा वे सदाकाल बने रहते हैं। उनकी अवस्थाओं में होते हुवे निरंतर परिवर्तन के बीच भी उनका मौलिक द्रव्य अपरिवर्तित ही रहता है। और ऐसा हो भी क्यों नहीं, सत् का स्वरूप ही है उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त होना। अगर हम यह समझ लेते हैं तो हम सत् (वास्तविकता) के स्वरूप को समझ लेते हैं।

जैन-धर्म : जीवन-धर्म

चतुर्थ खण्ड

जैन-आचार

अध्याय - १३.

श्रमणाचार

अध्याय - १४.

श्रावकाचार

जैन विचारधारा में साधु-जीवन में ही नहीं अपितु श्रावक-जीवन में भी आचार की शुद्धता पर बहुत बल दिया जाता है। इसी आचारशुद्धि को लक्ष्य करके तीर्थंकर तीर्थ या चतुर्विध संघ की स्थापना करते हैं। इस खण्ड में जैन श्रमणों व श्रावकों की आचारसंहिताओं तथा उनके आचार को नियमित करने वाले नियमों-विनियमों का दिग्दर्शन कराया गया है।

अध्याय-१३ : श्रमणाचार

चारित्राधारित धर्म -

जैन-धर्म का आधार विनय अर्थात् चारित्र है। कथन 'विणयमूलओ धम्मो।' इसी तथ्य को प्रतिभासित करता है। इस मत के अनुरूप ही जैन प्रवर्तकों ने द्विस्तरीय आचार-संहिता की प्ररूपणा की। श्रमण साधकों के लिये श्रमणाचार के रूप में अधिक कठोर संहिता निर्धारित की गई जिसे अणगार-विनय या अणगार-धर्म कहा गया तथा गृहस्थ उपासकों के लिये अपेक्षाकृत सरल संहिता का निर्धारण किया गया जिसे सागार-विनय या गृहस्थ-धर्म कहा गया। यह तर्कसंगत ही है कि श्रमण साधकों का आचार-गोचर गृहस्थ उपासकों की अपेक्षा अधिक कठोर हो। इस अध्याय में श्रमणाचार या अणगार-धर्म के प्रमुख पक्षों को उजागर करने का प्रयास किया जा रहा है।

यहाँ पर यद्यपि हम धर्म के आचार या चारित्र पक्ष की ही चर्चा कर रहे हैं, हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि मुक्ति-मार्ग के घटक व धर्म के आधार-स्तंभ तीन हैं - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र। पूर्व में हम यह उल्लेख कर चुके हैं कि सम्यक्चारित्र का आधार सम्यग्ज्ञान है जो स्वयं सम्यग्दर्शन पर आश्रित है। हम यह भी समझ सकते हैं कि जो व्यक्ति कुकर्मों में रत रहता है वह सम्यग्ज्ञान व सम्यग्दर्शन से युक्त नहीं हो सकता है। इस प्रकार धर्म के ये स्तंभ एक-दूसरे से जुड़े हुवे तथा परस्पर सहायक हैं तथा एक के बिना दूसरे का होना असंभव तो नहीं परंतु शंक्य तो रहता ही है। इनमें से पहले दो - सम्यग्ज्ञान व सम्यग्दर्शन तो सहवर्ती हैं क्योंकि प्रत्येक जीव में अपनी-अपनी गति व भव के अनुसार जानकारी तो होती ही है जो दृष्टि या परिप्रेक्ष्य के सद्भाव में ज्ञान के रूप में परिणत हो जाती है - सम्यग्दृष्टि के सद्भाव में सम्यग्ज्ञान तथा मिथ्यादृष्टि के

सद्भाव में मिथ्याज्ञान। कारण स्पष्ट है - यदि दृष्टि सही है तो संचित जानकारी का अर्थनिर्णय भी सही होगा तथा तदनुरूप उसका उपयोग भी सही होगा। यही सम्यग्ज्ञान व सम्यक्-आचरण हैं। इसके विपरीत यदि दृष्टि ही गलत है तो संचित जानकारी का अर्थनिर्णय भी गलत ही होगा तथा तदनुरूप उसका उपयोग भी गलत ही होगा। यही तो मिथ्याज्ञान व मिथ्या-आचरण हैं। इसीलिये कहा गया कि दृष्टिकोण और ज्ञान सहवर्ती हैं। सम्यग्ज्ञान से जीव को गलत और सही, हेय और उपादेय में अंतर करने का विवेक प्राप्त होता है तथा प्राप्त होती है एक मनोदशा जिसमें वह गलत का त्याग कर सही को ग्रहण करता है। मनोवृत्ति ही क्रियाओं की कारणभूत होती है - सही मनोवृत्ति सही क्रियाओं की तथा गलत मनोवृत्ति गलत क्रियाओं की। यह विचारधारा सम्यग्ज्ञान पर आधारित है तो क्रियाएँ (आचरण) भी सही होंगी तथा इसके विपरीत दशा में वे गलत ही हो सकती हैं।

इस अध्याय में हम जैन साधकों के लिये प्रविहित सम्यक्चारित्र की चर्चा करने जा रहे हैं जो तीर्थंकर उपदिष्ट सम्यग्ज्ञान पर आधारित है, वह सम्यग्ज्ञान जो स्वयं आध्यात्मकेन्द्रित सम्यग्दर्शनाधारित है।

अणगार धर्म -

प्रत्येक प्राणी की चरम लालसा यही रहती है कि उसकी आत्मा विभावदशा से निकल कर स्वभावदशा में आए, उसकी अनंत शक्तियों का प्रकटीकरण हो तथा वह अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख व अनंतवीर्य (अनंत आत्मसामर्थ्य) की धारक बने। यह लालसा स्वाभाविक रूप से सभी चैतन्य प्राणियों में पाई जाती है। यह लालसा मनुष्यों, देवताओं तथा कुछ तिर्यचों जैसे संज्ञी-पंचेन्द्रिय प्राणियों में विशेष रूप से परिलक्षित होती है किंतु अंतर केवल इतना है कि केवल मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जो आत्मा की इस शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वाभाविक दशा को प्राप्त करने के लिये उद्यम कर सकता है।

इस चरम सिद्धि, जिसे पा लेने के पश्चात् कुछ भी पाना शेष नहीं रहता, का रहस्य आत्मा को कर्म-द्रव्य के संग-साथ-बंधन से संपूर्ण कर्म-क्षय की प्रक्रिया अपनाकर सर्वथा अलग कर लेने में हैं। आत्मा और कर्म का संयोग अनादि तो है ही, संसारी आत्मा के प्रत्येक मिथ्या, मोह-राग- द्वेष-कषाययुक्त मनसा-वाचा-कर्मणा बंधक क्रिया द्वारा गाढ से प्रगाढ होता जाता है।

उपयुक्त मनस्थिति में पालन की गई श्रमणचर्या ही वह राज-पथ है जिसपर चलकर कोई भी व्यक्ति अपनी आत्मा से इन कर्म-बंधनों को छुड़ा सकता है। संपूर्ण अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह रूपी पाँच महाव्रतों का निरतिचार पालन नवीन कर्म-बंधन की संभावना को निरस्त कर देता है तथा तत्पश्चात् शेष रह जाता है केवल पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय जो उपयुक्त तप द्वारा संभव होता है। इस प्रकार की विकासमान साधना से आत्मा कर्म-संवर व निर्जरा के द्वारा शुद्ध से शुद्धतर होती हुई आत्मविकास के चौदह सोपानों से गुजरती हुई अपने अंतिम लक्ष्य - अशरीरी सिद्धत्व को प्राप्त कर लेती है।

अणुगार महाव्रत तथा उनकी सहायक भावनाएँ -

अपनी कठोरता के कारण महाव्रतों की संज्ञा से विश्रुत पाँच श्रमण-व्रतों का पालन मन-वचन-काया द्वारा तथा कृत-कारित-अनुमोदना रूप तीन योग व तीन करण से किसी भी सावद्यकर्म का यावज्जीवन पूर्णरूपेण त्याग करके किया जाता है। पाँच व्रत तो श्रमण-साधकों तथा गृहस्थ-उपासकों (श्रावकों) के लिये समान हैं किंतु उनके पालन में बरती गई संपूर्णता व कठोरता के अंतर से ही उन्हें क्रमशः महाव्रत व अणुव्रत कहा गया है। आध्यात्मरुचि श्रमण इन महाव्रतों को जीवन पर्यंत के लिये ग्रहण करते हैं तथा यावज्जीवन उनका निरतिचार पालन करते हैं।

वे पाँच महाव्रत तथा वे भावनाएँ जो उनकी प्रभावकता को बढ़ाते हैं निम्नानुसार हैं: -

१. प्रथम महाव्रत : सभी प्रकार के प्राणातिपात से विरमण -

सभी सन्यासी - श्रमण-श्रमणियों या साधु-साध्वियों - श्रमण दीक्षा ग्रहण करते समय ही आजीवन सभी प्रकार की जीव हिंसा का तीन करण और तीन योग से सर्वथा त्याग करते हैं यानि वे षट्जीव-निकाय के किसी भी प्राणी के किसी भी प्राण के अतिपात से विरत होते हैं या वे यह प्रतिज्ञा करते हैं कि वे अपने मन, वचन या काया की किसी भी गतिविधि से किसी भी प्राणी के किसी भी प्राण का न हनन करेंगे, न किसी अन्य व्यक्ति से ऐसा करवाएंगे तथा न किसी अन्य के द्वारा किये जाने वाले ऐसे किसी भी कृत्य का अनुमोदन ही करेंगे। वे सभी संभव रीति से सभी प्रकार की कायिक, मानसिक व वाचिक हिंसा का त्याग करते हैं। ऐसा करते हुवे वे अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव से लगाकर पर्याप्त संज्ञीपंचेन्द्रिय जीव तक किसी भी सूक्ष्म या बादर (स्थूल) जीव के दस में से किसी भी एक प्राण को भी हत या आहत न करने के लिये प्रतिज्ञाबद्ध होते हैं। अहिंसा के इस प्रकार की कठोरता से पालन करने के कारण ही उन्हें प्राणीमित्र के रूप में पहचाना जाता है। इस प्रकार वे कर्मास्रव व कर्मबंध के सबसे प्रमुख कारण का निरोध कर लेते हैं। अहिंसा महाव्रत को श्रमण-व्रतों में सबसे महत्त्वपूर्ण महाव्रत माना जाता है तथा श्रमाणाचार के शेष सभी नियम व क्रिया-कलाप उनके द्वारा इस महाव्रत के निरतिचार पालन को सुनिश्चित करने के लिये ही हैं।

जो भावनाएँ तथा सावधानियाँ श्रमण-श्रमणी वर्ग को इस महाव्रत का निरतिचार पालन करने में तथा इसकी प्रभावकता को बढ़ाने में सहायक होती हैं वे निम्नानुसार हैं: -

१. इर्यासमिति का सम्यक् रूपेण पालन करते हुवे एक जगह से दूसरी जगह जाते समय जमीन को भली प्रकार से निरीक्षण करते हुवे

तथा मार्ग में पड़ने वाले दृष्य या अदृष्य जीवों को रजोहरण द्वारा भली प्रकार से परिमार्जित करते हुवे चलना।

२. किसी प्रकार के सांसारिक अथवा पापक विचारों को मन में न लाना।
३. किसी प्रकार के सावद्य व पापक वचनों का उच्चारण नहीं करना।
४. किसी भी प्रकार का भोजन अथवा श्रमण जीवन के सम्यक् निर्वहन के लिये आवश्यक उपधि, उपकरण को प्राप्त करते समय एषणासमिति के प्रावधानों का भली प्रकार पालन करना तथा दोषयुक्त पदार्थों को ग्रहण नहीं करना, न ही कोई वस्तु दाता के प्रति किसी प्रकार का अनुचित दैन्य या कृतज्ञता अथवा भय या अनुग्रह का भाव प्रदर्शित करते हुवे ग्रहण करना।
५. निर्हार योग्य पदार्थों का विसर्जन करते समय उत्सर्ग-स्थान का भली प्रकार निरीक्षण तथा परिमार्जन करना।

२. द्वितीय महाव्रत : सभी प्रकार के मृषावाद से विरमण -

सन्यासी श्रमण-श्रमणी न तो स्वयं असत्य-भाषण करते हैं, न दूसरों को असत्य-भाषण करने के लिये कहते हैं न ही दूसरों के असत्य-भाषण का अनुमोदन करते हैं। वे मन-वचन-काया द्वारा असत्य से विरत होते हैं अर्थात् वे न झूठ सोचते हैं न झूठ बोलते हैं न ही असत्याचरण करते हैं। वे अपने आप को सत्य का इतना अभ्यस्त कर लेते हैं कि कषायों के आवेश में अथवा राग या द्वेष के वशीभूत होकर या भयाक्रांत होकर या फिर किसी भी अन्य विवशतावश भी असत्य का प्रयोग नहीं करते हैं। असत्याश्रय मोहजनक तथा अप्रतिष्ठाकारक है। इसके प्रयोग से शत्रुता, नफरत, अरति और इन्हीं जैसे अन्य कई मानसिक दोष व द्वंद्व बढ़ते हैं तथा अंततोगत्वा यह आत्मा को दुर्गति में ले जाने का कारण बनता है, अतः असत्याचरण सर्वथा त्याज्य है। इस महाव्रत को ग्रहण करने के पश्चात् साधु-साध्वीजन सदैव सत्य का ही प्रयोग करते हैं वे न केवल असत्याचरण से विमुक्त होते हैं अपितु संशय को भी प्रश्रय नहीं

देते हैं। वे मित्तभाषी होने के साथ-साथ सदैव हितकारी भाषा ही बोलते हैं। उनके वचन सदा-सर्वदा 'सत्यं ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयात्। मा ब्रूयात् असत्यमप्रियं।' का पालन करते हैं। न वे किसी प्रकार की गल्पवार्ता करते हैं न कलहकारी भाषा बोलते हैं, न किसी की निंदा करते हैं न ही अनावश्यक विवादों में उलझते हैं। इस प्रकार वे अपने वचन-व्यवहार से सत्य का ही आचरण करते हैं।

जो मानसिक भावनाएँ तथा सावधानियाँ श्रमण-श्रमणी वर्ग को इस सर्व प्रकार के मृषावाद (असत्य) से विरति के महाव्रत का निरतिचार पालन करने में तथा इसकी प्रभावकता को बढ़ाने में सहायक होती हैं वे निम्नानुसार हैं: -

१. अनावश्यक जल्दबाजी किये बिना विचारपूर्वक केवल वही बात बोलना जिसके बारे में कोई संदेह न हो।
२. गुस्से में कोई बात न बोलना।
३. लोभ का परिहार करना।
४. भय को त्यागना, तथा
५. हास्य व जुगुप्सापूर्ण मानसिकता में बोलने का त्याग करना।

३. तृतीय महाव्रत : सभी प्रकार के अदत्तादान से विरमण -

जैन श्रमण-श्रमणियों कोई भी वस्तु जो उसके स्वामी द्वारा उन्हें भिक्षा में देने के लिये प्रस्तुत न की गई हो ग्रहण नहीं करते हैं। किसी भी वस्तु के ग्रहण करने के बारे में उनके कई प्रतिबंध होते हैं जिनमें से यह सबसे प्रमुख प्रतिबंध है। इस महाव्रत के अनुसार वे ऐसी वस्तु न तो स्वयं ग्रहण करते हैं न किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा ग्रहण करवाते हैं न ही किसी भी अन्य व्यक्ति के द्वारा ऐसी, बिना उसके विधिसम्मत स्वामी की अनुज्ञा से दी गई, वस्तु के लिये जाने की अनुमोदना ही करते हैं। इस महाव्रत से वे इस बात के लिये भी प्रतिबद्ध हो जाते हैं कि न तो वे ऐसी, बिना उसके विधिसम्मत स्वामी की अनुज्ञा से दी गई, किसी वस्तु को लिये

जाने के बारे में सोचें न ही उसके बारे में किसी से कहें न ही स्वयं ऐसी वस्तु लें। यह स्पष्ट है कि किसी भी वस्तु को उसके विधिसम्मत स्वामी की अनुज्ञा के बिना लेना लोभ कषाय का ही परिणाम है, अतः श्रमण-श्रमणियों के लिये इस व्रत के निरतिचार पालन के लिये लोभ का परित्याग अत्यावश्यक है। मूल्यवान वस्तुओं की तो बात ही क्या, वे तो दाँत कुरेदने का तिनका भी उसके स्वामी की अनुज्ञा से दिये जाने के लिये प्रस्तुत किये बगैर नहीं ले सकते हैं। इस महाव्रत के उपनियमों के अनुसार श्रमण-श्रमणी वर्ग तो किसी अन्य के लिये लाई गई वस्तु का भी उपयोग नहीं करते हैं। इस महाव्रत के लाभ के बारे में कहा गया है कि जो श्रमण-श्रमणी अदत्तादान को ग्रहण नहीं करते हैं वे भय, आशंका, शोक व ईर्ष्या को विजित करके अपना श्रमण-जीवन सुख-शांता पूर्वक व्यतीत करते हैं। इस महाव्रत के प्रावधान भोजन व अन्य श्रमण-जीवन के लिये आवश्यक उपधि के लिये समान रूप से व्यवहार में आते हैं।

जो मानसिक भावनाएँ तथा सावधानियों श्रमण-श्रमणी वर्ग को इस सर्व प्रकार के अदत्तादान से विरति या अस्तेय महाव्रत का निरतिचार पालन करने में तथा इसकी प्रभावंकता को बढ़ाने में सहायक होती हैं वे निम्नानुसार हैं: -

१. किसी भी वसति में ठहरने की अनुज्ञा प्राप्त करते समय उन्हें अपनी आवश्यकता का पूरा ध्यान रखना चाहिये तथा यदि आवश्यकता से अधिक स्थान उपलब्ध हो तो भी उन्हें अपनी आवश्यकतानुसार स्थान के लिये ही अनुज्ञा लेनी चाहिये तथा उतना ही स्थान उपयोग में लेना चाहिये।
२. वसति व शय्या-संस्तारक तथा तुच्छ वस्तुओं का प्रयोग भी अनुज्ञापूर्वक ही करना चाहिये।
३. वसति के लिये अनुज्ञा प्राप्त करते समय प्रार्थना या व्याख्यान- कक्ष या सभाभवन का प्रयोग करने की भी अनुज्ञा प्राप्त कर लेनी चाहिये तथा भवन के किसी भी भाग का, जिसके लिये अनुज्ञा न

ली-दी गई हो, उपयोग नहीं करना चाहिये।

४. भिक्षा में लाए गए भोजन को भी गुरु या समूह के वरिष्ठतम सदस्य के आदेशानुसार ही उपयोग में लेना चाहिये, तथा
५. यदि एक ही भवन में कोई अन्य श्रमण-श्रमणी समूह भी रह रहा हो तो भवन के उनके द्वारा अनुज्ञा प्राप्त भाग का उपयोग उनकी आज्ञा तथा सहमति के बिना नहीं करना चाहिये।

४. चतुर्थ महाव्रत : सभी प्रकार के मैथुन से विरमण -

पाँच अणगार महाव्रतों में पालन करने में सबसे कठिन इस महाव्रत को धारण कर श्रमण-श्रमणी वर्ग के सदस्य जीवन पर्यंत देव, मनुष्य व तिर्यच योनि के किसी भी विपरीत लिंगी या नपुंसक लिंगी प्राणी के साथ किसी भी प्रकार के लैंगिक संबंधों का तीन योग से (मनसा-वाचा-कर्मणा) तथा तीन करण से (कृत-कारित-अनुमोदित) त्याग करते हैं। वे न तो स्वयं किसी प्रकार के मैथुन का सेवन करते हैं न दूसरों से करवाते हैं न ही किसी दूसरे के द्वारा मैथुन-सेवन का अनुमोदन ही करते हैं। वे न कामोत्तेजक विचारों को मन में लाते हैं न कामवर्द्धक वचन बोलते हैं न ही काम-क्रीड़ा ही करते हैं।

जो नौ मानसिक भावनाएँ तथा सावधानियों श्रमण-श्रमणी वर्ग को सर्व प्रकार के मैथुन से विरति या ब्रह्मचर्य महाव्रत का निरतिचार पालन करने में तथा इसकी प्रभावकता को बढ़ाने में सहायक होती हैं तथा जिन्हें जैन शब्दावलि में 'ब्रह्मचर्य की नौ वाड़' भी कहा जाता है, वे निम्नानुसार हैं: -

१. ब्रह्मचारी श्रमण-श्रमणी को ऐसी वसति में नहीं रहना चाहिये जहाँ विपरीत लिंगी या नपुंसक लिंगी व्यक्ति अथवा पशु आदि रहते हों। उसे एकांत स्थान में रहना चाहिये।
२. ऐसे साधक-साधिका को किसी भी प्रकार की कामकथा नहीं करनी चाहिये।

३. उसे किसी भी विपरीत लिंगी या नपुंसक व्यक्ति से निकटता नहीं बढ़ानी चाहिये, उनसे ज्यादा देर या एकांत स्थान में बात नहीं करनी चाहिये।
४. उसे किसी भी विपरीत लिंगी व्यक्ति के शरीर के मनोहारी अंगों को नहीं देखना चाहिये।
५. उसे भवन के अन्य कक्षों या भागों से आती हुई हास्य, काम, आदि से संबंधित मधुर ध्वनियों पर कोई ध्यान नहीं देना चाहिये।
६. उसे अपने गृहस्थ जीवन में भोगी गई काम-क्रीड़ाओं को स्मरण नहीं करना चाहिये।
७. उसे अनावश्यक रूप से अत्यधिक पौष्टिक, शक्तिदायक व उद्दीपक भोजन नहीं करना चाहिये।
८. उसे आवश्यकता से अधिक भोजन नहीं करना चाहिये, तथा
९. उसे अपने शारीरिक बनाव-श्रृंगार के प्रति उदासीन रहना चाहिये।

ये विनियम सर्वग्राही हैं तथा वे श्रमण-श्रमणी वर्ग को न केवल शारीरिक अपितु मानसिक तथा वाचिक स्तर पर भी कामेन्द्रिय संयम के प्रति जागरूक रखते हैं।

५. पंचम महाव्रत : सभी प्रकार के परिग्रह से विरमण -

परिग्रह से तात्पर्य है वे पदार्थ जिन पर कोई भी व्यक्ति अपना आधिपत्य, स्वत्व, स्वामित्व या अधिकार समझता है, अतः वे बंधनकारक होते हैं। इस दृष्टि से परिग्रह दो प्रकार का होता है - १. वे भौतिक पदार्थ जिनपर आधिपत्य, स्वत्व, स्वामित्व या अधिकार समझा जाता है। यह बाह्य परिग्रह है। २. स्वयं आधिपत्य, स्वत्व, स्वामित्व या अधिकार की भावना जिसके अभाव में किसी प्रकार की तथा कितनी भी भौतिक संपदा व्यक्ति को बांधती नहीं है। यह आंतरिक परिग्रह होता है। सभी प्रकार की दृष्ट्य धन-संपदा यथा - धन और धान्य, भूमि और भवन, नौकर-चाकर, पशुधन आदि प्रथम प्रकार के बाह्य परिग्रह के उदाहरण हैं और उनके प्रति

आसक्ति, आकर्षण तथा तज्जन्य राग-द्वेष, क्रोध-मान-माया-लोभ, हास्य, भय, रति-अरति, शोक-जुगुप्सा, वेद व मिथ्या धारणाएँ दूसरे प्रकार का आंतरिक परिग्रह है। स्पष्ट है कि बाह्य परिग्रह द्रव्य-परिग्रह है तथा आंतरिक परिग्रह वैचारिक व मनःस्तरीय परिग्रह है। वास्तव में तो स्वात्म के अतिरिक्त किसी भी पदार्थ में अभिरुचि ही स्वानुभूति में बाधक व बंधक परिग्रह है। यहाँ तक कि स्वशरीर के प्रति आसक्ति भी बंधक है जिसे हर आत्मलक्षी साधक को हर हाल में त्यागना चाहिये।

परिग्रह को ही ग्रंथ भी कहा जाता है अतः जैन श्रमण-श्रमणियों जो अपरिग्रही होते हैं निर्ग्रंथ भी कहे जाते हैं। विचारणीय है कि जब दिगंबर और श्वेतांबर दोनों परंपराओं के जैन साधक-साधिका वर्ग को निर्ग्रंथ कहा जाता है तो प्रश्न उठता है कि यह कैसे संभव है कि वे स्वशरीर के अतिरिक्त भी ऊनी रजोहरण या मयूरपंखों से निर्मित पिच्छी, कमंडलु या वस्त्र-पात्र, आदि श्रमणोपधि की वस्तुएँ तथा पाट्यसामग्री रखते हैं? इसका उत्तर उनके पास की भौतिक वस्तुओं में नहीं अपितु उनके प्रति उनमें किसी प्रकार की आसक्ति के अभाव में खोजा जाना चाहिये।

परिग्रह भी लोभ का ही परिणाम है जो अपने से संबद्ध तथा संपत्ति के अर्जन, संग्रह, संवर्द्धन व संरक्षण में अपरिहार्य रूप से होने वाले क्रोध, मान व माया कषायों से संयुक्त होकर आध्यात्मिक दृष्टि से और अधिक हानिकारक हो जाता है। लोभ का स्वभाव है कि जैसे-जैसे लाभ बढ़ता है वैसे-वैसे लोभ भी बढ़ता है। 'लाभ-लोभ, लोभ-लाभ' का एक ऐसा दुष्चक्र (vicious cycle) है जो निर्बाध रूप से चलता रहता है तथा जिससे सुविचारित प्रयास के बिना निकलना अत्यंत कठिन होता है। हमें स्मरण रखना होगा कि लोभ सबसे अधिक जिद्दी कषाय है जो आत्मविकास के दसवें सोपान (सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान) तक बना रहता है अतः इससे पार पाने के लिये भी उतनी ही दृढ़ मानसिकता व अटल अध्यवसाय की आवश्यकता होती है।

जैन साधक न केवल बहुमूल्य वस्तुएँ नहीं रखते हैं अपितु जो कुछ अल्प मूल्य वाली उपधि व पाठ्य सामग्री वे अपनी श्रमणचर्या का सम्यक् संचालन करने के निमित्त रखते हैं, वे भी उनके लिये बंधक तथा उनकी आत्मसाधना में अवरोधक नहीं होती हैं क्योंकि उनके प्रति भी उनके मन-मस्तिष्क में किसी प्रकार का गृद्धिभाव नहीं होता है। वे तो उन वस्तुओं को श्रमण जीवन की अपरिहार्य आवश्यकताओं के रूप में ही देखते हैं। ऐसा करते हुवे भी वे ऐसी मानसिकता में रहते हैं जैसे कि -

१. वे कभी भी किसी वस्तु के स्वामित्व के आकांक्षी नहीं होते हैं चाहे वह वस्तु कितनी भी बहुमूल्य या तुच्छ क्यों न हो।
२. वे किसी भी ऐसी वस्तु को जो उनकी श्रमण-उपधि की सीमा में न आती हो ग्रहण नहीं करते हैं।
३. वे केवल उतना ही निर्दोष आहार ग्रहण करते हैं जो कि दिगंबर मुनि उसी जगह व उसी समय उपयोग में ले सकते हैं तथा श्वेतांबर साधु-साध्वी भी उसी दिन उपयोग में ले सकते हैं। वे कोई खाद्य सामग्री दूसरे दिन के लिये नहीं रखते हैं।
४. वे किसी खाद्यसामग्री का संभरण नहीं करते हैं।
५. वस्त्र-पात्र के बारे में भी उनकी धारणा धर्म-साधनार्थ जीवनधारण की आवश्यकतापूर्ति मात्र रहती है। वे वस्त्रधारण केवल शरीर-रक्षण व नग्नता विमोचन द्वारा सामाजिक निंदा से बचने के लिये करते हैं न कि सुविधाभोग या प्रियदर्शिता के लिये।

जैन सिद्धांतशास्त्र परिग्रह के बंधन पर इतना जोर देते हैं कि दूसरे अंग-आगम 'सूत्रकृतांग' की पहली ही गाथा में कहा गया है, "जो जीव लेशमात्र भी सचित्त या अचित्त परिग्रह रखता है वह मुक्त नहीं हो सकता है।" सन्यासियों के बारे में तो आचारांग एक कदम और भी आगे जाता है जब वह कहता है कि जो श्रमण परिग्रह रखता है वह तो गृहस्थ के समान ही है। परिग्रह का प्रभाव इतना हानिकारक होने के कारण यह

उचित ही है कि जैन साधक वर्ग इससे त्राण पाने के लिये सभी संभव प्रयास करते हैं।

जो मानसिक भावनाएँ तथा सावधानियों श्रमण-श्रमणी वर्ग को इस सर्व प्रकार के परिग्रह से विरति या अपरिग्रह महाव्रत का निरतिचार पालन करने में तथा इसकी प्रभावकता को बढ़ाने में सहायक होती हैं वे निम्नानुसार हैं: -

१. सन्यासी को मनोज्ञ व अमनोज्ञ शब्दों तथा ध्वनियों के प्रति असंप्रक्त होना चाहिये।
२. उसे मनोज्ञ व अमनोज्ञ दृष्ट्यों के प्रति असंप्रक्त होना चाहिये।
३. उसे मनोज्ञ व अमनोज्ञ गंधों के प्रति असंप्रक्त होना चाहिये।
४. उसे मनोज्ञ व अमनोज्ञ रसों तथा स्वादों के प्रति असंप्रक्त होना चाहिये।
५. उसे मनोज्ञ व अमनोज्ञ स्पर्शों के प्रति असंप्रक्त होना चाहिये।

छठा व्रत : सर्वप्रकारेण रात्रिभोजन से विरति -

यद्यपि श्रमणों के महाव्रत पाँच ही होते हैं, श्रमण दीक्षा के समय ही वे एक व्रत और ग्रहण करते हैं जो महत्व में पाँच महाव्रतों से किसी प्रकार कम नहीं है। यह छठा व्रत है - जीवन भर के लिये तीन करण और तीन योग से सभी प्रकार के रात्रि-भोजन का त्याग।

दशविध मुनि-धर्म -

उपरोक्त पाँच महाव्रतों के अतिरिक्त मुनिगण चिन्मांकित दश मुनि-धर्मों का भी पालन करते हैं: -

१. क्षमा - मुनिगण सहनशीलता के विकास व क्रोध के शमन द्वारा क्षमा-धर्म का पालन करते हैं। वे क्रोध का कारण उपस्थित होने पर भी क्रोध नहीं करते हैं।
२. मुक्ति - वे भौतिक पदार्थों के प्रति आसक्ति से मुक्त होते हैं अतः

निलोभी होते हैं।

३. आर्जव - माया का त्याग करना ही आर्जव या सरलता है। मुनिगण ठगी आदि मायाचार के त्यागी होते हैं।
४. मार्दव - मार्दव का अर्थ है मान का त्याग। अपने ज्ञान, तप आदि का अभिमान न करना मृदुता है।
५. लाघव - लाघव अर्थात् हल्कापन जो परिग्रह व राग आदि के भार को हल्का करके प्राप्त किया जाता है।
६. सत्य - सत्य-धर्म के पालन का फलितार्थ है विषम से विषम परिस्थितियों में भी असत्य का आश्रय न लेकर सदा-सर्वदा सत्य हितकारी व मित भाषण करना।
७. संयम - मन, वचन व काया के सत्रह प्रकार के संयम का पालन करना ही संयम-धर्म है।
८. तप - इच्छा व आकांक्षा का त्याग करके बारह प्रकार (छः बाह्य व छः आभ्यन्तर) का तप करना।
९. त्याग - उपकरणों व अन्य पदार्थों का अनासक्तिपूर्वक त्याग करना। तथा
१०. ब्रह्मचर्य - विषय-वासना का त्याग करके मन को धर्म-ध्यान में ही लगाए रखना।

अष्ट प्रवचन-माताएँ : समिति-गुप्ति -

जैन श्रमण-श्रमणियों को समिति और गुप्ति का पाठ परंपरा से ही पढ़ाया जाता है। श्रमण-दीक्षा के समय से ही वे अपने सभी क्रिया-कलापों में जयणा या सावधानी का उपयोग रखते ही हैं तथा अनावश्यक गतिविधि का संकोच भी करते हैं ताकि अनावश्यक सावधकर्म न हों। संक्षेप में यही समिति-गुप्ति है। समितियों पाँच हैं तथा गुप्तियाँ तीन, इस प्रकार ये कुल मिलाकर आठ हैं। इनके श्रमण-धर्म के माता के समान संरक्षण-संवर्द्धन के गुण को देखते हुवे इन्हें अष्ट प्रवचन-माताओं की संज्ञा भी दी गई है। समितियों की प्रकृति विधेयात्मक है क्योंकि उनमें श्रमणचर्या को करने में

क्या-क्या सावधानियों बरती जाएँ उनका विधान है तथा गुप्तियों निषेधात्मक हैं क्योंकि इनमें क्या-क्या नहीं किया जाय उसका निषेध है।

जयणा से पाप का परिहार -

जब भगवान महावीर से पूछा गया कि कोई साधक (या कोई भी व्यक्ति) कैसे चले, कैसे खड़ा रहे, कैसे बैठे, कैसे सोए, कैसे खाए व कैसे बोले कि उसे पापकर्म का बंध न हो तो उन्होंने उत्तर दिया कि जयणापूर्वक चलता हुआ, जयणापूर्वक खड़ा रहता हुआ, जयणापूर्वक बैठा रहता हुआ, जयणापूर्वक सोता हुआ, जयणापूर्वक खाता हुआ तथा जयणापूर्वक बोलता हुआ साधक पापकर्म का बंध नहीं करता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि लापरवाही, असावधानी या प्रमाद ही पाप का कारण है तथा सावधानी व अप्रमाद से पाप का बंध नहीं होता है। इस संवाद को हम एक वाक्यांश में यह कहकर समेट सकते हैं, “जयणा ही पाप-परिहार है, प्रमाद पापकारक है”। इसीलिये जैन आचार-पद्धति में साधक के कायिक, वाचिक व मानसिक अनुशासन पर बहुत ही सूक्ष्मता से ध्यान दिया गया है तथा जैन साधकों के गमनागमन, भाषा, भोजन-वस्त्र-पात्रादि की एषणा, उपधि व अध्ययनसामग्री आदि की सार-संभाल तथा विसर्जन योग्य अपशिष्ट पदार्थों के विसर्जन के लिये सावधानियों का विधान किया गया है जिनका पालन करने से साधक पापकर्मों से बचा रहता है। इसी विधि-निषेध में साधकों के लिये क्या करणीय है तथा क्या अकरणीय है इनकी सूक्ष्म विवेचना के साथ नियम बनाए गए हैं। पौंच समितियों विधेयात्मक हैं जिनमें श्रमणचर्या के जयणापूर्वक करने के विधान हैं तथा तीन गुप्तियों निषेधात्मक हैं जिनमें मन-वचन-काया के संगोपन-अनुशासन व इनकी अनावश्यक प्रवृत्तियों का निषेध किया गया है। संक्षेप में समितियों यह बताती हैं कि कैसे करना तथा गुप्तियों यह कि कैसे नहीं करना।

इस जयणा व आत्मानुशासन से साधकों के महाव्रतों का सम्यक् रूपेण पालन करने में न केवल सहायता मिलती है अपितु उनमें

अतिरिक्त निखार भी आता है। अतः इन्हें श्रमण-धर्म के रक्षण में माता के समान मान कर प्रवचन-माताएँ या श्रमण-प्रज्ञा की माताएँ भी कहा जाता है। इस गरिमापूर्ण पद की महत्ता को समझने के लिये हमें ध्यान रखना होगा कि समिति-गुप्ति चारित्र्यस्तरीय हैं तथा चूंकि चारित्र्य ज्ञान-दर्शन या प्रज्ञा से ही संचालित होता है, सम्यक्चारित्र्य को सुनिश्चित करने वाली समिति-गुप्ति को प्रवचन-माता कहना उचित ही है।

जयणात्मक समिति व अनुशासनात्मक गुप्ति -

समिति - सावधानी या ध्यानपूर्वक किया गया कार्य ही समितिपूर्वक किया गया कार्य है। जैन परंपरा में साधकों के लिये पौंच ऐसे कार्यक्षेत्र चिन्हित किये गए हैं जिनमें उन्हें अत्यंत सावधानीपूर्वक कार्य करना चाहिये। इन्हीं के अनुसार पौंच समितियाँ इस प्रकार हैं - १. ईर्या-समिति या साधको द्वारा गमनागमन में बरती जाने वाली सावधानियों, २. भाषा-समिति या बोलते समय भाषा-प्रयोग में बरती जाने वाली सावधानियों, ३. एषणा-समिति या भोजन तथा श्रमण-जीवन की अन्य आवश्यकताओं की आपूर्ति के लिये भिक्षाचर्या में बरती जाने वाली सावधानियों, ४. आदान-भण्ड-मात्र-निक्षेपणा समिति या श्रमण उपधि, उपकरण, वस्त्र-पात्र, अध्ययनसामग्री आदि की नियमित रूप से समुचित देखभाल तथा ५. परिस्थापनिका-समिति या विसर्जनयोग्य मल-मूत्र, श्लेष्म-सिंघाण, आदि के विसर्जन में बरती जाने वाली सावधानियों। स्पष्ट है कि समितियों में श्रमणचर्या के कार्यों के जयणा या ध्यानपूर्वक निष्पादन के प्रवधान विधित हैं।

गुप्ति - अनुचित कार्य को करने से रुक जाना ही आत्मनियंत्रण या आत्मानुशासन है तथा इसे ही जैन शब्दावलि में गुप्ति कहा गया है। मानसिक, वाचिक या कायिक अनुशासन के संदर्भ में इन्हें १. मन-गुप्ति, २. वचन-गुप्ति तथा ३. काय-गुप्ति कहा गया है। अर्थात् मन की अनुचित वैचारिक गतिविधियों को रोकना मन-गुप्ति है, वचन के अनुचित प्रयोग को

रोक लेना वचन-गुप्ति हैं तथा शरीर द्वारा कोई अनुवित कार्य नहीं करना ही काय-गुप्ति है। स्पष्ट है कि तीन गुप्तियों में मन-वचन-काया के अनुचित कार्यों का निषेध है अतः ये निषेधात्मक हैं।

दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि विवेकयुक्त चर्या समिति है तथा अविवेकी चर्या से विरति गुप्ति है। उत्तराध्ययनसूत्र में तीन गुप्तियों को भी समितियों में ही सम्मिलित करते हुवे पंचसमिति-त्रिगुप्ति के बजाय आठ समितियों की चर्चा की गई है। इस सामान्य से अलग वर्गीकरण के पक्ष में यह तर्क दिया गया है कि गुप्तियाँ भी केवल निषेधात्मक ही नहीं अपितु विधेयात्मक भी हैं तथा जब हम अशुभ विचारों, वचनों व क्रियाओं के निरोध की बात करते हैं तो शुभ विचारों, वचनों व क्रियाओं में प्रवृत्ति का निषेध नहीं होता है अतः उनमें प्रवृत्ति विवक्षित ही होती है। अतः तीन गुप्तियों को भी शुभ विचारों, वचनों व क्रियाओं के लिये विधेयात्मक मानते हुवे समितियों में ही समाविष्ट किया जा सकता है। तथापि वर्तमान परंपरा के अनुसार हम पंचसमिति-त्रिगुप्ति रूप वर्गीकरण का ही अनुसरण करेंगे।

पंचसमिति -

समिति की महत्ता निरूपित करते हुवे भगवती-आराधना के प्रणयनकर्ता आचार्य शिवकोटि (शिवाय) अपने अन्य प्रसिद्ध ग्रंथ मूलाराधना में कहते हैं, “एक अप्रमत्त साधक जो सदैव जयणापूर्वक चर्या करता है वह कभी भी पापकर्मों से लिप्त नहीं होता है तथा संसार में रहते हुवे भी कर्मोपार्जन नहीं करता है”। पूर्वोद्धृतानुसार श्रमणचर्या के पाँच ऐसे क्षेत्र हैं जिनमें श्रमणों को पूर्ण सावधानी से आचरण करना चाहिये। वे निम्नानुसार हैं: -

१. ईर्या-समिति -

एक स्थान से दूसरे स्थान को उद्देश्यपरक तथा जयणापूर्वक गमनागमन करते हुवे अपने सामने चार हाथ पर्यंत भू-भाग को ध्यानपूर्वक

देखते हुवे चलना, ऐसे मार्ग पर चलना जो अन्य लोगों तथा वाहनों के गमनागमन से निर्दोष हो गया हो ईर्यासमिति कहलाता है। ईर्यासमिति के सम्यक् पालन के लिये चार बातों का ध्यान रखना परमावश्यक हैं। वे चार बातें हैं - १. कारण या आलंबन, २. समय या काल, ३. मार्ग तथा ४. यतना।

कारण या आलंबन की दृष्टि से साधक को केवल सकारण गमनागमन करना ही कल्प्य है, निरुद्देश्य घूमना नहीं। साधक या साधिका को अपने उपाश्रय से बाहर अत्यावश्यक होने पर ही निकलना चाहिये। वे कारण जो साधक-साधिका के गमनागमन के लिये आवश्यक माने गए हैं इस प्रकार हैं - क. ज्ञान के लिये अर्थात् वाचना लेने या देने के लिये, स्वाध्यायार्थ, आदि; ख. दर्शन के लिये अर्थात् शंका निवारण के लिये, दर्शन-गुणों में वृद्धि के लिये तथा दर्शन-दोषों के परिहार के लिये, तथा ग. चारित्र के लिये अर्थात् विहारचर्या, भिक्षाचर्या, निर्हारचर्या आदि के लिये।

समय या काल की दृष्टि से साधक वर्ग को सामान्यतया केवल सूर्योदय से सूर्यास्त के अंतराल में ही गमनागमन करना चाहिये तथा भिक्षाचर्या आदि के लिये उन-उन चर्याओं के लिये नियत समय पर ही जाना चाहिये। इन प्रतिबंधों का तात्पर्य स्पष्ट है - दिन की रोशनी में चलते हुवे वे मार्ग में आने वाले सूक्ष्म जीव-जंतुओं को देख पाते हैं तथा उन्हें बचाते हुवे चल सकते हैं जो कि रात्रि में संभव नहीं है। यद्यपि निर्हारादि के लिये अपवादस्वरूप अत्यंत सावधानीपूर्वक रजोहरण से भूमि का परिमार्जन करते हुवे रात्रि को भी जाया-आया सकता है, विहारचर्या व एषणा के लिये तो रात्रि को गमनागमन सर्वथा निषिद्ध है। यहाँ तक कि यदि एक गाँव से दूसरे गाँव जाते हुवे रास्ते में ही सूर्यास्त हो जाए तो उन्हें निकटस्थ विश्रामस्थल देख कर वहीं ठहर जाना चाहिये। यदि कोई विश्रामस्थल न मिले तो पेड़ के नीचे ही रुक जाना चाहिये किंतु रात्रि के

अंधकार में तो विहारचर्या कदापि नहीं करनी चाहिये। ऐसे ही कारणों से श्रमण-श्रमणी वर्ग वर्षाकाल के चातुर्मास में विहारचर्या नहीं करके एक ही स्थान पर रहते हैं।

मार्ग की दृष्टि से श्रमण-सन्यासियों को सामान्यतया ऐसे सम स्थल-मार्गों से गमन करना चाहिये जो निरंतर जनप्रवाह या पशुओं के चलने से निर्दोष हो गए हों, विषम मार्गों से नहीं। अपवादस्वरूप वे अत्यंत आवश्यक होने पर विषम स्थल-मार्ग से अथवा जल-मार्ग से भी गमन कर सकते हैं। उन्हें पानी से भरे गड्ढे, हरियाली आदि को बचाकर चलना चाहिये। जहाँ तक वायु-मार्ग का प्रश्न है शास्त्रों में सिद्धिसंपन्न संतों की आकाशगामी विद्या का विवरण प्राप्त होता है तथा वे असाधारण परिस्थितियों में उसका उपयोग एक जगह से दूसरी जगह जाने के लिये करते भी होंगे किंतु जैन-साहित्य आज के संदर्भ में साधकों द्वारा वायु-यात्रा के बारे में मौन है क्योंकि जब ये शास्त्र रचे गए या लिपिबद्ध किये गए तब वायुयानों का अस्तित्व ही नहीं था।

यतना की दृष्टि से श्रमण दिन में अपने सामने चार हाथ पर्यंत भूमि को देखते हुवे तथा आवश्यकतानुसार रजोहरण का उपयोग करते हुवे गमनागमन करते हैं, चलते समय अपना पूरा ध्यान मार्ग पर ही लगाते हैं तथा वार्तालाप, पठन, चिंतन आदि किसी प्रकार की अन्य गतिविधि में अपना ध्यान नहीं बंटने देते हैं।

२. भाषा-समिति -

क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, जुगुप्सा, वाचालता, विकथा आदि के वशीभूत न होते हुवे विवेकपूर्वक शिष्टभाषा में सत्य, हितकारी व मित वचन बोलना ही भाषासमिति का पालन करना है। भाषासमिति के प्रावधानों के अनुसार श्रमण आवश्यक होने पर ही बोलें अनावश्यक रूप से निरर्थक वार्तालाप न करें, वे संशयकारी भाषा का प्रयोग न करें, वे उपयुक्त

समय पर ही बोलें तथा बीच में न बोलें। वे सदैव ध्यान रखें कि उनके कथन सत्य का साक्षात्कार कराने वाले हों तथापि वे किसी को चोट न पहुंचाएँ। वे कलहकारी व अप्रिय आवाज में न बोलें तथा विवाद व हिंसा भड़काने वाली भाषा का प्रयोग नहीं करें। उन्हें चलते हुवें नहीं बोलना चाहिये तथा रात्रि को जब दूसरे ध्यान या शयन कर रहे हों तो उच्चस्वर में नहीं बोलना चाहिये।

हम भाषासमिति के प्रावधानों को इस उपनिषदीय कथन में समाविष्ट कर सकते हैं, “सत्यं ब्रुयात्, प्रियं ब्रुयात्। मा ब्रुयात् असत्यमप्रियं।।”

३. एषणा-समिति -

भोजन व श्रमण-उपधि, वस्त्र-पात्र, शय्या-संस्तारक आदि की विवेक पूर्वक गवेषणा तथा उन्हें प्राप्त करने तथा उपयोग करने में विवेक रखने का ही नाम एषणा-समिति है। श्रमण-धर्म के पालन के लिये भी शरीर का संरक्षण करना आवश्यक है तथा उसके लिये भोजन प्राथमिक आवश्यकता है जिसे गृहस्थों से भिक्षाचर्या द्वारा प्राप्त करने के लिये गवेषणा व पिंडैषणा के दोषों से रहित निर्दोष भोजन ही ग्रहण करने का विवेक निर्दोष श्रमण-जीवन के लिये आवश्यक है। यही बात श्रमण-उपधि (दिगंबर परंपरा में केवल पिच्छी व कमंडलु तथा श्वेतांबर परंपरा में रजोहरण, दंडासन, आदि), वस्त्र-पात्र व शय्या-संस्तारक (केवल श्वेतांबर परंपरा के श्रमणों के लिये) के बारे में भी लागू होती हैं, वहाँ भी श्रमण-जीवन की मर्यादा व गरिमा के अनुकूल निर्दोष वस्तुओं की गवेषणा करना अत्यंत आवश्यक है। इसमें किसी भी प्रकार का समझौता श्रमण-जीवन की मर्यादा को ही नष्ट नहीं करता अपितु श्रमण को जीवन के ध्येय से ही च्युत कर देता है। एषणा-समिति के प्रावधानों के प्रति श्रमणों को अतिरिक्त सावधानी बरतने की आवश्यकता है क्योंकि हो सकता है कि कई बार उन्हें सर्वथा निर्दोष भोजनादि न मिल पाएँ तथा वे कुछ दोषों की उपेक्षा करके सदोष

वस्तुओं को ग्रहण करने के प्रलोभन में आ जाएँ। जैन श्रमण-श्रमणियों के लिये भोजन मुख्यतया शरीर-रक्षण का साधन है, उसका स्वाद तथा पौष्टिकता उनके लिये गौण है। अतः उनके लिये पिंडेषणा के बयालीस दोष टालकर भोजन ग्रहण करने का विधान है। वट्टुकर प्रणीत मूलाचार में भी श्रमणों के लिये पिंडेषणा के उद्गम, उत्पादन, औद्देशिकता आदि के ४६ दोषरहित भोजन ही ग्रहण करने का विधान है। एषणा के दोषों को हम द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के दोषों के रूप में विभाजित कर सकते हैं। क्षेत्र सीमन के दृष्टिकोण से श्रमण स्ववसति से दो मील की दूरी तक आहार-गवेषणा के लिये जा सकते हैं उससे अधिक दूर नहीं। पिंडेषणा की शास्त्रोक्त काल-मर्यादानुसार आहार गवेषणा व ग्रहण का समय दिन का तीसरा प्रहर है (वर्तमान काल में श्वेतांबर परंपरा में इस नियम का पालन गंभीरता से नहीं हो रहा है फिर भी वे भी काल-मर्यादा का पालन इस रूप में करते हैं कि प्राप्त आहार को तीन प्रहर से अधिक काल तक नहीं रखा जाता है; दिगंबर श्रमण तो दिन में एक बार ही आहार ग्रहण करते हैं)। भाव की दृष्टि से श्रमण एषणीय वस्तुओं के प्रति किसी प्रकार की आसक्ति से मुक्त होते हैं तथा प्रयत्नपूर्वक प्राप्त निर्दोष वस्तुओं को अनासक्त भाव से श्रमण-धर्म के निर्वहनार्थ उपयोग में लेते हैं।

एषणा के इन दोषों को भलीभाँति टालकर निर्दोष आहारोपधि ही प्राप्त करने के लिये श्रमणाचार-संहिता में यह प्रवधान है कि केवल वे ही साधु-साध्वी आहार-गवेषणा के लिये जा सकते हैं जिन्होंने पिंडनिर्युक्ति (अथवा दशवैकालिकसूत्र के पिंडेषणा नामक पाँचवें अध्याय), जिसमें आहारेषणा के समस्त दोषों का विषद् विवेचन है, का अध्ययन किया हुआ हो तथा केवल वे ही साधु-साध्वी वस्त्र-पात्र, शय्या-संस्तारक आदि की गवेषणा कर सकते हैं जिन्होंने आचारांग का सम्यक् अध्ययन किया हुआ हो। यदि किन्हीं विशेष कारणों से अन्य साधु-साध्वियों को आहार लाना भी पड़े तो दूसरे साधु-साध्वी उनके द्वारा लाया हुआ आहार ग्रहण नहीं कर सकते हैं।

४. आदान-भण्ड-मात्र निक्षेपणा-समिति -

जैन श्रमण-श्रमणियों के लिये यह आवश्यक है कि वे अपनी श्रमण-उपधि, वस्त्र-पात्र, शय्या-संस्तारक, अध्ययन सामग्री आदि समस्त वस्तुओं को नियमित रूप से, निश्चित कार्यक्रमानुसार, दिन में दो बार निरीक्षण करें तथा उनका ध्यानपूर्वक प्रतिलेखन करें ताकि न तो उनमें कोई जीवोत्पत्ति हो न ही उनमें आश्रय लिये किसी जीव की विराधना हो। श्रमण-चर्यानुसार श्रमण-श्रमणियों के लिये दिन के प्रथम प्रहर के प्रथम चतुर्थांश में तथा अंतिम प्रहर के प्रथम चतुर्थांश में अपनी वस्तुओं का निरीक्षण व प्रतिलेखन करने का विधान है। हर वस्तु को सावधानीपूर्वक लेकर उसका ध्यानपूर्वक निरीक्षण करके व किसी सूक्ष्म जीव की भी विराधना न हो इस प्रकार ध्यानपूर्वक प्रतिलेखित करके उन्हें प्रतिलेखित भूमि पर रखना ही सम्यक् रख-रखाव है तथा यह निरीक्षण और प्रतिलेखन ही निक्षेपणा-समिति कहलाता है। द्रव्य की दृष्टि से सभी वस्तुओं का निरीक्षण व प्रतिलेखन, क्षेत्र की दृष्टि से उपयोग में आने वाले संपूर्ण क्षेत्र का निरीक्षण व प्रतिलेखन, काल की दृष्टि से दिन में दो बार प्रथम व अंतिम प्रहर के प्रथम चतुर्थांशों में तथा भाव की दृष्टि से मन-मस्तिष्क में अप्रमत्त भाव से निरीक्षण व प्रतिलेखन करने के विचारों का होना ही सम्यक् आदान-भण्ड-मात्र निक्षेपणा-समिति कहलाती है। इस समिति के प्रवधान इतने व्यापक हैं कि विसर्जनयोग्य पदार्थों की उत्सर्जन-भूमि को भी दिन की रोशनी में पहले से भली-भाँति जाँच व बुहार लिया जाता है कि वहाँ किसी प्रकार के सूक्ष्म जीवों की विराधना की संभावना नहीं रहे। यही नहीं उस भूमि पर कुछ भी परठने से पूर्व उसे एक बार फिर रजोहरण से परिमार्जित किया जाता है।

इतनी सावधानी के पीछे कारण यह है कि कोई भी वस्तु जो लंबे समय तक प्रयोग में नहीं ली जाती है उसमें सूक्ष्म जीवोत्पत्ति हो जाती है तथा बादर जीव भी आकर उसमें आश्रय ग्रहण कर लेते हैं। समय-समय

पर नियमित निरीक्षण, हवा व धूप लगने तथा प्रतिलेखन से उन जीवों की उत्पत्ति तथा विराधना नहीं होती है तथैव अहिंसा महाव्रत का सम्यक् पालन होता है।

इस निरीक्षण व प्रतिलेखन की प्रक्रिया का भी इतनी सूक्ष्मता से विधान किया गया है कि साधक उनका पालन करते हुवे जीव-विराधना से बचा रहता है। इस प्रक्रिया के अनुसार उन्हें हर एक वस्तु को अलग-अलग ले कर उसे भली-भाँति खोलकर निरीक्षण करके रजोहरण द्वारा धीमे से प्रतिलेखन करना चाहिये, जल्दबाजी में उन्हें जोर से फटकारते हुवे नहीं करना चाहिये। उन्हें यह भी ध्यान रखना चाहिये कि निरीक्षण-प्रतिलेखन के समय उनका ध्यान किसी अन्य कार्य या वार्तालाप आदि में न बँटे।

५. परिष्ठापनिका-समिति -

श्रमण-श्रमणियों को भी कुछ विसर्जन योग्य वस्तुओं का विसर्जन करना ही पड़ता है जैसे कि टूटे हुवे पात्र, घिसे हुवे रजोहरण, फटे हुवे व अप्रयोज्य वस्त्र तथा मल-मूत्र, श्लेष्म-सिंघाण जैसे शारीरिक उत्सर्जन। सभी जीवों के प्रति संपूर्ण अहिंसा के आचरण का उनका प्रथम महाव्रत उनके लिये यह आवश्यक कर देता है कि वे इन सब वस्तुओं का विसर्जन इस प्रकार करें कि उससे यथासंभव किसी भी सूक्ष्म-बादर जीव की विराधना (प्राणातिपात) न हो। इस प्रकार के उच्चकोटि के अप्रमाद के आचरण के लिये उन्हें सर्वप्रथम तो अपनी वसति के आसपास ऐसी प्रासुक जगह की तलाश करनी पड़ती है जहाँ जीवोत्पत्ति नहीं या कम से कम हो, जिसमें यथासंभव किसी जीव की विराधना के बिना ही विसर्जन किया जा सके। इस प्रकार की प्रासुक जगह की गवेषणा के पश्चात् वे उस जगह का दिन के प्रकाश में परिमार्जन कर लेते हैं तथा किसी भी पदार्थ के विसर्जन पूर्व फिर परिमार्जन करते हैं।

परिष्ठापनिका-समिति के तहत विसर्जन-भूमि के चयन का एक सामाजिक पक्ष भी है। तिसे अनदेखा नहीं किया जा सकता है। सामान्यतया विसर्जनयोग्य वस्तुएँ घृणाजन्य होती हैं तथा उनका बस्ती के निकट अन्य निवासियों के दृष्टिगोचर विसर्जन से सामाजिक निंदा-अवहेलना का कारण बन सकता है। इस दृष्टि से विसर्जनस्थल चार प्रकार के होते हैं - १. बस्ती से दूर तथा अदृष्टिगोचर विसर्जनस्थल सर्वोत्तम होते हैं, २. बस्ती से दूर किंतु दृष्टिगोचर विसर्जनस्थल मध्यम होते हैं, ३. बस्ती के निकट तथा अदृष्टिगोचर विसर्जनस्थल उससे हीन होते हैं, तथा ४. बस्ती के निकट तथा दृष्टिगोचर विसर्जनस्थल सबसे हीन होते हैं। इन दोनों दृष्टियों से ऐसे विसर्जनस्थल जो शुष्क हों, सूखे गड्ढे, हरियालीविहीन भूमि आदि जो बस्ती से दूर तथा आँखों से ओझल हों सर्वश्रेष्ठ रहते हैं।

उपयुक्त विसर्जनस्थल की गवेषणा के पश्चात् श्रमण उसका समुचित निरीक्षण-प्रतिलेखन करके ही उपयोग करते हैं।

त्रिगुप्ति -

गुप्ति से तात्पर्य है ऐसा संयम जिससे कुछ गलत हो ही नहीं। अर्थात् असम्यक् कार्य को करने से रुक जाने का आत्मानुशासन ही गुप्ति है। क्रिया की प्रकृति के अनुसार गुप्तियों तीन होती हैं - १. मन के असम्यक् कार्य को नियंत्रित करने के अनुशासन स्वरूप मनोगुप्ति, २. वचन के असम्यक् कार्य को नहीं करने के अनुशासन स्वरूप वचनगुप्ति तथा ३. शरीर द्वारा किसी असम्यक् कार्य को नहीं करने के अनुशासन स्वरूप कायगुप्ति।

१. मनोगुप्ति -

मन में अशुभ पापक विचारों को नहीं आने देना, आने पर उन्हें नियंत्रित करके शुभ विचारों की ओर मोड़ना मनोगुप्ति है। उदाहरणार्थ

किसी भी जीव को नुकसान पहुंचाने का विचार करना, उसे नुकसान पहुंचाने की योजना बनाना, योजनानुसार साधन जुटाने के बारे में विचार करना तथा ऐसे अशुभ-पापक कार्य को अंजाम देने के लिये प्रस्थान करने के बारे में सोचना मन के अशुभ संकल्प हैं तथा इन्हें नियंत्रित करके शुभ संकल्प में लगाना मनोगुप्ति है। एक आध्यात्म-साधक के लिये मन का नियंत्रण परमावश्यक हैं क्योंकि अनियंत्रित मन तो एक उद्दंड अड़ियल घोड़े के समान है जो आत्मा रूपी सवार को तंग करता है तथा जिससे पापक कार्य ही हो सकते हैं, शुभ और शुद्ध अध्यवसाय तो नियंत्रित मन के द्वारा ही संभव हैं। मन को ही आत्मा के प्रति सभी प्रकार के कर्म-बंधनों का कारण माना गया है (“मनः एव मनुष्याणाम् कर्म-बंधनकारयोः।।”)। प्रतिपक्ष में मन ही आत्मा को सभी कर्म-बंधनों से मुक्ति दिलाने में भी समर्थ होता है। मन के अशुभ संकल्पों को दो प्रकार से नियंत्रित किया जा सकता है - १. मन को मार कर तथा २. मन को शुभ अध्यवसायों में लगाकर। पहली विधि से मन प्रतिकार करता है, विद्रोही हो जाता है, उसे दबाने से कई मानसिक रोग होने का संकट खड़ा हो जाता है तथा उसे नियंत्रित करना उतना ही कठिन हो जाता है जबकि दूसरी विधि सकारात्मक व एषणीय है।

२. वचनगुप्ति -

अशुभ व पापक वचनों को बोलने से रोक देना, ऐसा वचनानुशासन वचनगुप्ति है। वचनगुप्ति के उदाहरण हैं - क्लेशकारी वचन नहीं बोलना, किसी प्रकार के हिंसक कार्यों की आज्ञा प्रदान नहीं करना, असत्य वचन नहीं बोलना, विकथा व गल्पवार्ता नहीं करना, चुगली नहीं करना, मौनव्रत धारण करना, आदि। वचनानुशासन की महत्ता इसी बात से ओंकी जा सकती है कि तलवार के घाव तो समय के साथ भर जाते हैं किंतु शब्दों के घाव सदैव हरे रहते हैं। अशुभ वचन कर्म बंधक तो होते ही हैं, उनके दुष्परिणाम संपूर्ण शरीर तथा आत्मा को भी भोगने पड़ते हैं। जब भगवान महावीर से पूछा गया कि वचनगुप्ति से जीव को क्या प्राप्त होता है तो

उन्होंने उत्तर दिया, “वचनगुप्ति से जीव निर्विकार भाव, आध्यात्म-योग के साधनभूत ध्यान को प्राप्त होता है”।^१

३. कायगुप्ति -

दूसरों के लिये हानिकारक अशुभ व पापक कार्यों को करने से रुक जाना, ऐसा कायानुशासन कायगुप्ति है। कायगुप्ति के उदाहरण हैं - अविवेकी शारीरिक क्रिया-कलाप से विरत होना, अनावश्यक शरीरसंचालन नहीं करना, असावधानीपूर्वक नहीं बैठना, खड़ा नहीं रहना, नहीं सोना, आदि तथा कोई भी अशुभ कार्य नहीं करना। कायगुप्ति का सीधा प्रतिफल कर्मास्रव से छुटकारे के रूप में मिलता है। वस्तुतः वचनगुप्ति तथा मनोगुप्ति भी कायगुप्ति से ही सधते हैं।

कायगुप्ति की साधना के लिये व्यक्ति को आध्यात्मिक दृष्टिकोण अपनाना चाहिये, जब तक हम शारीरिक व ऐन्द्रिक सुखों के पीछे भागते रहेंगे, कायगुप्ति की बात करना ही निरर्थक होगा। जैन विचारधारा में विवक्षित शरीर व आत्मा के भेद-विज्ञान का ज्ञान साधक को तनगुप्ति से वचनगुप्ति से मनगुप्ति की दिशा में प्रेरित कर सकता है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि पाँच समिति व तीन गुप्ति रूप अष्ट प्रवचनमाताएँ श्रमण-धर्म के रक्षार्थ सन्नद्ध है तथा श्रमणचर्या को सम्यक् रखने की दिशा में उनका योगदान अपूर्व है। भगवती-आराधना में शिवाय के शब्दों में, “समिति-गुप्ति श्रमण के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की शुद्धता की रक्षा वैसे ही करती हैं जैसे कि माता अपने शिशु की रक्षा करती है”।

^१ “वयगुत्तयाए णं निव्वियारं जणयइ। निव्वियारेणं जीवे वइगुत्तं अज्झप्पजोगज्झाणगुत्तं यावि भवइ।।

श्रमण-गुण -

जैन श्रमण-श्रमणी निम्नांकित २७ गुणों से युक्त होते हैं: -

पंचमहाव्रतों का पालन -

१. अहिंसा, २. सत्य, ३. अचौर्य, ४. ब्रह्मचर्य व ५. अपरिग्रह।
- पंचेन्द्रिय संयम - ६. स्पर्श, ७. रस, ८. चक्षुर, ९. कर्ण व १०. घ्राण इंद्रियों का संयम।
- कषाय-विवेक - ११. क्रोध, १२. मान, १३. माया व १४. लोभ इन चार कषायों का शमन करने का प्रयत्न करना।
१५. भाव-सत्य - मन में सदैव संयम का निष्ठापूर्वक पालन करने का भाव होना भाव-सत्य है।
१६. करण-सत्य - सदैव श्रमणचर्या का निष्ठापूर्वक पालन करना करण-सत्य है।
१७. योग-सत्य - योग अर्थात् मन, वचन व काया की अशुभ प्रवृत्तियों का निरोध करके उन्हें सत्प्रवृत्तियों में लगाए रखना।
१८. क्षमा - उपशम द्वारा क्रोध के कारण उपस्थित होने पर भी क्रोध नहीं करना।
१९. वैराग्य - राग भाव का निरोध करके वैराग्य में स्थिर रहना।
२०. मन-समाधारणता - मन को इधर-उधर भटकने से रोक कर उसे स्वाध्याय, ध्यान आदि में लगाए रखना।
२१. वचन-समाधारणता - वचनगुप्ति पूर्वक अनावश्यक, असत्य व सत्यासत्य कथन का त्याग करके भाषा-समिति पूर्वक केवल आवश्यक, सत्य व हितकारी वचन बोलना अन्यथा मौन धारण करना।
२२. काय-समाधारणता - सभी प्रकार के कायिक सावधकर्मों का त्याग व शारीरिक प्रमाद का त्याग करके सदैव श्रमणचर्या, स्वाध्याय, ध्यान, तप, विनय, वैयावृत्य आदि के लिये तत्पर रहना।

२३. ज्ञानसंपन्नता - सतत स्वाध्याय द्वारा ज्ञानार्जन करते हुवे ज्ञानसंपन्न बनना।
२४. दर्शनसंपन्नता - सावधानी व प्रयत्नपूर्वक मिथ्याभिनिवेश के प्रति सतर्क रहते हुवे सम्यग्दर्शन की रक्षा के लिये सन्नद्ध रहना।
२५. चारित्रसंपन्नता - पौंच महाव्रत, पौंच समिति, तीन गुप्ति, दशविध समाचारी, दश मुनि-धर्म रूपी सम्यक्चारित्र का सम्यक् पालन करना।
२६. वेदना-सहनशीलता - श्रमण-जीवन के परीषहों तथा उपसर्गों को समभावपूर्वक सहन करना। तथा
२७. मृत्यु-सहनशीलता - सकाल अथवा अकाल मृत्यु, प्राकृतिक रूप से या मरणान्तक उपसर्ग आने पर भी समभाव पूर्वक धैर्य व सहनशीलता बनाए रखना।

षडावश्यक -

श्रमण-जीवन मूलतः आध्यात्मिक है। अतः इसमें नित्य आचरणीय कुछ ऐसे विधि-विधान हैं जो प्रत्येक साधक को आवश्यक रूप से, अप्रमत्त रूप से करने ही होते हैं। ऐसी गतिविधियाँ छः हैं जो षडावश्यक के रूप में जानी जाती हैं। ये छः आवश्यक क्रियाएँ इस प्रकार से प्रविधित की गई हैं कि वे साधक के लिये दैनंदिन साधना में आत्मनिरीक्षणपूर्वक त्रुटियों के निस्तारण के अवसर प्रदान करती हैं। वे नित्य आचरणीय छः गतिविधियाँ निम्नानुसार हैं: -

१. सामायिक - जीवन पर्यंत समता की आराधना करना,
२. चतुर्विंशतिस्तव - नित्य चौबीस तीर्थंकरों का स्मरण व गुणगान करना जिससे साधकों को भी वे गुण स्वयं में जागृत करने की प्रेरणा मिलती रहे। इससे अपने उपकारी तीर्थंकरों के प्रति कृतज्ञता के भाव भी जागृत होते हैं।
३. वंदन - नित्य नियमपूर्वक अपने गुरुजनों तथा वरिष्ठजनों को भक्तिभावपूर्वक वंदन करना ताकि जीवन में विनय की स्थापना हो

और शील का लाभ हो।

४. प्रतिक्रमण - कालविशेष में लगे रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र) के सभी दोषों (अतिक्रमण) का स्मरण करके उनका प्रयश्चित्त करना तथा भविष्य में वे ही दोष फिर न लगें ऐसा प्रयास करने का संकल्प करना ही प्रतिक्रमण है। आलोच्य कालावधि के अनुसार प्रतिक्रमण रात्रिक, देवसिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक व सांवत्सरिक होते हैं जिन में प्रति रात्रि, प्रतिदिन, पक्षभर में, चातुर्मासावधि में तथा वर्षभर में लगे दोषों का उपरोक्त विधि से परिहार किया जाता है। यह प्रक्रिया साधक को समय-समय पर निश्चित कालावधि में अपने दोषों का स्मरण कर आत्मनिरीक्षण द्वारा उनका प्रयश्चित्त करने के अवसर उपलब्ध करवाती है।
५. कायोत्सर्ग - काया का उत्सर्ग अर्थात् शरीर पर से ध्यान हटाकर अंतश्चेतना को जागृत करने का प्रयास करना ही कायोत्सर्ग है। इससे साधक भौतिकता से विमुख होकर आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर होते हैं।
६. प्रत्याख्यान - संयम प्रधान धर्म के साधक सदैव कुछ न कुछ त्याग करने को तत्पर रहते हैं। दैनन्दिन प्रत्याख्यान उन्हें यह विस्मृत नहीं होने देते हैं कि उन्हें नित्य त्यागवृत्ति का ही पालन करना है। इस नियम के पालन से भौतिकता से अनासक्ति तथा आधिभौतिकता के प्रति जागरूकता बढ़ती है।

सामाचारी -

श्रमण-जीवन में यदि उनके दैनन्दिन जीवन को नियमित करने वाली ऐसी व्यवस्था न हो जो साधकों के परस्पर व्यवहारों तथा कर्तव्यों का संकेत करे तो वह श्रमणों के आध्यात्मिक उत्थान का साधन नहीं बन सकेगा। इन्हीं विषयों में श्रमणों का मार्गदर्शन करने वाली व्यवस्था का नाम सामाचारी है। सामाचारी में श्रमण-जीवन की दैनन्दिन कालचर्या का प्रहरशः

विधान किया गया है। सामाचारी में श्रमण द्वारा अन्य श्रमणों के संदर्भ में विभिन्न कार्य-कलापों के लिये निर्देश हैं। सामाचारी के दस अंग हैं जिनके अनुसार दशविध सामाचारी निम्नानुसार है: -

१. आवश्यकी - अपने ठहरने के स्थान से बाहर जाते समय 'आवस्सियं' का उच्चारण करके सूचित करना।
२. नैषेधिकी - पुनरागमन पर 'निस्सिहियं' का उच्चारण करके सूचित करना।
३. आपृच्छना - स्वयं कार्य करने के लिये आज्ञा प्राप्त करना।
४. प्रतिपृच्छना - दूसरों का कार्य करने के लिये आज्ञा प्राप्त करना।
५. छन्दना - प्राप्त सामग्री के उपयोग के लिये गुरु आदि को आमन्त्रित करना।
६. इच्छाकार - दूसरों का कार्य करने के लिये अथवा अपना कार्य करवाने के लिये दूसरों की अनुकूलता पूछना।
७. मिथ्याकार - दोषनिवृत्ति के लिये 'मिच्छामिदुक्कडं' का उच्चारण कर आत्म निंदा करना।
८. तथाकार - गुरुजनों के आदेश को 'तहत्ति' कह कर स्वीकार करना।
९. अभ्युत्थान - गुरुजनों के स्वागत-सत्कार के लिये अपने आसनादि से उठना।
१०. उपसंपदा - किसी विशेष उद्देश्य के लिये अन्य आचार्य के पास रहना।

श्रमणों के दैनंदिन क्रिया-कलापों के सम्यक् संचालनार्थ दिन-रात के आठ प्रहरों के कार्यक्रम स्वरूप निम्न आठ कर्तव्यों के पालन का विधान किया गया है: -

१. स्वाध्याय - दिन व रात के प्रथम व अंतिम प्रहरों में।
२. ध्यान - दिन व रात के द्वितीय प्रहर में।
३. पर्यालोचन - दिन व रात के प्रथम प्रहरों के प्रथम चतुर्थ भागों में

श्रमण द्वारा उपधि आदि का निरीक्षण-प्रतिलेखन।

४. वैयावृत्य - गुरुजनों, वृद्ध-ग्लान, शैक्ष आदि के लिये यथा आवश्यकता।
५. भिक्षाचरी व आहार - दिन के तीसरे प्रहर में।
६. निर्हार (प्रतिस्थापना) - सामान्यतया दिन के तीसरे प्रहर में, असामान्य स्थिति में किसी भी समय।
७. शयन - रात्रि के तीसरे प्रहर में। तथा
८. विहार - सामान्यतया दिन के तीसरे प्रहर में, असामान्य स्थिति में दिन में किसी भी समय।

इस प्रकार की नियमित व कठोर सामाचारी के अनुसार श्रमणाचार का पालन करते हुवे श्रमण आध्यात्मसाधना के लिये सन्नद्ध रहते हैं।

भिक्षु-प्रतिमाएँ -

जब श्रमणों को लगता है कि उनकी दीर्घकालीन सामान्य श्रमणचर्या से उन्हें वांछित आध्यात्मिक उपलब्धि नहीं हो रही है तो वे उच्चस्तरीय साधना के लिये भिक्षु-प्रतिमाओं की आराधना करते हैं। भिक्षु-प्रतिमाओं की साधना इस प्रकार की है कि इससे कम समय में ही अत्यधिक कर्म-बंधनों का क्षय होता है। अतः यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि इनकी आराधना सामान्य श्रमणचर्या की अपेक्षा कठिन व कठोर होगी। भिक्षु-प्रतिमाएँ बारह हैं जिनकी साधना इतनी कठोर है कि उनकी सम्यक् आराधना के लिये साधक का अपने शरीर के प्रति ममत्व को विजित करना परमावश्यक है। यहाँ हम चरणानुयोग के अंतर्गत आने वाले आगम, दशाश्रुतरकंध, के आधार पर इन बारह भिक्षु-प्रतिमाओं तथा उनके लिये आवश्यक विशिष्ट स्थितियों, जिनमें उनका पालन किया जाता है, का संक्षिप्त वर्णन कर रहे हैं।

वे विशेष परिस्थितियों जो सभी बारह भिक्षु-प्रतिमाओं पर समान रूप से लागू होती हैं, निम्नानुसार हैं: -

१. भिक्षु-प्रतिमाओं के आराधक को निम्न अपवादों को छोड़कर

सामान्यतया मौन ही रहना चाहिये: -

क. आहार-पानी की गवेषणा करने के लिये,

ख. मार्ग का अनुसंधान करने के लिये,

ग. विहारचर्या में वसति में रहने के लिये अनुज्ञा प्राप्त करने के लिये, तथा

घ. पूछे गए प्रश्न का उत्तर देने के लिये।

२. भिक्षु-प्रतिमा के आराधक को एकबार किसी वसति में ठहर जाने के बाद भयंकर से भयंकर, यहाँ तक कि मरणांतक उपसर्ग होने पर भी उस वसति को छोड़कर अन्यत्र जाना कल्प्य नहीं है। प्रतिमा साधक को उस उपसर्ग को समभाव से सहन करना चाहिये।
३. प्रतिमा साधक की आँख में कोई तिनका या रजकण गिर जाए तो उसे निकालना, निकलवाना या आँखों को मलना भी कल्प्य नहीं है।
४. प्रतिमा-साधक को विपरीत लिंगी द्वारा रतिक्रिया के लिये आमंत्रित किये जाने की स्थिति में भी वह स्थान छोड़कर नहीं जाना अपितु दृढ़ता व समभावपूर्वक ध्यान में निमग्न रहना कल्प्य है।
५. चलते हुवे यदि पोंव में कोई कांटा या फांस चुभ जाए तो प्रतिमा-साधक के लिये उसे निकालना कल्प्य नहीं है। उसे उस कष्ट की परवाह किये बिना धैर्यपूर्वक सहन करना चाहिये।
६. प्रतिमा-साधक को विहारचर्या में जैसे ही सूर्यास्त हो तुरंत ठहर जाना कल्प्य है चाहे उसे पेड़ के नीचे ही रात क्यों न बितानी पड़े।
७. प्रतिमा-साधक को पल भर के लिये भी खुली धरती पर सोना नहीं कल्पता है।
८. भोजन या मल से भर जाने की स्थिति के अलावा उसे नहाना या धोना नहीं कल्पता है।
९. प्रतिमा-साधक के लिये हिंस्र जंगली जीनवसें या मत्त हाथियों,

घोड़ों व सांडों से बचने के लिये मार्ग-परिवर्तन करना नहीं कल्पता है।

१०. प्रतिमा-साधक को शीत या उष्णता से बचने के लिये स्थान-परिवर्तन करना नहीं कल्पता है।

इस प्रकार की कठोर साधना से ही कर्म-बंधन अल्पकाल में ही टूट जाते हैं।

बारह भिक्षु-प्रतिमाएँ -

१. प्रथम मासिकी भिक्षु-प्रतिमा - इस प्रतिमा का धारक साधक एक माह पर्यंत दिन में एक बार केवल एक दत्ति आहार व एक दत्ति पानी ही ग्रहण करता है। यह अल्प आहार-पानी भी वह अपने कर-पात्र में ही कई कठिन अभिग्रहपूर्वक ही ग्रहण करता है। अभिग्रह की पूर्ति न हो पाने की दशा में वह आहार-पानी लिये बिना ही लौट आता है तथा अगले दिन फिर यही प्रक्रिया अपनाता है। इस प्रकार कई-कई दिन बिना आहार-पानी के भी रहना पड़ सकता है।
२. द्वितीय मासिकी भिक्षु-प्रतिमा - इस प्रतिमा का धारक साधक एक माह पर्यंत दिन में एक बार केवल दो दत्ति आहार व दो दत्ति पानी ही ग्रहण करता है। अन्य नियम प्रथम मासिकी भिक्षु-प्रतिमा के समान ही होते हैं।
३. तृतीय मासिकी भिक्षु-प्रतिमा - इस प्रतिमा का धारक साधक एक माह पर्यंत दिन में एक बार केवल तीन दत्ति आहार व तीन दत्ति पानी ही ग्रहण करता है। अन्य नियम प्रथम मासिकी भिक्षु-प्रतिमा के समान ही होते हैं।
४. चतुर्थ मासिकी भिक्षु-प्रतिमा - इस प्रतिमा का धारक साधक एक माह पर्यंत दिन में एक बार केवल चार दत्ति आहार व चार दत्ति पानी ही ग्रहण करता है। अन्य नियम प्रथम मासिकी भिक्षु-प्रतिमा के समान ही होते हैं।

५. पंचम मासिकी भिक्षु-प्रतिमा - इस प्रतिमा का धारक साधक एक माह पर्यंत दिन में एक बार केवल पाँच दत्ति आहार व पाँच दत्ति पानी ही ग्रहण करता है। अन्य नियम प्रथम मासिकी भिक्षु-प्रतिमा के समान ही होते हैं।
६. षष्ठ मासिकी भिक्षु-प्रतिमा - इस प्रतिमा का धारक साधक एक माह पर्यंत दिन में एक बार केवल छः दत्ति आहार व छः दत्ति पानी ही ग्रहण करता है। अन्य नियम प्रथम मासिकी भिक्षु-प्रतिमा के समान ही होते हैं।
७. सप्तम मासिकी भिक्षु-प्रतिमा - इस प्रतिमा का धारक साधक एक माह पर्यंत दिन में एक बार केवल सात दत्ति आहार व सात दत्ति पानी ही ग्रहण करता है। अन्य नियम प्रथम मासिकी भिक्षु-प्रतिमा के समान ही होते हैं।
८. प्रथम सप्त रात्रि-दिवसीय भिक्षु-प्रतिमा - इस प्रतिमा का धारक साधक सात रात्रि-दिवस पर्यंत निर्जल उपवास करता है। वह बस्ति से दूर वन-प्रांत में जाकर शवासन में बिना हिले-डुले, देव, मनुष्य या तिर्यंच द्वारा प्रस्तुत किये गए उपसर्गों से विचलित हुवे बिना ध्यान-साधना में रत रहता है। मल-मूत्र विसर्जन के अतिरिक्त वह कोई हरकत नहीं करता है। अन्य नियम पूर्ववत् ही होते हैं।
९. द्वितीय सप्त रात्रि-दिवसीय भिक्षु-प्रतिमा - इस प्रतिमा का धारक साधक सात रात्रि-दिवस पर्यंत निर्जल उपवास करता है। वह बस्ति से दूर वन-प्रांत में जाकर दंडासन या उत्कृटासन में स्थित होकर बिना हिले-डुले, देव, मनुष्य या तिर्यंच द्वारा प्रस्तुत किये गए उपसर्गों से विचलित हुवे बिना ध्यान-साधना में रत रहता है। मल-मूत्र विसर्जन के अतिरिक्त वह कोई हरकत नहीं करता है। अन्य नियम पूर्ववत् ही होते हैं।
१०. तृतीय सप्त रात्रि-दिवसीय भिक्षु-प्रतिमा - इस प्रतिमा का धारक साधक सात रात्रि-दिवस पर्यंत निर्जल उपवास करता है। वह बस्ति से दूर वन-प्रांत में जाकर गोदुग्धासन या वीरासन में स्थित होकर

विना हिले-डुले, देव, मनुष्य या तिर्यंच द्वारा प्रस्तुत किये गए उपसर्गों से विचलित हुवे बिना ध्यान-साधना में रत रहता है। मल-मूत्र विसर्जन के अतिरिक्त वह कोई हरकत नहीं करता है। अन्य नियम पूर्ववत् ही होते हैं।

११. अहोरात्र भिक्षु-प्रतिमा - इस प्रतिमा का धारक साधक चउविहार षष्ठभक्त (बेला) तप करके बस्ति से दूर वन-प्रांत में जाकर एक दिन-रात के लिये दोनों टांगों को कुछ मोड़कर हाथ सीधे रख कर बिना हिले-डुले, देव, मनुष्य या तिर्यंच द्वारा प्रस्तुत किये गए उपसर्गों से विचलित हुवे बिना ध्यान-साधना करता है। अन्य नियम पूर्ववत् ही होते हैं।
१२. एक रात्रिकी भिक्षु-प्रतिमा - इस प्रतिमा का धारक साधक चउविहार अष्टभक्त (तेला) तप करके बस्ति से दूर वन-प्रांत में जाकर एक रात्रि पर्यंत अपने शरीर को कुछ आगे की ओर झुकाकर हाथ सीधे रख कर दृष्टि को एक निर्जीव वस्तु पर टिकाकर अपलक, बिना हिले-डुले, अंतर्दृष्टि होकर देव, मनुष्य या तिर्यंच द्वारा प्रस्तुत किये गए उपसर्गों से विचलित हुवे बिना ध्यान-साधना करता है। अन्य नियम पूर्ववत् ही होते हैं। यह साधना बहुत ही संकटपूर्ण होती है तथा जहाँ इसमें सफलता साधक को अपूर्व आध्यात्मिक ऊँचाइयों तक पहुँचा सकती है, दीर्घावधि अवधिज्ञान तथा विपुलमति मनःपर्यायज्ञान, यहाँ तक कि कैवल्यज्ञान तक की उपलब्धि करवा सकती है, इसमें असफल होने पर साधक उन्मत्तता या असाध्य रोग से ग्रस्त हो सकता है।

इन भिक्षु-प्रतिमाओं की आराधना सुदूर भूतकाल में की जाती थी तथा वे वर्तमान में चलन में नहीं हैं। इसका कारण यह है कि इन उच्च साधनाओं के लिये जितने उच्च शरीरबल व आत्मबल की आवश्यकता होती है वह आज-कल के श्रमणों नहीं है। इन्हीं कारणों से उस काल में भी भिक्षु-प्रतिमाओं की आराधना केवल श्रमणों द्वारा ही की जाती थी, श्रमणियों

द्वारा नहीं।

श्रमण-जीवन के अनाचार -

कुछ कार्य-कलाप ऐसे होते हैं जो श्रमणचर्या के अनुकूल नहीं होते हैं, वे श्रमण-श्रमणियों के लिये अनाचीर्ण होते हैं तथा वे उनके लिये निषिद्ध होते हैं। दशवैकालिकसूत्र में इस प्रकार के ५२ अनाचीर्ण कार्यों का उल्लेख है जो निम्नानुसार हैं: -

१. औद्देशिक - साधुओं के लिये बनाया गया आहार ग्रहण करना।
२. क्रीतकृत - साधु के लिये खरीदी गई वस्तुएँ ग्रहण करना।
३. नियाग - आमंत्रण स्वीकार करना।
४. अभ्याहृत - उपाश्रय में सामने लाया हुआ आहार लेना।
५. रात्रिभक्त - रात्रि में भोजन करना।
६. स्नान - स्नान करना।
७. गंध - इत्र-फुलैल आदि का प्रयोग करना।
८. मल्ल - पुष्पहार ग्रहण करना।
९. बीजण - पंखे का उपयोग करना।
१०. संनिधि - घी, गुड़ आदि पदार्थों का संचय करना।
११. गृहीपत्ते - गृहस्थ के बर्तनों में भोजन करना।
१२. राजपिंड - राजपुरुषों के यहाँ से भोजन ग्रहण करना।
१३. किमिच्छए - ऐसी दानशलाओं से दान लेना जहाँ 'क्या चाहिये?' पूछकर दान दिया जाता है।
१४. संवाहन - तैलादि का मर्दन करना।
१५. दंतप्रधोवन - दंतमंजन करना।
१६. संपृच्छना - गृहस्थों से सांसारिक कुशल-क्षेम पूछना।
१७. देहप्रलोचन - दर्पणादि में स्वदर्शन करना।
१८. अष्टापद व नालिका - जूआ व चौपड़-पासा आदि खेलना।
१९. छत्र-धारण - छाता धारण करना।
२०. चिकित्सा - रोग, व्याधि, आतंक में चिकित्सा करवाना।

२१. पादत्राण - जूते पहनना।
२२. ज्योति-समारंभ - अग्नि प्रज्वलित करना।
२३. शय्यातरपिंड - शय्यातर का आहार लेना।
२४. आसंदी - बेंत आदि से बने हुवे आसन पर बैठना।
२५. पर्यंक - पलंग पर बैठना।
२६. गृहांतर निषद्या - गृहस्थ के घर बैठना अथवा दो घरों के बीच बैठना।
२७. गात्र-उद्धर्तन - शरीर को स्वच्छ करने के लिये उबटन लगाना।
२८. गृहस्थ-वैयाव्रत्तिक - किसी स्वार्थवश गृहस्थ की सेवा करना।
२९. आजीववृत्तिका - आजीविका के लिये कार्य करना।
३०. अर्द्धनिर्वृत्त-भोग - भली प्रकार प्रासुक न हुवे पानी का उपयोग करना।
३१. आतुरस्मरण - कष्ट आने पर गृहवास के भोगों का स्मरण करना।
३२. अनिर्वृत्त - सचित्त पदार्थों का सेवन करना।
३३. मूलक - गाजर-मूली आदि मूल का सेवन करना।
३४. शृंगबेर - अदरक का सेवन करना।
३५. ईक्षुखण्ड - गन्ने की गंडेरियों चूसना।
३६. कंद - आलू-कचालू आदि कंद का सेवन करना।
३७. फल - सचित्त फल का सेवन करना।
३८. आमक बीज - सचित्त बीजों का उपयोग करना।
३९. आमक सौवर्चल - सचित्त शैल-लवण को उपयोग में लेना।
४०. आमक सैधव - सचित्त सैधव नमक का उपयोग करना।
४१. आमक रोम-लवण - सचित्त खनिज लवण का उपयोग करना।
४२. आमक सामुद्र - सचित्त समुद्र-लवण का उपयोग करना।
४३. आमक पांशुक्षार - सचित्त ऊसर-क्षार का उपयोग करना।
४४. आमक काललवण - सचित्त काले नमक का उपयोग करना।
४५. धूपन - वस्त्रादि को धूप आदि से सुवासित करना।

४६. वमन - सायास वमन करना।
४७. वस्तिकर्म - मलादि की शुद्धि के लिये वस्तिकर्म करना।
४८. विरेचन - जुलाब लेना।
४९. अंजन - आँखों में अंजन लगाना।
५०. दंतवन - दाँत साफ करने के लिये दंतौन का प्रयोग करना।
५१. गात्राभ्यंग - औषधियुक्त तैलों से शरीर की मालिश करना या करवाना। तथा
५२. विभूषण - गहनों से शरीर को विभूषित करना।

इन अनाचीर्ण क्रियाओं की सूचि से स्पष्ट हो जाता है कि जैन-श्रमणचर्या का उद्देश्य आध्यात्मिक सौन्दर्यीकरण है न कि इसके शारीरिक आवरण का। श्रमणों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे भोजनप्रिय, सुविधाभोगी, फेशनपरस्त बनने की अपेक्षा सादगीपूर्ण व आध्यात्मिकता से परिपूर्ण जीवनयापन करें।

परीषह-सहन -

जीवन के विकास में अनुकूलताओं तथा प्रतिकूलताओं का बराबर योगदान होता है। श्रमण-जीवन कोई फूलों की सेज नहीं है। यह तो भौतिक सुखों को तिलांजलि देकर आध्यात्मिक साधना अपनाने का मार्ग है। आत्मिक पूर्णता की गवेषणा के मार्ग में कई कष्ट भी आते हैं जो भिक्षु के धैर्य की परीक्षा लेते हैं। साधक के लिये वे बाधक नहीं होते हैं बल्कि उन्हें धैर्यपूर्वक सहन करके ही वह आत्मोन्नति के मार्ग पर प्रगति करके मुक्ति पा जाता है। जो इन कष्टों से घबरा जाता है वह तो मार्गच्युत हो जाता है। इस प्रकार ये परीषह श्रमण-जीवन की कसौटी हैं। समवायांग के बावीसवें समवाय में तथा उत्तराध्ययनसूत्र के दूसरे अध्याय में श्रमण-जीवन के बावीस परीषहों की चर्चा की गई है जो निम्नानुसार हैं: -

१. क्षुधा-परीषह - निर्दोष आहार न मिलने पर भिक्षु सदोष आहार ग्रहण न करे तथा मन में दीनता भी न लावे।

२. पिपासा-परीषह - प्यास से पीड़ित होने पर भी भिक्षु सचित्त जल का सेवन न करके प्रासुक जल की गवेषणा करे तथा न मिलने पर अदीन भाव से प्यास के कष्ट को सहन करे।
३. शीत-परीषह - शीत लगने पर भी भिक्षु मर्यादा से अधिक वस्त्र ग्रहण न करे, अग्नि का सेवन न करे व श्रमणचर्या में प्रमाद न करे।
४. उष्ण परीषह - गर्मी लगने पर भी भिक्षु स्नान, पंखे आदि का सेवन न करे।
५. दंश-मशक परीषह - मच्छर, कीट आदि के काटने पर भी भिक्षु उन्हें न मारे, न हटाए, न ही उनके प्रति द्वेष करे।
६. अचेल परीषह - अचेलकता से होने वाले संत्रास तथा वस्त्रों के जीर्ण हो जाने पर अचेलकता के भय से भिक्षु मुक्त रहे।
७. अरति-परीषह - श्रमण-जीवन के कष्टों से घबराकर भिक्षु संयम के प्रति अरुचि के भाव मन में न लाए।
८. स्त्री-परीषह - श्रमण स्त्रियों को बंधन स्वरूप मानता हुवा उनके प्रति उदासीन रहे।
९. चर्या-परीषह - विचरणशील श्रमण-जीवन में विहारचर्या से होने वाले कष्टों को भिक्षु धैर्यपूर्वक सहन करे।
१०. निषद्या-परीषह - एकांतस्थान में साधनारत भिक्षु पर कोई उपसर्ग आजाए तो उसे धैर्यपूर्वक सहन करे, आसन न छोड़े।
११. शय्या-परीषह - भिक्षु साधना के लिये उपयुक्त अच्छी या बुरी, सुविधाजनक या कष्टकर जैसी भी एकांत वसति मिले उसमें समभावपूर्वक साधना करे।
१२. आक्रोश-परीषह - भिक्षु गाली-गलौज व कटुवचनों को सुन कर उनकी उपेक्षा करके मौन धारण करे, कषायग्रस्त न हो।
१३. वध-परीषह - मारे-पीटे जाने पर भी भिक्षु क्रोध न करे, मन में दुर्भावना भी न लाए।
१४. याचना-परीषह - भिक्षु ऐसे दीन विचार मन में न लाए कि

- भिक्षाचर्या दुष्कर है, हर चीज के लिये दूसरों के सामने हाथ फेलाना अपमानजनक है, इससे तो गृहस्थवास ही अच्छा है।
१५. अलाभ-परीषह - आहार कम मिले या न भी मिले तो भिक्षु अनुताप न करे।
१६. रोग-परीषह - रोग, व्याधि उत्पन्न होने पर चिकित्सा की इच्छा किये बिना उसे समभाव से सहन करे।
१७. तृण-स्पर्श-परीषह - अचेलकता में तृण-संस्तारक पर सोना कष्टकर होने पर भी भिक्षु वस्त्र धारण की इच्छा न करे।
१८. जल्ल-मल-परीषह - ग्रीष्म ऋतु में पसीने व धूल से शरीर पर जमे मैल को भिक्षु बिना धोए धैर्यपूर्वक सहन करे।
१९. सत्कार-पुरस्कार-परीषह - भिक्षु अन्य के स्वागत सत्कार की स्पृहा तथा सम्मान मिलने पर अभिमान न करे।
२०. प्रज्ञा-परीषह - प्रज्ञावान भिक्षु दूसरों के द्वारा पुनः-पुनः प्रश्न पूछे जाने से अनुत्तप्त होकर यह न सोचे कि इससे तो मैं अज्ञानी होता तो सुखी होता।
२१. अज्ञान-परीषह - भिक्षु अज्ञान को अपने ही कर्म का फल जान कर मन में गलानि न लाए, स्वाध्याय में रत रहे।
२२. दर्शन-परीषह - भिक्षु श्रामण्य-साधना के फल में विलंब से संतप्त होकर जिन-वचनों पर अश्रद्धा न करे।

श्रमण-चारित्र के भेद -

शास्त्रों में पाँच प्रकार के श्रमण-चारित्रों का उल्लेख मिलता है। इनमें सर्वप्रथम व सरलतम चारित्र होता है सामायिक-चारित्र जिसे हम वर्तमान में छोटी दीक्षा भी कहते हैं तथा सर्वश्रेष्ठ व कठिनतम चारित्र यथाख्यात-चारित्र होता है जिसका पालन केवल केवली ही कर सकते हैं। इन दो कि बीच में जो तीन चारित्र आते हैं वे हैं - छेदोपस्थापनीय-चारित्र जिसे हम बड़ी दीक्षा कहते हैं, परिहारविशुद्धि-चारित्र तथा सूक्ष्मसंपराय-चारित्र। इनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है:-

१. सामायिक-चारित्र - इस चारित्र को ग्रहण करने वाला साधक अपने जीवन में आजीवन सर्व सावध कर्मों, इन्द्रिय भोगों तथा परिग्रह का त्याग करके समभाव की आराधना करता है।
२. छेदोपस्थापनीय-चारित्र - सामायिक-चारित्र के धारक साधक को इस चरित्र में स्थापित करने के लिये पाँच महाव्रतों का स्वरूप समझाकर उनको ग्रहण करवाया जाता है। इसे छेद-उपस्थापनीय चारित्र कहा जाता है क्योंकि श्रमण महाव्रतों में दोष लगने पर, दोष की गंभीरता के अनुसार, उनके प्रायश्चित्त स्वरूप उन्हें दीक्षा-छेद, श्रमणसंघ से निष्कासन आदि दंड दिये जा सकते हैं तथा प्रायश्चित्त पूरा होने पर उन्हें पुनर्स्थापित भी किया जा सकता है।
३. परिहारविशुद्धि-चारित्र - यह चारित्र का अधिक परिष्कृत व तदनुरूप अधिक कठोर रूप है जिसमें दोषों तथा कर्म-बंध की संभावनाएँ क्षीण होती हैं।
४. सूक्ष्मसंपराय-चारित्र - इस चारित्र की आराधना दसवें गुणस्थान में स्थित उन्हीं समर्थ साधकों द्वारा की जा सकती है जिन्होंने सूक्ष्म लोभ-दलिकों के अतिरिक्त समस्त कषायों को विजित कर लिया हो।
५. यथाख्यात-चारित्र - यह सर्वशुद्ध, सर्वथा निर्दोष श्रमण-चारित्र होता है जिसमें किसी भी प्रकार की खलना नहीं होती है। इस चारित्र की आराधना केवल सयोगी केवली व अयोगी केवली आत्माएँ ही कर सकती हैं।

उत्सर्ग व अपवाद -

उपरोक्त पाँच प्रकार के चारित्रों में से वर्तमान काल में केवल प्रथम दो प्रकार के चारित्रों की ही पालना हो रही है। अन्य तीन प्रकार के चारित्रों की अननुपालना के पीछे कारण यह है कि वर्तमान काल के श्रमण-श्रमणियों का शरीर-संहनन (bodily constitution) इतना शक्तिशाली नहीं होता है कि वह इन चारित्रों की आराधना में आने वाली कठिनाइयों

को सहन कर सके।

जिनवर-प्रणीत श्रमणाचार में जो संयम-नियम विधित हैं वे उत्सर्ग-मार्ग के अंग हैं। उन संयम-नियमों से बाहर श्रमण जो भी करते हैं वे सब अपवाद हैं। वर्तमान काल में जो उच्चतर चारित्र है वह छेद व उपस्थापन स्वरूप (छेदोपस्थापनीय) चारित्र है। इसके नाम से ही स्पष्ट है कि वर्तमान काल के श्रमणों के बारे में यह मान लिया गया था कि उनके द्वारा जिनोक्त आचार में स्खलन होंगे तथा उन स्खलनों के प्रायश्चित्त व दंड स्वरूप (तपश्चरण के अतिरिक्त) दीक्षा-छेद, निष्कासन व उपस्थापन के विधान किये गए। यदि किन्हीं अपवादों की संभावना नहीं होती तो छेद-उपस्थापन की आवश्यकता ही महसूस नहीं की जाती।

तथापि वर्तमानकाल के श्रमणाचार में भी अपवादों की कुछ सीमाएँ हैं जिनके अंदर होने वाली स्खलनाओं के लिये प्रायश्चित्त का विधान है तथा उन सीमाओं के बाहर की स्खलनाओं को अनाचार की संज्ञा देते हुवे उनके लिये श्रमणसंघ से निष्कासन तथा इस बात की आश्वस्तता होने पर ही कि निष्कासित व्यक्ति उन अनाचारों को नहीं दुहराएगा, पुनर्दीक्षा के प्रावधान किये गए।

समाधिमरण -

समाधिमरण मरने की वह कला है जिसमें साधक की मृत्यु तो होती है किंतु महाभयकारी मृत्यु के भय पर विजय पा ली जाती है। जब आत्मा और शरीर के भेद-विज्ञान का ज्ञाता साधक मृत्यु को आसन्न जान लेता है तो इसे केवल शरीर का धर्म मान कर उसके प्रति उदासीन हो जाता है। वह मृत्यु के मुख में भी सामाधिपूर्वक मृत्युंजय होकर प्रवेश करता है। स्पष्ट है कि ऐसी मानसिक अवस्था बिना किसी तैयारी के प्राप्त नहीं होती है तथा समाधिमरण केवल उन्हीं को प्राप्त होता है जो अपने जीवनकाल में

इसके लिये तैयारी करते हैं। अतः समाधिमरण के दो स्पष्ट भाग हैं - प्रथम भाग में साधक अपने आप को समाधिमरण के लिये मानसिक व शारीरिक रूप से तैयार करता है। इस भाग को *सल्लेखना* कहा जाता है। इसके दूसरे भाग, *संधारा* में साधक समाधिपूर्वक मृत्यु का वरण करता है जो ही वस्तुतः समाधिमरण है।

सल्लेखना -

सल्लेखना वह प्रारंभिक तपश्चरण है जो साधक अपने शरीर को समाधिपूर्वक मृत्यु के आलिंगन के लिये तैयार करने के लिये करता है। सामान्यतया इस प्रारंभिक तप की न्यूनतम अवधि छः मास व अधिकतम अवधि बारह वर्ष मानी गई है किंतु अकस्मात् की दशा में स्वयं को मानसिक रूप से तैयार करके मृत्यु के समय समाधि धारण की जा सकती है जो कि समाधिमरण का वास्तविक सार है।

संस्तारक -

सल्लेखना के पश्चात् जब साधक को यह लगने लगता है कि शारीरिक अशक्तता, रोग, आतंक या व्याधि के कारण श्रमणचर्या का भी सम्यक् रूपेण पालन नहीं कर पाने से उसका जीवन आध्यात्मिक दृष्टि से उपयोगी नहीं रह गया है, उससे धर्म-साधना के बजाय कर्म-बंध की संभावना ही ज्यादा है तो वह आमरण अनशन धारण कर लेता है तथा वहीं से समाधिमरण के दूसरे भाग, संस्तारक (संधारा), की आराधना प्रारंभ होती है। समाधिपूर्ण मानस के साथ संस्तारक की साधना के तीन आयाम हैं, इसकी आराधना भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनीमरण अथवा पादपोषगमन इन तीन स्तरों पर की जा सकती है: -

9. भक्तप्रत्याख्यान - जीवनपर्यंत के लिये चारों प्रकार के आहार - अशन, पान, खाद्य व स्वाद्य - का त्याग कर आमरण अनशन व्रत को धारण कर लेना भक्तप्रत्याख्यान है। यह संस्तारक का सरलतम रूप है।

२. इंगिनीमरण - इंगिनीमरण संस्तारक-साधना का भक्तप्रत्याख्यान से कुछ कठिन स्वरूप है। इसमें साधक पूर्वनिश्चित क्षेत्र में ही गति कर सकता है, उससे बाहर नहीं। इसमें साधक के द्वारा स्वसेवा व परसेवा लेना भी कल्प्य होता है।
३. पादपोषगमन - यह संस्तारक-साधना का कठिनतम स्वरूप है जिसमें साधक अपने संस्तारक पर कटे वृक्ष की भाँति बिना हिले-डुले लेटा रहता है।

सल्लेखना-संधारा के अतिचार -

वे सब भावनाएँ जो समाधिमरण के साधक की समाधि को विचलित कर सकती हैं, इस व्रत के अतिचार हैं। वे निम्नानुसार हैं: -

१. इहलोकाशंसाप्रयोग - समाधिमरण की साधना के फलस्वरूप इस लोक में (मनुष्य के रूप में पुनर्जन्म में) धन-संपत्ति व शक्तिसंपन्नता प्राप्त करने की अभिलाषा करना।
२. परलोकाशंसाप्रयोग - समाधिमरण की साधना के फलस्वरूप परलोक में (मनुष्येत्तर पुनर्जन्म में) देवता के रूप में जन्म व ऋद्धि संपन्नता प्राप्त करने की अभिलाषा करना।
३. जीविताशंसाप्रयोग - समाधिमरण की साधना के फलस्वरूप मिल रही ख्याति व सम्मान के कारण लंबे समय तक जीवित रहने की अभिलाषा करना जीविताशंसाप्रयोग है।
४. मरणाशंसाप्रयोग - समाधिमरण की साधना के कारण हो रहे कष्टों से त्रस्त होकर जल्दी मरने की अभिलाषा करना।
५. कामभोगाशंसाप्रयोग - समाधिमरण की साधना के फलस्वरूप मनुष्य व देवताओं को प्राप्त काम-भोगों की अभिलाषा करना।

उपसंहार -

शोकाकुल संसार से मुक्ति पाकर अनंतानंद के अभिलाषी के लिये सम्यक्चारित्र की आराधना अपरिहार्य है। अध्याय के इस भाग में

२६८ : जैन-धर्म : जीवन-धर्म

श्रमणाचार के विभिन्न पक्षों को पर्याप्त विस्तार से वर्णित करने का प्रयास किया गया ताकि इसकी गरिमा का सम्यक् प्रकाशन हो सके।

तथापि चारित्र तो आचरण का विषय है अतः इसकी महिमा का पूर्ण प्रकाशन तो इसके आचरण से ही हो सकता है, इसके बारे में पढ़ने से तो उसका आभास मात्र हो सकता है।

* * *

अध्याय-१४ : श्रावकाचार

गृहस्थ-धर्म (सागार चारित्र) -

गृहस्थ का सम्यक्चारित्र ऐसा होना चाहिये जो उसे अपने सामान्य गृहस्थ-धर्म का पालन करते हुवे भी उचित धर्म-मार्ग पर रखे। इसमें सांसारिकता व आध्यात्मिकता का ऐसा सुंदर सम्मिश्रण होना चाहिये कि एक की साधना से दूसरे की हानि न हो। साथ ही यह भी ध्यान रहे कि समस्त धर्माचरण का अंतिम उद्देश्य तो आध्यात्मिक उत्थान ही है। तदनुसार जैन उपासकों (श्रावकों) के आचार के सरलतम रूप 'मार्गानुसारिता' से लगाकर कठिनतम रूप 'श्रावक-प्रतिमाओं' की आराधना पर्यंत कई अंग हैं जिनका वर्णन इस अध्याय में किया जा रहा है।

मार्गानुसारिता (उचित मार्ग पर) -

किसी भी सम्यग्दृष्टि संपन्न व्यक्ति से, जो वस्तुओं तथा स्थितियों को उनके सही परिप्रेक्ष्य में देख-समझ सकता है, कम से कम यह अपेक्षा तो की ही जा सकती है कि वह नैतिकता के सर्वमान्य सिद्धांतों के अनुरूप जीवनयापन करे। ये नैतिक मूल्य, जिनके अनुसार कोई भी व्यक्ति बिना दूसरों का अहित किये संपूर्ण जीवन जी सकता है, किसी धर्मविशेष की थाति नहीं अपितु सार्वभौम हैं। ऐसा जीवन जीने वाला व्यक्ति धर्म के उचित मार्ग का पथिक है ऐसा कहा जा सकता है। जैन शब्दावलि में उसे ही मार्गानुसारी कहा गया है जिसके ३५ लक्षण निम्नानुसार हैं: -

१. न्याययुक्त जीविकोपार्जन,
२. शिष्टाचारपूर्वक आचरण करने वाला तथा शिष्टाचार-प्रशंसक,
३. समान कुल-शील समर्थक - शादी-ब्याह आदि सामाजिक संबंधों में समानता का व्यवहार करने वाला,
४. पापभीरुता - पापक कार्यों से डरकर दूर रहने वाला,

५. प्रसिद्ध देशाचार पालक - परंपरागत क्षेत्रीय व राष्ट्रीय रीति-रिवाजों का पालन करने वाला,
६. अवर्णवादत्यागी - परनिंदा नहीं करने वाला,
७. गृह-व्यवस्थापक - घर-गृहस्थी की सुरक्षा-संरक्षा सुनिश्चित करने वाला,
८. सत्संग प्रिय - अच्छी सोहबत रखने वाला,
९. मातृ-पितृ सेवक - माता-पिता की सेवा करने वाला,
१०. शांतिप्रिय - उपद्रवयुक्त जगह का त्याग कर शांत स्थान में निवास करने वाला,
११. निन्दनीय-कार्य त्यागी - नीच, अधम, हेय कृत्यों को नहीं करने वाला,
१२. ऋणमुक्त - आय-व्यय के समन्वय द्वारा ऋणमुक्त रहने वाला,
१३. सुवेशी - देश-काल के रिवाज के अनुसार वेशभूषा वाला,
१४. बुद्धिमान - निम्न आठ उपायों बुद्धि-विकास करने वाला: -
 - क. श्रुतेच्छा - शास्त्र-श्रवण की अभिलाषा,
 - ख. श्रवण - शास्त्र-श्रवण,
 - ग. ग्रहण - अर्थ-ग्रहण,
 - घ. धारण - अर्थ को स्मृति में संजोना,
 - ङ. ऊह - तर्क की कसौटी पर कसना,
 - च. अपोह - युक्ति से असंगति का निवारण,
 - छ. अर्थविज्ञान - ऊहापोह द्वारा संशय का निवारण,
 - ज. तत्त्वज्ञान - निश्चित ज्ञान.
१५. प्रतिदिन धर्म-श्रवण,
१६. भोजनानुशासन - अजीर्ण आदि उदर-व्याधि में भोजन-त्याग,
१७. भोजन-विवेक - यथासमय यथायोग्य भोजन करने वाला,
१८. अबाधित त्रिवर्ग-साधन - अर्थ और काम का धर्मयुक्त साधन करने वाला,
१९. दानशीलता - साधुओं व दीन-अनाथों को दान देने वाला,

२०. दुराग्रह रहितता,
२१. गुण पक्षपात - गुणियों, सज्जनों, सत्य आदि का पक्ष लेने वाला,
२२. निषिद्ध देश अगामिता - जहाँ धर्म की रक्षा न हो सके ऐसे क्षेत्र में नहीं जाने वाला,
२३. शक्त्यानुसार प्रवृत्ति करने वाला,
२४. वृत्तस्थ ज्ञानवृद्धों का समादर करने वाला,
२५. पोष्य-पोषक - अपने आश्रितों का सम्यक् पालन करने वाला,
२६. दीर्घदर्शी - दूरदर्शितापूर्वक निर्णय करने वाला,
२७. विशेषज्ञ - अपने विषय का निष्णात ज्ञाता,
२८. कृतज्ञ - उपकारी के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करने वाला,
२९. लोकवल्लभ - विनय, सेवा, सहायता आदि गुणों से लोकप्रिय,
३०. लज्जाशील - हेय कर्मों के प्रति लज्जालु होने वाला,
३१. सदय - दीन-दुःखियों के प्रति दयालुता का भाव रखकर उनके दुःख दूर करने वाला,
३२. सौम्य - सदैव शांत व प्रसन्न रहने वाला,
३३. परोपकारी - दूसरों की भलाई के लिये तत्पर रहने वाला,
३४. कषायजयी - क्रोध, मान, माया व लोभ को यथासंभव नियंत्रित करने वाला, तथा
३५. इंद्रियजयी - इंद्रियों को अनुशासित रखने वाला.

निष्ठावान गृहस्थ -

किसी भी व्यक्ति को सद्धर्म के प्रति निष्ठावान बनाने के लिये प्राथमिक आवश्यकता सम्यग्दर्शन की होती है जो उसे वस्तुओं व विचारों को उनके सही परिप्रेक्ष्य में देखने-समझने की दृष्टि प्रदान करता है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति मोहनीयकर्म के उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय के द्वारा ही की जा सकती है। जो सद्गृहस्थ मोह-मिथ्यात्व से ऊपर उठकर सम्यग्दृष्टि को प्राप्त कर लेता है वह आस्थावान या निष्ठावान गृहस्थ कहलाता है। उसे दर्शन-श्रावक भी कहते हैं। जैन निष्ठावानुसार आस्था,

श्रद्धा या निष्ठा के सूचक लक्षण निम्नानुसार है: -

१. तीर्थंकर भगवंतो द्वारा प्रतिपादित धर्म में दृढ़ विश्वास,
२. यह विश्वास रखना कि जिनेश्वर भगवंतो के उपदेश सत्य, सर्वोत्तम, संपूर्ण, उचित, शुद्ध, शल्यविमोचक व अनंतानंद प्रदाता निर्वाण-मार्ग है।
३. जिनेश्वर भगवंतो के उपदेशों की सत्यता में शंका नहीं होना,
४. संपूर्ण श्रद्धापूर्वक जिनेश्वर भगवंतो को अपना त्राता; निर्ग्रन्थ श्रमणों को अपना मार्गदर्शक तथा तीर्थंकर प्रणीत धर्म को ही मुक्ति का मार्ग स्वीकार करना,
५. अपने आत्म-कल्याण के लिये अरिहंतों, सिद्धों, साधुओं तथा केवली प्ररूपित धर्म की शरण ग्रहण करना,
६. षड्द्रव्यों, सप्त पदार्थों, नव-तत्त्वों तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य रूपी मोक्ष-मार्ग में संपूर्ण श्रद्धा रखना।

निष्ठावान गृहस्थ का आस्तिक्य -

आस्तिक्य की सामान्यतया मान्य सर्वशक्तिमान 'कर्ता-भर्ता-हर्ता' ईश्वर में आस्था की परिभाषा के अननुरूप जैन-दर्शन मान्य परिभाषा थोड़ी भिन्न व अधिक व्यापक है। जैन मान्यतानुसार कोई भी व्यक्ति जो आत्मा की सत्ता, इसकी सनातनता, इसकी कर्म-द्रव्य के साथ संबद्ध होने की क्षमता, कर्म-बंधनों के अनुसार फल की प्राप्ति, कर्म-बंधनों से मुक्ति तथा मुक्ति के उपायों में विश्वास रखता है वह आस्तिक है।

आस्तिक्य के सूचक लक्षण निम्नानुसार हैं: -

१. सम्यग्दृष्टि - तत्त्वार्थों का यथार्थ ज्ञान व उनका निरूपण करने वाला,
२. नित्यवादी - आत्मा के सनातन स्वरूप को मानने वाला,
३. पुनर्जन्म में विश्वास करने वाला,
४. जीव-अजीव, आस्रव-संवर, पुण्य-पाप, बंध-निर्जरा व मोक्ष को

मानने वाला,

५. पाप को नरक-गति दायक व पुण्य को स्वर्ग प्रदायक मानने वाला,

६. माता-पिता का सम्मान करने वाला,

७. अरिहंत, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि शलाका पुरुषों को मानने तथा उनका सम्मान करने वाला,

८. जो है उसको है व जो नहीं है उसको नहीं मानने वाला।

इस प्रकार जीवादि तत्त्वों, अरिहंतों की वीतरागता, सर्वज्ञ-सर्वदर्शिता आदि को मानने के लक्षणों वाला व्यक्ति आस्तिक व जो इन लक्षणों से रहित है उसको नास्तिक माना जाता है।

श्रद्धालु गृहस्थ -

एक श्रद्धालु गृहस्थ (श्रावक) की पहचान यह है कि वह श्रद्धास्पद अरिहंतों तथा श्रमणों (देव-गुरु) के प्रति श्रद्धा व सम्मान के भाव रखे तथा मन-वचन-काया से उस भाव को प्रदर्शित भी करे। श्रद्धालु श्रावक अपनी श्रद्धा को निम्नानुसार प्रकट कर सकता है: -

१. मन से - देव-गुरु के प्रति श्रद्धा, सम्मान, आदर, प्रशंसा, प्रमोद आदि के भाव रखना,
२. वचन से - उनकी स्तुति करके तथा उनके उपदेशों को स्वीकार-प्रसार करके, तथा
३. तन से - उनको करबद्ध नत-मस्तक होकर।

श्रावक के व्रत व उनके अतिचार -

श्रावकाचार कुछ व्रतों तथा उनके समर्थक नियमों-विनियमों से संचालित होता है। गृहस्थ उपासक के व्रत तीन वर्गों में विभाजित किये गए हैं - १. पौंच अणुव्रत, २. तीन गुणव्रत व ३. चार शिक्षाव्रत। इन्हें श्रावक के बारह व्रत कहा जाता है। इन्हीं की पूरक श्रावक की ग्यारह उच्च साधनाएँ हैं जो श्रावक-प्रतिमाएँ कहलाती हैं।

कुछ ऐसी गतिविधियाँ भी होती हैं जिनसे इन व्रतों की अननुपालना होती है तथा जो इन व्रतों की प्रभावकता को कम करती हैं। व्रतों की अननुपालना के चार स्तर हैं - १. व्रतों में दोष लगाने के बारे में विचार करना अतिक्रम कहलाता है, २. ऐसे विचारों को कार्यान्वित करने के लिये तैयारी करना व्यतिक्रम है, ३. ऐसा करने के संसाधन जुटाना अतिचार है तथा ४. विचार के अनुसार व्रत भंग कर देना अनाचार कहलाता है। अतिचार तक के दोषों का प्रायश्चित्तपूर्वक परिहार किया जा सकता है।

श्रावक के बारह व्रत तथा प्रत्येक के अतिचार निम्नानुसार हैं: -

पाँच अणुव्रत -

ये व्रत श्रावक के आधारभूत व्रत हैं जो जैन-आचार के अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह से संबद्ध हैं। हम देख सकते हैं कि ये व्रत भी श्रमणाचार के पाँच महाव्रतों के अनुरूप ही हैं, अंतर केवल इतना है कि महाव्रतों की तुलना में इन अणुव्रतों की कठोरता बहुत कम है।

१. स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत - किसी भी त्रस जीव की संकल्पपूर्वक हिंसा का त्याग करना ही स्थूल-प्राणातिपात विरमण रूपी पहला अणुव्रत है जिसे हम स्थूल अहिंसा व्रत भी कह सकते हैं।

सुस्पष्ट कारणों से श्रावकों की अहिंसा का पालन उतना कठोर नहीं हो सकता है जितना कि श्रमणों का। हिंसा को हम निम्न चार वर्गों में रख सकते हैं तथा यह देख सकते हैं कि सम्यक् सावधानी से अनावश्यक हिंसा से बचा जा सकता है: -

क. आरंभी हिंसा - जो हिंसा गृहस्थ-धर्म के निर्वहनार्थ खाना पकाने, स्नान, साफ-सफाई, गृह-निर्माण, कुवे खुदवाने सिंचन आदि में आवश्यक रूप से होती है, वह आरंभी हिंसा कहलाती

है तथा उससे बचना गृहस्थ के लिये संभव नहीं होता है। तथापि इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिये कि इन कार्यों में प्रमादवश आवश्यकता से अधिक हिंसा न हो।

ख. उद्योगी हिंसा - आजीविका के लिये उद्योग-धंधे लगाने, कृषि-कर्म आदि में आवश्यक रूप से होने वाली हिंसा उद्योगी हिंसा है। विवेकपूर्वक किये गए कार्य में हुई हिंसा क्षम्य है।

ग. संकल्पी हिंसा - किसी भी जीव की संकल्पपूर्वक हिंसा करना संकल्पी हिंसा है। यह भी दो प्रकार की हो सकती है -

(i) अपराधी हिंसा - जो हिंसा अकारण ही अपराध या हिंसकवृत्ति की तुष्टि के लिये की जाती है वह अपराधी हिंसा है। शिकार, पशु-पक्षी लड़ाना, आदि इसके उदाहरण हैं। कहना नहीं होगा कि श्रावक के लिये इस प्रकार की अपराधी संकल्पजा हिंसा का सर्वथा त्याग होता है।

(ii) आत्मरक्षार्थ हिंसा - जो हिंसा आक्रमणकारी, अपहर्ता, चोर, लंपट व्यक्ति या हिंस्र-पशु से अपनी, अपने देश, अपनी प्रतिष्ठा, अपने स्वाभिमान व अपने आश्रितों की तथा संपत्ति की रक्षार्थ की जाती है वह इस श्रेणि में आती है तथा श्रावक के लिये इस प्रकार की हिंसा क्षम्य होती है किंतु इस बात का सतत ध्यान रखना आवश्यक है कि अपराधी को भी आवेश में आकर नहीं अपितु न्यायोचित दंड दिया जाय तथा आक्रमणकारी का प्रतिकार भी न्यूनतम बल-प्रयोग द्वारा किया जाय, चींटी को पंसेरी से न मारा जाय।

घ. सापेक्ष हिंसा - कई बार गृहस्थ के लिये नहीं चाहते हुवे भी निरपराध जीवों की हिंसा से विमुख होना कठिन होता है। उदाहरण के लिये धान्य में पड़ने वाले कीड़े तथा पालतू जानवरों को त्रस्त करने वाले परजीवी चिचड़े आदि, जूँ, लीख, खटमल आदि से त्राण पाने के लिये उनको हताहत करना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार की हिंसा सकारण या सापेक्ष हिंसा है जो

गृहस्थ के लिये अपरिहार्य होते हुवे भी विवेक की अपेक्षा रखती है। इन जीवों को कम से कम त्रास पहुँचे तथा उनका विसर्जन ऐसे स्थानों में किया जाए जहाँ उनके जीवन की क्षति न हो तो वह सापेक्ष हिंसा है। अन्यथा अकारण या अविवेकपूर्ण कृत्यों से हुई हिंसा निरपेक्ष हिंसा की श्रेणि में आकर श्रावक के स्थूल-अहिंसा अणुव्रत को मलिन करने वाली होती है।

स्थूल-अहिंसा अणुव्रत के अतिचार - इस अणुव्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार हैं -

१. बंध - बंदियों को तथा जानवरों को क्रूरतापूर्वक गाढ़ तथा दृढ़ बंधनों में बांधना तथा पाक्षियों को पिंजड़ों में बंद करना आदि बंध अतिचार है।
२. वध - किसी भी व्यक्ति अथवा जानवर को मारना-पीटना वध है। पूर्व-वर्णित के अनुसार अकारण वध व्रत-अतिचार है।
३. छविच्छेद - किसी भी प्राणी को अकारण क्षतविक्षत करना, अंग-छेदन करना इस व्रत का छविच्छेद अतिचार है।
४. अतिभारोपण - भारवाहक व्यक्तियों व पशुओं पर तथा पशुओं द्वारा खींचे जाने वाले वाहनों, छकड़ों आदि पर क्षमता से अधिक भार लादना स्थूल-अहिंसाव्रत-अतिचार है।
५. भक्तपान विच्छेद - अकारण ही अपने आश्रित व्यक्ति, पालतू पशु-पक्षी या मत्स्य को समय पर यथेष्ट भोजन नहीं देना इस व्रत का अतिचार है।

२. स्थूल-मृषावाद विरमण व्रत - अकारण कषायावेषित होकर दूसरों को हानि पहुँचाने के इरादे से बोला गया ऐसा झूठ जो अपने को तथा दूसरों को अत्यंत व्याघात पहुँचाए स्थूल-मृषावाद है। श्रावकों के इस प्रकार के असत्य भाषण से विरत होना ही स्थूल सत्यपालन रूपी अणुव्रत है। पाँच प्रकार के स्थूल मृषावाद निम्नानुसार हैं: -

- क. कन्यालीक - किसी कन्या के बारे में राग-द्वेष के वशीभूत होकर उसके वैवाहिक संबंधों की संभावनाओं को प्रभावित करने के लिये बोला गया झूठ कन्यालीक है।
- ख. गवालीक - पशुधन के विक्रयादि संभावनाओं को प्रभावित करने के लिये उसके गुण-दोषों के बारे में झूठ बोलना गवालीक है।
- ग. भूम्यालीक - अचल संपत्ति के बारे में ऐसे ही इरादों से झूठ बोलना भूम्यालीक है।
- घ. न्यासापहार - अपने पास धरोहर के रूप में रखी हुई वस्तु को लोभ-लालच के वशीभूत होकर हड़प लेना न्यासापहार है।
- ङ. कूटसाक्ष्य - जानबूझकर किसी को लाभ व किसी को हानि पहुँचाने के विचार से झूठी गवाही देना कूटसाक्ष्य है।

स्थूल सत्य-अणुव्रत के अतिचार -

- १. सहसाभ्याख्यान - किसी पर अविचारित दोषारोपण करना,
- २. रहस्याभ्याख्यान - किसी का भरोसा करके सोंपा गया रहस्य प्रकट करना,
- ३. स्वदारमंत्रभेद - स्वपत्नी/स्वपति द्वारा विश्वासपूर्वक कही गई कोई बात प्रकट कर देना,
- ४. मृषोपदेश - मिथ्या या पापक उपदेश या परामर्श देना जिससे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद व कषाय की वृद्धि हो, तथा
- ५. कूटलेखकरण - किसी को हानि पहुँचाने के इरादे से झूठे दस्तावेज तैयार करवाना।

- ३. स्थूल-अदत्तादान विरमण व्रत - किसी अन्य के स्वामित्व की कोई जीव या अजीव वस्तु स्वामी की अनुमति के बिना ले लेना अदत्तादान है जिसे चोरी भी कहते हैं। किसी तुच्छ वस्तु को बिना किसी बुरे इरादे के अनजाने में ले लिया जाना सूक्ष्म अदत्तादान है जबकि किसी की मूल्यवान वस्तु को इस प्रकार जान-बूझ कर उस वस्तु के स्वामी को

नुकसान पहुँचाने के विचार से ले लेना स्थूल-अदत्तादान है। ऐसे किसी भी कर्म से विरत होना ही इस स्थूल अस्तेय-अणुव्रत का आशय है। पाँच प्रकार के स्थूल-अदत्तादान निम्नानुसार हैं: -

- क. दीवार में सेंध लगाकर चोरी करना,
- ख. किसी से बिना पूछे उसकी गॉठ, थैली या पार्सल आदि खोलकर उसमें से चीजें निकाल लेना,
- ग. ताला खेलकर या तोड़कर चोरी करना,
- घ. दूसरों की असावधानी से गिरी हुई वस्तु को अपनी बताकर ले लेना, तथा
- ङ. मार्ग चलते पथिकों को लूटना।

स्थूल अस्तेय-अणुव्रत के अतिचार -

१. स्तेनाहत - चुराई हुई वस्तु लेना,
२. स्तेन-प्रयोग - चोर को चोरी करने के लिये प्रेरणा और सहायता देना,
३. विरुद्ध राज्यातिक्रम - राज्य द्वारा निषिद्ध व्यापार करना, कर वंचना करना, तस्करी करना, आदि
४. कूट-तुला कूट-मान - खोटी तराजू तथा खोटे बाटों का प्रयोग करके दूसरों को नुकसान पहुँचाना, तथा
५. तत्प्रतिरूपक व्यवहार - अनुचित लाभ कमाने के विचार से नकली माल को असली बता कर बेचना।
४. स्थूल-मैथुन विरमण तथा स्वदार/स्वपति संतोष व्रत - स्व पत्नी या अन्य किसी भी विपरीत लिंगी या नपुंसक लिंगी या पशु के साथ संकल्पपूर्वक अविवेकी मैथुन क्रिया में रत होने का त्याग करना स्थूल-ब्रह्मचर्य अणुव्रत है। स्वपत्नी/स्वपति के साथ मर्यादित मैथुन का सेवन करना स्वदार/स्वपति संतोष व्रत है।

स्थूल ब्रह्मचर्य तथा स्वदार/स्वपति संतोष-अणुव्रत के अतिचार -

१. इत्वरिका परिगृहीतागमन - विवाहिता होने पर भी अल्पवयस्का पत्नी के साथ संभोग करना,
 २. अपरिगृहीतागमन - अविवाहिता वाग्दत्ता अथवा अन्य कुंवारी, विधवा, परित्यक्ता, स्वेच्छाचारिणी, वैश्या आदि के साथ संभोग करना,
 ३. अनंगक्रीड़ा - मैथुन योग्य अंग के अतिरिक्त अन्य अंगों से कामतृप्ति प्राप्त करना,
 ४. पर-विवाहकरण - जिन व्यक्तियों के विवाह का उत्तरदायित्व अपने पर न हो ऐसे व्यक्तियों का विवाह करवाना, तथा
 ५. काम-भोग तीव्राभिलाषा - इंद्रियों के विशेषकर स्पर्शनेन्द्रिय के भोगों में अत्यंत गृद्धिभाव रखना।
५. परिग्रह-परिमाण व्रत - अनावश्यक व अमर्यादित धन-संपदा रखने तथा उसके प्रति आसक्ति का भाव रखने से विरत होना ही स्थूल-अपरिग्रह अणुव्रत है। इस व्रत के दो आयाम हैं - १. द्रव्य-परिग्रह जिसमें व्यक्ति धन-धान्य, भूमि-भवन, दास-पशु आदि संपदा का स्वामी होता है, तथा २. भाव-परिग्रह जिसमें व्यक्ति के पास धन-संपदा हो न हो उसके प्रति आसक्ति व लोभ का भाव उपस्थित रहता है। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि भाव-परिग्रह ही वास्तविक परिग्रह है क्योंकि आसक्ति के अभाव में कितनी भी द्रव्य-संपदा बंधनकारक नहीं होती है। इस अणुव्रत का आशय गृहस्थों द्वारा भी भौतिक द्रव्य-संपदा का परिमाण कर लेना तथा आंतरिक आसक्ति तथा लोभ को विजित कर लेना है।

स्थूल अपरिग्रह-अणुव्रत के अतिचार -

१. क्षेत्र-वास्तु परिमाणातिक्रम - भूमि - खेत, बाग-बगीचे आदि तथा भवनों अर्थात् अचल संपत्ति के निश्चित तथा स्वीकार किये गए परिमाण का अतिक्रमण करके उससे अधिक भूमि व अचल संपत्ति

रखना,

२. हिरण्य-सुवर्ण परिमाणातिक्रम - सोना-चांदी, रुपया-पैसा अर्थात् चल संपत्ति के निश्चित तथा स्वीकार किये गए परिमाण का अतिक्रमण करके उससे अधिक चल संपत्ति रखना,
३. धन-धान्य परिमाणातिक्रम - धन-धान्य के निश्चित तथा स्वीकार किये गए परिमाण का अतिक्रमण करके उससे अधिक रखना,
४. द्विपद-चतुष्पद परिमाणातिक्रम - द्विपद अर्थात् दास-दासियों तथा चतुष्पद अर्थात् गाय-बैल आदि पशुधन के निश्चित तथा स्वीकार किये गए परिमाण का अतिक्रमण करके उससे अधिक रखना, तथा
५. कुप्य परिमाणातिक्रम - उपरोक्त के अतिरिक्त गृहस्थोपयोग में आने वाले अन्य साधनों के निश्चित तथा स्वीकार किये गए परिमाण का अतिक्रमण करके उससे अधिक रखना,

तीन गुणव्रत -

गुणव्रत श्रावक के आधारभूत अणुव्रतों के गुणों को बढ़ाते है। इस दृष्टि से ये अणुव्रतों के पूरक हैं। तीन गुणव्रत निम्नानुसार हैं: -

६. दिशा-परिमाण व्रत - जैसा कि नाम से ही भासित होता है, इस व्रत का उद्देश्य व्रती श्रावक के दसों दिशाओं - चार मुख्य दिशाओं (उत्तर, दक्षिण, पूर्व व पश्चिम) चार अनुदिशाओं (उत्तर-पूर्व, दक्षिण-पूर्व, उत्तर-पश्चिम व दक्षिण-पश्चिम) तथा ऊर्ध्व व अधो दिशाओं - में गमनागमन को सीमित करना है। यह व्रत स्थूल-अहिंसा अणुव्रत का पूरक है क्योंकि जितना कम गमनागमन होगा उतना ही कम सावद्यकर्म होगा। श्रावक स्वेच्छा से अपनी आवश्यकतानुसार दसों दिशाओं में गमनागमन की व्यावहारिक सीमाएँ स्वीकार करता है तथा आजीवन उनका पालन करता है।

दिशा-परिमाणव्रत के अतिचार -

१. ऊर्ध्व-दिशा परिमाणातिक्रम - ऊर्ध्व-दिशा में पर्वतादि तथा वायुयान

आदि के द्वारा निश्चित तथा स्वीकार किये गए परिमाण का अतिक्रमण करके उससे अधिक ऊपर जाना,

२. अधो-दिशा परिमाणातिक्रम - अधो-दिशा में तलधर, कूप, खान, सुरंग आदि के निश्चित तथा स्वीकार किये गए परिमाण का अतिक्रमण करके उससे अधिक नीचे जाना,
३. तिर्यग्दिशा परिमाणातिक्रम - पूर्वादि आठ तिर्यग्दिशाओं में जाने के निश्चित तथा स्वीकार किये गए परिमाण का अतिक्रमण करके उससे अधिक दूर जाना,
४. क्षेत्रवृद्धि - किसी दिशा विशेष में अधिक दूर काम पड़ने पर दूसरी दिशा के परिमाण को कम करके उस दिशा का परिमाण बढ़ा लेना अतः निश्चित तथा उस दिशा-विशेष के स्वीकार किये गए क्षेत्र के परिमाण का अतिक्रमण करके उससे अधिक दूर जाना, तथा
५. स्मृतिभ्रंश - दसों दिशाओं में गमनागमन के निश्चित तथा स्वीकार किये गए परिमाण को भूलना,

७. उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत - श्रावक का सातवों तथा दूसरा गुणव्रत उसके दैनंदिन काम में आने वाली वस्तुओं का परिमाण करता है। उपभोग की वस्तुओं से तात्पर्य उन वस्तुओं से हैं जो केवल एक बार ही काम में आती हैं जैसे कि भोजन-सामग्री, पानी आदि तथा परिभोग की वस्तुओं से तात्पर्य उन वस्तुओं से है जो बार-बार काम में आती हैं जैसे कि घरबार, वस्त्राभूषण, मेज-कुर्सी, आदि। उपासकदशांगसूत्र तथा श्रावक प्रतिक्रमणसूत्र में भोजन व उपयोग की तौलिया, दतौन, फल, उबटन, वस्त्र, वाहन, आदि छब्बीस वस्तुओं का उल्लेख किया गया है जिनका परिमाण करने की श्रावकों को प्रेरणा दी गई है। उनमें व्यक्ति की तात्कालीन दैनंदिन आवश्यकताओं की लगभग सभी वस्तुओं का समावेश हुवा है।

उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत के अतिचार - इस व्रत के अतिचार गृहस्थ

की गतिविधियों के दो क्षेत्रों से संबंधित हैं - १. उसके खानपान व रहन-सहन से संबंधित तथा २. उसके कार्यक्षेत्र से संबंधित। प्रथम भाग के अतिचार उसके खाद्यसामग्री की सीमाओं के उल्लंघन से संबंधित हैं तथा दूसरे भाग के अतिचार उसके आजीविका के साधन - उद्योग-धंधों से संबंधित हैं।

प्रथम भाग के अतिचार निम्नांकित हैं: -

१. सचित्ताहार - त्यागी हुई सचित्त वस्तु का भूलवश अथवा प्रमाण से अधिक प्रयोग करना,
२. सचित्त प्रतिबद्धाहार - सचित्त वस्तु से संलग्न खाद्य पदार्थ जैसे वृक्ष पर लगा फल या गोंद, आदि प्रयोग करना,
३. अपक्व औषधि भक्षण - पकाकर खाई जाने वाली वस्तुओं को कच्चा खाना। इससे भी सचित्त-भक्षण का दोष लगता है क्योंकि अपक्वात्र शस्त्र-परिणत न होने से सचित्त होता है।
४. दुष्पक्वौषधि भक्षण - पकाकर खाई जाने वाली वस्तुओं को अधपका खाना। इससे भी सचित्त-भक्षण का दोष लगता है, तथा
५. तुच्छौषधि भक्षण - ऐसी अल्प सार वाली वस्तुओं को खाना जिनमें भक्ष्य भाग अल्प हो तथा फेंकने योग्य भाग अधिक हो।

इस व्रत के अतिचारों के दूसरे भाग में गृहस्थ उपासक के आजीविकोपार्जन से संबंधित पंद्रह महासावधकारी उद्योग-धंधे निषिद्ध किये गए हैं जिन्हें पंद्रह-कर्मादान कहा जाता है -

१. अंगार-कर्म - अपनी आजीविका ऐसे उद्योग से अर्जित करना जिन्हें अग्नि प्रज्वलित किये बिना संचालित करना संभव न हो, जैसे कोयला बनाना, ईंटों का भट्टा लगाना, लुहारी का काम करना, कुंभकारी आदि,
२. वन-कर्म - वन उत्पाद का व्यवसाय करना जिसमें वृक्षों की कटाई, चिराई आदि सावध कर्म की ही प्रमुखता होती है,
३. शकट-कर्म - यान-वाहन बना कर बेचना,

४. भाटी-कर्म - गाड़ी, घोड़े, पशु, यंत्रादि किराये पर देने का व्यवसाय करना,
 ५. स्फोटक कर्म - खनन व्यवसाय करना,
 ६. दंत-वाणिज्य - हाथीदांत, शंख, केश, नख, चर्म आदि का व्यवसाय करना,
 ७. लाक्षा-वाणिज्य - लाख व समान सावद्यकर्म वाले अन्य व्यवसाय करना,
 ८. रस-वाणिज्य - मदिरा, मक्खन, घृत, तैल, शहद आदि का व्यापार करना,
 ९. विष-वाणिज्य - अफीम, संखिया आदि जहरीली वस्तुओं का व्यवसाय करना,
 १०. केश-वाणिज्य - केश वाले जीवों जैसे दास-दासियों का अथवा पशुओं - गाय-बैल, घोड़े, बकरी आदि का व्यवसाय करना,
 ११. यंत्रपीड़न-कर्म - तिल, कपास, गन्ना आदि पिलवाने का व्यवसाय करना,
 १२. निर्लाछन-कर्म - मनुष्यों अथवा पशुओं को खस्सी करने का काम करना,
 १३. दावाग्नि दापन-कर्म - जंगलों या खेतों में आग लगवाना,
 १४. सर-द्रह-तालाब शोषण-कर्म - जलाशयों को सुखाने का कार्य करना, तथा
 १५. असतिजन पोषण-कर्म - आजीविका के लिये दुष्ट, दुराचारी व हिंसक व्यक्तियों या पशुओं को पालना जैसे कि वैश्याघर चलाना, गुंडे पालना, शिकार के लिये शिकारी कुत्ते या बाज आदि पालना।
८. अनर्थदंड विरमण व्रत - यह श्रावक का आठवों व्रत तथा तीसरा गुणव्रत है। इसमें गृहस्थ उपासक को ऐसे क्रियाकलापों का त्याग करवाया जाता है जिनमें जीवों को तो कष्ट पहुँचता है किंतु कष्ट पहुँचाने वाले व्यक्ति को कोई लाभ नहीं होता है। अतः इसे अनर्थदंड

कहा गया है। यहाँ अर्थदंड और अनर्थदंड में भेद करना आवश्यक है। आजीविका अर्जन तथा स्वयं के अधिकारों की रक्षार्थ सावध्यकर्म से होने वाले अपरिहार्य कर्म-बंध को हम अर्थदंड कह सकते हैं किंतु बिना किसी लाभ के होने वाले कर्म-बंध तथा उनसे होने वाले कष्टों को तो अनर्थदंड ही कहा जाएगा। शास्त्रों में चार प्रकार के अनर्थदंडों की चर्चा की गई है, जो निम्नानुसार है: -

- क. अपध्यानाचरण - अशुभ आर्त व रौद्र ध्यानों में रत रहना दुर्ध्यान है। आर्तध्यान में रत व्यक्ति स्वयं शोकमग्न व दुःखी होकर रोता रहता है किंतु उस रोने का उसे कोई लाभ नहीं होता है। रौद्रध्यान में रत व्यक्ति दूसरों का अनिष्ट सोचता है जिसका भी कोई लाभ उसे नहीं मिलता है।
- ख. प्रमादाचरण - अति निद्रा, नशा करना, गपशप करना आदि प्रमाद हैं जिनके आचरण से व्यक्ति अपना समय ही नष्ट करता है।
- ग. हिंसा-प्रदान - किसी को ऐसे उपकरण देना जिन से सावध्यकर्म होता हो, स्वयं के किसी लाभ के बिना ही कर्म-बंध का कारण बनता है।
- घ. पापकर्मोपदेश - किसी को कोई पापक कार्य करने की प्रेरणा या सलाह देना भी ऐसा ही अनर्थदंड जनक कृत्य है।

अनर्थदंड विरमण-व्रत के अतिचार -

१. कंदर्प - विषय-वासना वर्द्धक, मोहजनक, वार्तालाप करना या कथा-कहानियों कहना, हँसी-मजाक करना आदि ऐसे कृत्य हैं जो इस व्रत का उल्लंघन करने में कारणभूत बनते हैं।
२. कौत्कुच्य - तरह-तरह के विकृत हावभावों से लोगों को हँसाना, मोहित करना, विकार उत्पन्न करना कौत्कुच्य है।
३. मोखर्य - आवश्यकता से अधिक बोलना, अनर्गल बातें करना, क्लेशकारी व कामोत्तेजक बातें करना, बिना विचारे बोलना आदि,
४. संयुक्ताधिकरण - सावध्य उपकरणों के विभिन्न अवयवों को जोड़कर

रखने से उनके उपयोग में आसानी रहती है जिससे वे आवश्यकता से अधिक बात-बेबात काम में लिये जाते हैं, तथा

५. उपभोग-परिभोगातिरिक्त - उपभोग-परिभोग की वस्तुओं को उनके निश्चित परिमाण से अधिक मात्रा में संग्रह करके रखना जिससे व्रत भंग होने की संभावना बनी रहती है। उपरोक्त के अतिरिक्त गृहस्थोपयोग में आने वाले अन्य साधनों के निश्चित तथा स्वीकार किये गए परिमाण का अतिक्रमण करके उससे अधिक रखना,

चार शिक्षाव्रत -

शिक्षाव्रतों का उद्देश्य उपासक को इस प्रकार शिक्षित करना है कि वह समय आने पर अपने-आप को साधक बनाने के लिये तैयार पाए। वस्तुतः इन्हें श्रामण्य-प्रेरक व्रत भी कहा जा सकता है। शिक्षाव्रत निम्नांकित हैं: -

६. सामायिकव्रत - सामायिकव्रत श्रावक का नवों व्रत और प्रथम शिक्षाव्रत है। इस व्रत के पालन में श्रावक प्रतिदिन कम से कम एक सामायिक की साधना अवश्य करते हैं। इसमें एक मुहुर्त काल तक सभी सांसारिक कृत्यों से विरत होकर समभाव की साधना की जाती है। सामायिक दो प्रकार की मानी गई है - भाव-सामायिक (निश्चय-सामायिक) तथा व्यवहार-सामायिक। निश्चय सामायिक में उपासक का लक्ष्य परलक्ष्य से ध्यान हटाकर आत्मलक्षी हो जाना ही होता है जिसमें साधक व साध्य का भेद ही समाप्त होकर सामायिक करने वाला स्वयं सामायिक रूप (समता-समाधि में लीन) हो जाता है। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये ही उपासक की साधना व्यवहार सामायिक से प्रारंभ होती है। व्यवहार सामायिक की साधना के लिये उपासक शरीर-शुद्धि करके सामायिक के लिये नियत शुभ्र और साधारण वस्त्र धारण करके आसन ग्रहण करता है तथा समस्त सावधकर्मों का प्रत्याख्यान करके सामायिक काल को ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य रूप समता व स्वाध्याय में व्यतीत करता

२८६ : जैन-धर्म : जीवन-धर्म

है। विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार व्यवहार सामायिक के चार भेद हैं -

क. श्रुत-सामायिक - इसमें उपासक सामायिक-काल में सम्यग्श्रुत का स्वाध्याय करता है।

ख. सम्यक्त्व-सामायिक - सम्यग्श्रुत के अभ्यास से उपासक सम्यग्दृष्टि प्राप्त करता है।

ग. देशविरत सामायिक - जब उपासक श्रावकाचार के एकाधिक व्रतों को ग्रहण करके उनका पालन करने लगता है तो उसकी सामायिक देशविरत-सामायिक कहलाती है। तथा

घ. सर्वविरत सामायिक - यह विरत साधु-साध्वियों की सामायिक है।

शुद्ध सामायिक -

व्यवहार-सामायिक की साधना द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव की अपेक्षा से शुद्ध होनी चाहिये -

क. द्रव्य-शुद्धि - सामायिक में प्रयुक्त साधन-सामग्री जैसे आसन, रजोहरण, मुखवस्त्रिका, पुस्तकें आदि ऐसे हों जो समभाव में वृद्धि करने वाले हों न कि राग-द्वेष की वृद्धि करने वाले।

ख. क्षेत्र-शुद्धि - सामायिक ऐसे स्थान में बैठकर की जाए जो एकांत व शांत हो, जहाँ किसी प्रकार के ध्यान बैठाने वाले व्यक्ति व वस्तुएँ न हों।

ग. काल-शुद्धि - काल की अपेक्षा से सामायिक पूरे एक मुहुर्त काल पर्यंत की जानी चाहिये। तथा

घ. भाव-शुद्धि - सामायिक-काल में मन को आर्त व रौद्र ध्यान से विरत होकर धर्म-ध्यान में स्थिर करना भाव-शुद्धि है।

इससे यह स्पष्ट है कि सामायिक-साधना श्रुताध्ययन से सम्यक्त्व की प्राप्ति द्वारा अंततोगत्वा आत्मा के शुद्ध स्वरूप समता-समाधि को प्राप्त करने का उपक्रम है जो व्यवहार सामायिक से प्रारंभ होकर निश्चय-सामायिक पर पूर्ण होता है। यह भी स्पष्ट है कि भाव-सामायिक

तो साधक की मनोदशा रूप ही है जिसके लिये किसी भी प्रकार की साधन-सामग्री की आवश्यकता नहीं होती है।

विशेषावश्यकभाष्य के ही अनुसार सामायिक में स्थित उपासक भी श्रमण के समान ही हो जाता है अतः उसे बार-बार सामायिक-साधना करनी चाहिये।^२

सामायिक-व्रत के अतिचार -

१. मनः दुष्प्रणिधान - मन को स्वाध्याय, समता की साधना में न लगाकर अविवेक, यशोकीर्ति, लाभ, गर्व, भय, निदान, संशय, रोष, अविनय, अबहुमान आदि अशुभ विचारों में भटकने देना मनोदुष्प्रणिधान है।
२. वचन-दुष्प्रणिधान - वाणी का संयम न रखना, कुवचन, सहसाकार, स्वच्छंद, संक्षेप, कलह, विकथा, हास्य, अशुद्धोच्चारण, निरपेक्ष-वचन व अस्पष्टता से बोलना वचन-दुष्प्रणिधान है।
३. काय दुष्प्रणिधान - शरीर-संयम की उपेक्षा करके कुआसन, चलासन, चलदृष्टि, सावद्यक्रिया, आलंबन, आकुंचन-प्रसारण, आलस्य, मोड़न, मल-निस्तारण, विमासन, निद्रा व वैयावृत्य का आचरण करना काय-दुष्प्रणिधान है।
४. सामायिक स्मृति-अकरण - सामायिक में बैठे हैं यही भूल जाना तथा सामायिक में वांछित क्रियाओं की ओर ध्यान न देना सामायिक स्मृत्यकरण है।
५. सामायिक अनवस्थितकरण - सामायिक की विधि व अवधि का ध्यान न रखना तथा जैसे-तैसे समय पूरा करके या समय से पूर्व ही सामायिक पार लेना सामायिक अनवस्थितकरण है।

^२ “सामाइयम्मि उ कए, समणो इव सावओ हवइ जम्हा ।
एएण कारणेणं, बहुसो सामाइयं कुज्जा ।।”
- विशेषावश्यकभाष्य, गा. २६६०.

10 देशावकाशिक व्रत - यह दूसरा शिक्षाव्रत है जो श्रावक का दसवाँ व्रत है। इसमें प्रवृत्ति की सीमाओं को क्रमशः संकुचित करते हुये निवृत्ति की ओर बढ़ा जाता है। पाँच अणुव्रतों तथा तीन शिक्षाव्रतों में विभिन्न प्रकार की गति-विधियों की सीमाओं को इस व्रत में निश्चित समयावधि के लिये, सामान्यतया दैनंदिन स्तर पर संकुचित किया जाता है। अर्थात् श्रावक द्वारा प्रतिदिन अपने विभिन्न व्रतों की मर्यादाओं का संक्षेप करना देशावकाशिक व्रत है। व्यवहार में श्रावक-श्राविका प्रतिदिन प्रातःकाल चौदह नियम धारण करते हैं जो इस प्रकार है: -

- i- सचित्त-मर्यादा - पानी, फल-फूल, शाक-भाजी आदि सचित्त वस्तुओं की मर्यादा निश्चित करना।
- ii- द्रव्य-मर्यादा - प्रतिदिन खाने-पीने की वस्तुओं की संख्या निश्चित करना।
- iii- विगय-मर्यादा - घी, तैल, गुड़, चीनी, आदि पौष्टिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से विकृति उत्पादक खाद्यों की संख्या सीमित करना।
- iv- पन्नी-मर्यादा - पादत्राण पहनने की मर्यादा करना।
- v- ताम्बूल-मर्यादा - मुखवास के लिये उपयोग में आने वाले पदार्थों की संख्या मर्यादित करना।
- vi- वस्त्र-मर्यादा - पहनने के वस्त्रों की संख्या मर्यादित करना।
- vii- कुसुम-मर्यादा - सुगन्ध के लिये पुष्प, गंध, माला आदि की मर्यादा करना।
- viii- वाहन-मर्यादा - यान-वाहनादि सवारी के साधनों की संख्या मर्यादित करना।
- ix- शयन-मर्यादा - शयन करने के लिये पलंग, पाट आदि की संख्या मर्यादित करना।
- x- विलेपन-मर्यादा - शरीर पर लगाने के अंगराग, चंदन, आदि

वस्तुओं की संख्या मर्यादित करना।

- xi-** ब्रह्मचर्य-मर्यादा - दिवा-ब्रह्मचर्य आदि कामभोग संबंधी मर्यादा करना।
- xii-** दिग्मर्यादा - प्रत्येक दिशा में जाने की दूरी को दिशा-परिमाणव्रत में निश्चित परिमाण से भी अधिक मर्यादित करना।
- xiii-** स्नान-मर्यादा - नहाने-धोने की मर्यादा करना।
- xiv-** भक्त-मर्यादा - दिन में कितनी बार खाना तथा कितना खाना इसकी मर्यादा करना।

इसके अतिरिक्त श्रावक प्रतिदिन असि-मसि-कृषि अर्थात् आजीविका के लिये किये जाने वाले कार्यों की भी मर्यादा करता है।

देशावकाशिक-व्रत के अतिचार -

- १. आनयन प्रयोग - आवश्यकता पड़ने पर काम निकालने के लिये मर्यादित भूमि से बाहर की वस्तुओं को स्वयं न जाकर किसी दूसरे को भेज कर मंगवा लेना।
- २. प्रेष्य प्रयोग - आवश्यकता पड़ने पर काम निकालने के लिये किसी वस्तु को मर्यादित भूमि से बाहर स्वयं न जाकर किसी दूसरे के हाथों भेजना।
- ३. शब्दानुपात - आवश्यकता पड़ने पर काम निकालने के लिये मर्यादित भूमि से बाहर स्थित व्यक्ति का ध्यान आकर्षित करने के लिये स्पष्ट आवाज न देकर अनक्षर शब्द-ध्वनि करना।
- ४. रूपानुपात - आवश्यकता पड़ने पर काम निकालने के लिये मर्यादित भूमि से बाहर स्थित व्यक्ति का ध्यान आकर्षित करने के लिये स्पष्ट आवाज न देकर इशारा करना।
- ५. बहिर्पुद्गल-प्रक्षेप - आवश्यकता पड़ने पर काम निकालने के लिये मर्यादित भूमि से बाहर स्थित व्यक्ति का ध्यान आकर्षित करने के लिये स्पष्ट आवाज न देकर कंकर-पत्थर आदि फेंकना।

११. पौषधोपवास व्रत - यह तीसरा शिक्षाव्रत है जो श्रावक का ग्यारहवों व्रत है तथा जिसे प्रतिपूर्णपौषध व्रत भी कहा जाता है। इस व्रत को धारण करने वाला श्रावक प्रत्येक पक्ष की अष्टमी व चतुर्दशी को उपवास सहित पौषध की आराधना करता है। पौषध से तात्पर्य ऐसी अनुपालना से है जिसमें सांसारिकता से विमुख होकर आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख हुवा जाता है। इसमें उपासक सभी व्यापारादि कार्यों से निवृत्त होकर उपाश्रय में जाकर एक दिन-रात के लिये मुनिवत् चर्या करता है। यह अनुपालना आध्यात्मिक दृष्टि से अत्यंत हितकारी है। व्यवहार में पौषध चार प्रकार के होते हैं: -

क. आहारत्याग पौषध - अशन-पान-खादिम-स्वादिम इन चारों प्रकार के आहारों के त्यागपूर्वक चौविहार उपवास के साथ किया जाने वाला पौषध आहारत्याग पौषध है।

ख. शरीर-संस्कारत्याग पौषध - मंजन, स्नान आदि शरीर-संस्कारों के त्यागपूर्वक किया जाने वाला पौषध।

ग. ब्रह्मचर्य पौषध - पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत के पालन के साथ किया जाने वाला पौषध। इसमें सभी इंद्रियों के विषयों का त्याग भी विवक्षित है। तथा

घ. अव्यापार पौषध - सभी प्रकार के घरेलू व जीविकोपार्जन के कार्यों के त्यागपूर्वक किया जाने वाला पौषध।

देश-पौषध - किसी कारणवश प्रतिपूर्ण पौषध की अनुपालना नहीं कर पाने वाले उपासकों के लिये इसके अतिरिक्त देश-पौषध की अनुपालना का भी विधान है जिसमें इन सब त्याग-प्रत्याख्यानों की आंशिक अनुपालना ही करने का नियम लिया जाता है।

द्रव्यापेक्षा पौषधोपयोगी वस्तुओं के उपयोग का आगार रख कर शेष वस्तुओं का त्याग किया जाता है।

क्षेत्रापेक्षा उपाश्रय, उच्चार-प्रस्रवणभूमि की मर्यादा करके शेष क्षेत्र का

त्याग किया जाता है।

कालापेक्षा आठ प्रहर या आठ प्रहर से अधिक अवधि का पौषध पूर्ण-पौषध माना जाता है तथा उससे कम अवधि का देश-पौषध माना जाता है।

भावापेक्षा राग-द्वेष का त्याग करके धर्म-ध्यान में रत रहना भाव-पौषध है।

पौषधोपवास-व्रत के अतिचार -

१. अप्रत्युपेक्षित-दुष्प्रत्युपेक्षित शय्या-संस्तारक - पौषध में प्रयुक्त होने वाले ओढ़ने-बिछाने के वस्त्रों तथा सोने-बैठने के आसनों, पाटों, स्थानों आदि का प्रतिलेखन नहीं करना अथवा ध्यानपूर्वक नहीं करना।
२. अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित शय्या-संस्तारक - पौषध में प्रयुक्त होने वाले ओढ़ने-बिछाने के वस्त्रों तथा सोने-बैठने के आसनों, पाटों, स्थानों आदि का प्रमार्जन नहीं करना अथवा ध्यानपूर्वक नहीं करना।
३. अप्रत्युपेक्षित-दूष्प्रत्युपेक्षित उच्चार-प्रस्रवणभूमि - पौषध में मल-मूत्र आदि विसर्जन करने की जगह का प्रतिलेखन नहीं करना अथवा ध्यानपूर्वक नहीं करना।
४. अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित उच्चार-प्रस्रवणभूमि - पौषध में मल-मूत्र आदि विसर्जनयोग्य वस्तुओं का विसर्जन करने के लिये प्रयुक्त होने वाले स्थान का प्रमार्जन नहीं करना अथवा ध्यानपूर्वक नहीं करना।
५. पौषधोपवास का सम्यक् अननुपालन - पौषध की विधिपूर्वक अनुपालना नहीं करना।

१२. अतिथिसंविभाग व्रत - यह चौथा शिक्षाव्रत है जो श्रावक का बारहवां व्रत है। इस व्रत को धारण करने वाला श्रावक सुपात्र अतिथि को कल्प्य आहार-पानी, वस्त्र-पात्र, वसति, औषधि आदि दान करने का संकल्प करता है। अतिथि से तात्पर्य ऐसे भिक्षुक से है जिसके आने

की कोई तिथि निश्चित न हो अर्थात् जो बुलाने या निमंत्रण देने से न आए अपितु अनिमंत्रित, अनपेक्षित रूप से आकर भिक्षा की याचना करे। जैन-श्रमण का अपरिग्रह महाव्रत उसे अपने जीवनयापन के लिये किसी प्रकार की वृत्ति की इजाजत नहीं देता, उसे अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति भिक्षाचर्या के द्वारा ही करनी होती है। श्रमण का भिक्षाचर्या तप भी पिंडैषणा के नियमों तथा एषणा-समिति से संचालित होता है जिस पर अतिथि के सब प्रावधान लागू होते हैं अतः वे सही अर्थों में अतिथि होते हैं। संविभाग का अर्थ है श्रावक द्वारा अपनी आवश्यकताओं के लिये लाई गई वस्तुओं में से ऐसे अतिथियों के लिये दान करना। उन्हें दान देने का नियम चतुर्विध संघ के सम्यक् संचालन-संरक्षण व व्यवस्था के लिये आवश्यक है। यहाँ यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि जैन श्रमण निमंत्रण स्वीकार नहीं करते हैं, वे अपना आहार व अन्य आवश्यकताएँ भिक्षाचर्या द्वारा गृहस्थों के द्वारा अपनी आवश्यकतापूर्ति के लिये पकाई हुई खाद्य-सामग्री में से तथा लाई गई अन्य सामग्री में से थोड़ी-थोड़ी मात्रा में दान में लेकर करते हैं। अतः श्रावकों का भी यह कर्तव्य हो जाता है कि वे अपने द्वार पर आए श्रमण-भिक्षु को प्रासुक व कल्प्य भोजन व श्रमण-जीवन की अन्य आवश्यक वस्तुएँ दान में दें।

भिक्षाचर्या के इन कठोर प्रावधानों की अनुपालना के कारण श्रमण कई बार उपलब्ध व अर्पण किये जा रहे आहार व अन्य वस्तुएँ भी ग्रहण नहीं कर पाते हैं तथा उनके बिना ही कठिनाइयों को समभाव से सहन करते हैं। इसी कारण गृहस्थ उपासक उनका बहुत आदर-सम्मान करते हैं तथा उन्हें दान देकर हर्षित होते हैं।

जैन-श्रमणों के प्रासुक व निर्दोष आहार व उपधि आदि ही ग्रहण करने के नियम के कारण दानदाता श्रावकों के लिये भी उन

दोषों के बारे में जानकारी रखना आवश्यक है ताकि जब श्रमण उनके द्वार पर भिक्षाचर्या के लिये आवें तो वे प्रासुक व निर्दोष आहार-पानी व उपधि आदि प्रस्तुत कर सकें तथा उनके निर्दोष श्रमणाचार के पालन में सहायक हो सकें। जो गृहस्थ श्रावक भिक्षाचर्या के नियमों की जानकारी रखकर श्रमणों को निर्दोष भिक्षा देता है उसे उत्तम व उदात्त उपासक कहा गया है।

अतिथि-संविभाग-व्रत के अतिचार -

१. सचित्त निक्षेप - दान नहीं देने के विचार से अचित्त वस्तु को सचित्त वस्तु पर रखना।
२. सचित्त पिधान - दान नहीं देने के विचार से अचित्त वस्तु को सचित्त वस्तु से ढक देना।
३. कालातिक्रम - दान नहीं देने के विचार से भिक्षाचर्या का समय निकल जाने पर शिष्टाचार निर्वहन के लिये दान देने की तत्परता दिखाना।
४. परव्यपदेश - दान नहीं देने के विचार से अपनी वस्तु को पराया कहना तथा दान देने के विचार से पराई वस्तु को अपना कहना।
५. मात्सर्य - दूसरे दान-दाताओं से ईर्ष्या करना।

श्रावक-प्रतिमाएँ -

अध्याय के पिछले भाग में वर्णित बारह व्रतों का पालन सामान्य श्रावकाचार की श्रेणि में आता है। जो श्रावक शीघ्र कर्म-क्षय द्वारा आत्मोन्नयन करना चाहते हैं, उनके लिये उच्चस्तरीय आध्यात्मिक साधना के लिये ग्यारह उपासक-प्रतिमाओं का विधान किया गया है। वे निम्नोक्त हैं-

१. दर्शन-प्रतिमा - सामान्य उपासक के दर्शनाचार में परिवार, समाज, राज्य आदि के दबाव के कारण कभी दोष भी लग सकता है किंतु जो निष्ठावान श्रावक इस प्रतिमा को धारण करता है वह किसी भी

परिस्थिति में अपने दर्शन, अपनी आस्था को मलिन नहीं होने देता है। एक माह तक इस प्रतिमा की आराधना करने के उपरांत उपासक दूसरी प्रतिमा की आराधना की योग्यता अर्जित करता है।

२. **व्रत-प्रतिमा** - इस प्रतिमा का आराधक दर्शन-प्रतिमा के अतिरिक्त श्रावक के बारह व्रतों में से सामायिक, देशावकाशिक व पौषधोपवास व्रतों को छोड़कर शेष का निरतिचार पालन करता है। दो माह तक इस प्रतिमा का पालन करके वह तीसरी प्रतिमा आराधन के योग्य होता है।
३. **सामायिक-प्रतिमा** - इस प्रतिमा का आराधक पहली व दूसरी प्रतिमाओं के अतिरिक्त सामायिक व्रत का भी निरतिचार पालन करता है। तीन माह तक इस प्रतिमा का पालन उसे चौथी प्रतिमा की आराधना की योग्यता देता है।
४. **पौषधोपवास-प्रतिमा** - इस प्रतिमा का आराधक पहली से तीसरी प्रतिमाओं के अतिरिक्त पौषधोपवास व्रत का भी निरतिचार पालन करता है। चार माह तक इस प्रतिमा का पालन उसे पाँचवीं प्रतिमा की आराधना की योग्यता देता है।
५. **दिवाब्रह्मचारी-प्रतिमा** - इस प्रतिमा का आराधक पहली से चौथी प्रतिमाओं के अतिरिक्त दिन में ब्रह्मचर्य व्रत का भी निरतिचार पालन करता है तथा रात्रि में भी संसर्ग को सीमित करता है। इस प्रतिमा में स्नान करने का त्याग, रात्रि-भोजन का त्याग, धोती की लांघ खुली रखना आदि नियमों का भी पालन किया जाता है। इस प्रतिमा का पालन जघन्य एक से तीन दिन तथा उत्कृष्ट पाँच माह तक किया जाता है।
६. **ब्रह्मचर्य-प्रतिमा** - पूर्वोक्त प्रतिमाओं के पालन के साथ इस प्रतिमा में दिन व रात्रि में भी पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता है। इस प्रतिमा का पालन जघन्य एक से तीन दिन तथा अधिक से अधिक छः माह तक किया जाता है।
७. **सच्चित्त्याग-प्रतिमा** - पूर्वोक्त प्रतिमाओं के पालन के साथ इस प्रतिमा

में संचित्त वस्तु के उपयोग का पूर्ण रूप से त्याग किया जाता है। इस प्रतिमा का पालन जघन्य एक से तीन दिन तथा अधिक से अधिक सात माह तक किया जाता है।

८. आरंभत्याग-प्रतिमा - पूर्वोक्त प्रतिमाओं के पालन के साथ इस प्रतिमा में स्वयं के द्वारा किये जाने वाले सावद्यकर्म का सर्वथा त्याग किया जाता है। इस प्रतिमा का पालन जघन्य एक से तीन दिन तथा अधिक से अधिक आठ माह के लिये किया जाता है।
९. प्रेष्यारंभत्याग-प्रतिमा - पूर्वोक्त प्रतिमाओं के पालन के साथ इस प्रतिमा में किसी अन्य से सावद्यकर्म करवाने का भी पूर्ण रूप से त्याग किया जाता है। इस प्रतिमा का पालन जघन्य एक से तीन दिन तथा अधिक से अधिक नौ माह तक किया जाता है।
१०. उद्दिष्टभक्तत्याग-प्रतिमा - पूर्वोक्त प्रतिमाओं के पालन के साथ इस प्रतिमा में प्रतिमाधारक के निमित्त बनाए हुवे भोजन का भी सर्वथा त्याग किया जाता है। इस प्रतिमा का पालन जघन्य एक से तीन दिन तथा अधिक से अधिक दस माह तक किया जाता है।
११. श्रमणभूत-प्रतिमा - इस प्रतिमा का धारक पूर्वोक्त प्रतिमाओं के पालन के साथ केश-लुंचन, भिक्षाचर्या आदि सहित मुनिवत् आचार का पालन करता है। केवल उसका परिवार व परिजनों के प्रति स्नेह-संबंध बना रहता है। इस प्रतिमा का पालन जघन्य एक से तीन दिन तथा अधिक से अधिक ग्यारह माह तक किया जाता है।

इस वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये प्रतिमाएँ विकासमान (progressive) हैं तथा किसी भी प्रतिमा की आराधना का अर्थ उसकी पूर्ववर्ती प्रतिमाओं से असंपृक्त नहीं बल्कि उसकी आराधना में उसकी पूर्ववर्ती प्रतिमाओं की आराधना भी सन्निहित होती है। जो उपासक दूसरी प्रतिमा की आराधना करता है वह प्रथम प्रतिमा का अनुपालना भी करता रहता है, जो तृतीय प्रतिमा पर आरोहण करता है वह प्रथम व द्वितीय प्रतिमाओं का भी पालन करता है, इसी प्रकार आगे की प्रतिमाओं के बारे

२६६ : जैन-धर्म : जीवन-धर्म

में भी जानना चाहिये।

निष्ठावान उपासक की तीन भावनाएँ -

एक निष्ठावान उपासक की सदैव निम्न तीन भावनाएँ रहती हैं: -

१. अपने पास के अल्पतम परिग्रह से भी छुटकारा पाकर आध्यात्म मार्ग का अनुसारण करने के समय की प्रतीक्षा,
२. देशविरत गृहस्थावस्था का त्याग करके सर्वविरत श्रमण-धर्म अंगीकार करने के समय की प्रतीक्षा, तथा
३. जीवन के अंत में सल्लेखना-संधारापूर्वक समाधिमरण मरने की भावना।

श्रावक का समाधिमरण -

जन्म, जरा, रोग व मृत्यु संसार में दुःख के कारण माने गए हैं। प्राणीमात्र इनसे भयभीत रहता है। केवल वे ही साधक व उपासक इस भय से मुक्त हो सकते हैं जो इन अपरिहार्य घटनाओं का साहस व समता से सामना करने के लिये अपने आप को पहले से तैयार कर लेते हैं। ऐसे साहसी व समतावान उपासक मृत्यु के भय पर भी विजय प्राप्त कर लेते हैं तथा अपने अंतिम समय में भी शांत-प्रशांत बने रहकर समाधिपूर्वक मृत्यु का वरण करते हैं।

समाधिमरण के लिये मानसिक तैयारी बहुत पहले से प्रारंभ हो जाती है। एक निष्ठावान उपासक सभी जन्म लेने वाले प्राणियों के लिये मृत्यु की अपरिहार्यता पर चिंतन करता है, तथा अपने श्रुत-स्वाध्याय, प्रवचन-श्रवण आदि से यह जानता है कि जो प्राणी अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अच्छाई, भलाई तथा शुभ अध्यवसायों से परिपूर्ण जीवन जीता है वह मृत्यु के पश्चात् वर्तमान जीवन से भी उत्तम गति में पुनर्जन्म प्राप्त करता है। अतः उसे मृत्यु का भय नहीं सताता है वह मृत्यु को मनुष्य के वस्त्र-परिवर्तन करने के समान आत्मा का सामान्य धर्म समझकर उसे

सहजता से स्वीकार करता है। उसका मानस मृत्यु के भय से रहित होने से असमाधि का अनुभव नहीं करता है बल्कि वह तो मृत्यु को महोत्सव के रूप में ग्रहण कर उसका स्वागत करता प्रतीत होता है। वह मृत्यु के लिये प्रतीक्षा नहीं करते हुवे भक्त-प्रत्याचयान आदि व्रतों के द्वारा आगे बढ़कर उसे गले लगाता है। वह अपना अंतिम समय आर्त व रौद्र ध्यान में नहीं अपितु धर्म-ध्यान में निमग्न होकर शुभ संकल्पों में व्यतीत करता है तथा मृत्यु के समय भी चित्तसमाधि से विचलित नहीं होता है। वह भीति व संत्रास रहित मृत्यु को स्वेच्छा से स्वीकार करता है।

उपसंहार -

श्रावकाचार पर इस अध्ययन का समापन यह कहकर कर सकते हैं कि एक धर्मनिष्ठ उपासक की अहिंसक वृत्ति में उसके समस्त प्राणीजगत की रक्षा की भावना का रहस्य छुपा हुआ है। श्रावक-धर्म के विभिन्न व्रत-नियमों में एक दयालु, सच्चे, विश्वसनीय, सम्माननीय, साहसी व उदात्त जीवन जीने का तरीका सन्निहित है जिसके अनुसार वह मर्यादित व प्रतिष्ठित जीवन को शान से जीता है तथा निर्भय होकर उसी शान से मरता है।

शोकाकुल संसार से मुक्ति पाकर अनन्तानन्द के अभिलाषी के लिये सम्यक्चारित्र की आराधना अपरिहार्य है। अध्याय के इस भाग में श्रावकाचार के विभिन्न पक्षों को पर्याप्त विस्तार से वर्णित करने का प्रयास किया गया ताकि इसकी गरिमा का सम्यक् प्रकाशन हो सके।

जैन-धर्म: जीवन-धर्म

पंचम खण्ड

जैन कथाएँ

अध्याय - १५	अण्डक
अध्याय - १६	मृगापुत्र
अध्याय - १७	रोहिणी-कथा

आगम तथा आगमेत्तर दोनों प्रकार के जैन-साहित्य में धर्म-कथाओं और दृष्टांतों का बाहुल्य है क्योंकि तीर्थंकरों तथा परवर्ती धर्मोपदेशकों ने अपने उपदेशों को सर्वग्राह्य बनाने के लिये प्रारंभ से ही कथाओं का आश्रय लिया था। इस खण्ड में प्रभूत जैन कथा-साहित्य से तीन प्रतिनिधि कथाओं को चुना गया है। ये सामान्य गल्पवार्ताएँ नहीं अपितु बोध-कथाएँ हैं जो श्रद्धा, वैराग्य की दृढ़ता तथा संयम की सार्थकता को रेखांकित करती हैं।

अध्याय-१५ : अण्डक

छठे अंग-आगम 'ज्ञाताधर्मकथांग' से ली गई इस कथा में श्रद्धा के फलस्वरूप सफलता व श्रद्धा के अभाव में विडंबना व विफलता की प्राप्ति को एक मयूरी के अण्डों के आधार पर गुम्फित सुगम कथानक के माध्यम से प्रतिपादित किया गया है।

मयूरी के अण्डे -

प्राचीन काल में चम्पा नगरी के सुभूमिभाग नामक उद्यान में तुलसी की झाड़ियों के झुरमुट में एक मयूरी ने दो अण्डे दिये तथा उनकी बड़े ध्यानपूर्वक रक्षा करते हुवे उन्हें सेने लगी।

सार्थवाहपुत्र -

उसी चम्पा नगरी में जिनदत्त व सागरदत्त नामक दो सार्थवाह निवास करते थे जिनके पुत्र बहुत ही धनिष्ठ मित्र थे। वे बचपन से ही साथ-साथ खेले थे तथा अब भी उन्हें एक-दूसरे के बिना अच्छा नहीं लगता था। वे साथ-साथ रहते, साथ-साथ उठते-बैठते तथा साथ-साथ क्रीड़ा करते थे। वे सब काम एक-दूसरे की सलाह-सहमति से ही करते थे तथा एक-दूसरे की इच्छा के विरुद्ध कोई कार्य नहीं करते थे, यहाँ तक कि वे एक-दूसरे के घर-गृहस्थी के कार्य भी कर दिया करते थे।

चम्पा नगरी में देवदत्ता नामक एक अतीव सुंदरी नवयौवना गणिका भी थी जो सर्व-गुण संपन्न थी, नगर के गणमान्य नागरिक, राजपुरुष व श्रेष्ठिवर्ग सदैव उसका साथ पाने के लिये लालायित रहते थे।

एक बार उपरोक्त दोनों सार्थवाहपुत्रों ने विचार किया कि उन्हें देवदत्ता गणिका के साथ सुभूमिभाग उद्यान में जाकर पृकृति-विहार करना चाहिये। अपने विचार के अनुसार विपुल अशन-पान, यान-वाहन, दास-अनुचरों आदि की व्यवस्था करके वे देवदत्ता गणिका के महल में आए तथा उसे अपना मंतव्य कहा। दोनों श्रेष्ठिपुत्र लब्धप्रतिष्ठ थे अतः देवदत्त ने उनका प्रस्ताव तुरंत स्वीकार कर लिया व वे तीनों सेवकों अनुचरों के साथ उत्तम रथ में सवार होकर क्रीड़ा करते हुवे सुभूमिभाग उद्यान पहुँचे तथा वहाँ की निर्मल निजईरिणी में स्नान-मज्जन करके उत्तम अशन, पान, लेह्य, चूष्य आदि से युक्त उत्तम खाद्य-पदार्थों से तृप्त होकर, उत्तम केलि-क्रीड़ाओं से तुष्ट होकर, विश्राम से विश्रान्त होकर सायंकाल में उद्यान-भ्रमण के लिये निकले। भ्रमण करते हुवे वे उसी ओर आ निकले जहाँ कि तुलसी-कुंज में मयूरी ने अण्डे दिये हुवे थे।

उन्हें उधर ही आते हुवे देखकर मयूरी भयभीत होकर भागी तथा कूकते हुवे उड़कर समीप ही एक वृक्ष की शाखा पर बैठ गई। मयूरी को इस प्रकार भयभीत होकर उड़ते हुवे देखकर दोनों सार्थवाहपुत्र कृतुहल से भर गए तथा कृतुहलवश तुलसीकुंज में प्रविष्ट हुवे जहाँ उन्होंने मयूरी के वे दो सुंदर व सुपुष्ट अण्डे देखे। अण्डों को देखकर उनके मन में विचार आया कि क्या ही अच्छा हो यदि वे उन अण्डों का ले जाकर अपनी उत्तम जाति की कुक्कुटियों से सेचित करवा कर उनसे अपने मनोरंजनार्थ दो मयूर शावक प्राप्त कर लें तथा उन्हें भली-भाँति प्रशिक्षित करवाकर दौंव जीतें।

तदनुसार उन्होंने अपने-अपने सेवकों को बुलाया तथा उन्हें निर्देश दिये कि वे एक-एक अण्डा उनके आवास पर ले जाकर उत्तम जाति की कुक्कुटिकाओं के पास सेचन के लिये रख दें। सेवकों ने उनके आदेश का पालन किया तथा मयूरी का एक-एक अण्डा श्रेष्ठिपुत्रों के आवास पर ले जाकर मुर्गियों के पास रख दिया।

सार्थवाहपुत्र भी उद्यान-भ्रमण संपन्न करके अपने-अपने निवासस्थान पर लौट आए।

शंकालु सागरदत्तपुत्र -

रात्रि-विश्राम के पश्चात् सागरदत्तपुत्र कुक्कुटशाला में गया तथा मयूरी के अण्डे को उत्सुकता से देखने लगा। देखते-देखते उसके मन में शंका हुई कि यदि इस अण्डे में से मयूर-शावक नहीं निकला तो उसकी संपूर्ण योजना अपूर्ण रह जाएगी। इसी दुविधा में पड़कर वह अण्डे को उठा कर सहलाने तथा हिलाने-डुलाने लगा। यही उसका नित्यक्रम हो गया। रोज-रोज के हिलाने-डुलाने से वह अण्डा पोचा हो गया, उसके अंदर का जीव मर गया तथा वह अण्डा सड़ गया। जब बहुत समय बीतने पर भी उस अण्डे में से मयूर-शावक नहीं निकला तो सागरदत्तपुत्र निराश हो गया तथा अपने भाग्य को कोसने लगा।

श्रद्धालु जिनदत्तपुत्र -

रात्रि-विश्राम के पश्चात् जिनदत्तपुत्र भी कुक्कुटशाला में गया तथा मयूरी के अण्डे को उत्सुकतापूर्वक देखने लगा किंतु उसके मन में पूर्ण विश्वास था कि उस अण्डे में से मयूर-शावक अवश्य निकलेगा तथा उसने उसे बिना छेड़े कुक्कुटियों द्वारा सेचित होने दिया। समय आने पर वह अण्डा फूटा तथा उसमें से एक अति सुंदर मयूर-शावक निकला। उसने अपने सेवकों को भेज कर मयूर पालकों को बुलवाया तथा उन्हें उस मयूर-शावक की भलीभाँति देखरेख करते हुवे उसे उत्तम नाच आदि सिखाने के आदेश दिये। मयूरपालकों ने उसे उसी प्रकार पाल-पोसकर बड़ा किया तथा नृत्य करना सिखाया। जब वह मयूर-शावक युवा हुवा तो वह एक सर्व-गुणसंपन्न मयूर बन गया, वह पुष्ट, विशाल व भरे हुवे पंखों वाला सुंदर मोर बन गया। उसके पंख रंग-बिरंगे और सैंकड़ों चांदों वाले हो गए। वह नीलकण्ठ व नृत्यप्रिय हो गया। वह एक चुटकी बजाते ही बारंबार कूद-कूद कर नृत्य करने लगा।

श्रद्धा से सफलता -

जिनदत्तपुत्र के एक इशारे पर वह मोर क्रीड़ा करते हुवे अपनी गर्दन को योर की पूँछ के समान गोलाकार बना लेता था तथा अपने पंखों को फैलाकर बार-बार कूकते हुवे नृत्य करता था।

जिनदत्तपुत्र उस मयूर को चम्पा नगरी में होने वाली अनेक मयूर-स्पर्धाओं में ले जाकर तथा वहाँ बड़ी-बड़ी बाजियों जीत कर धन व यश अर्जित करने लगा।

कथा-बोध -

इस कथा का उपसंहार करते हुवे भगवान ने कहा - 'हे आयुष्मान श्रमणों ! जो श्रमण-श्रमणियों जिनदत्तपुत्र की भाँति निःशंकित होकर जिनप्रवचन पर अडिग श्रद्धा रखते हैं वे इस लोग में यश व सम्मान प्राप्त करते हैं तथा भवांतर में उत्तम गति या निर्वाण प्राप्त करते हैं। किंतु जो श्रमण-श्रमणियों जिनदत्तपुत्र की भाँति शंकालु होते हैं वे दुविधाग्रस्त होकर सागरदत्तपुत्र की भाँति अपना उपलब्ध लाभ भी खोकर खिन्नता को प्राप्त होते हैं। अतः तुम सब भी निःशंकित श्रद्धासंपन्न बनकर आत्मकल्याण के मार्ग पर अग्रसर होवो।

* * *

अध्याय-१६ : मृगापुत्र

उत्तराध्ययनसूत्र के उन्नीसवें अध्ययन में सुग्रीवनगर के राजकुमार बलश्री (मृगापुत्र) की संसार-विरक्ति की कथा है जिसमें उसके वास्तविक वैराग्य व उसकी दृढ़ता का दिग्दर्शन कराया गया है जो संयम-जीवन के विकट कष्टों के वर्णन से भी विचलित नहीं होता है।

मृगापुत्र -

प्राचीन काल में सुग्रीव नाम के कानन व उद्यानों से सुशोभित अत्यंत सुरम्य नगर में बलभद्र राजा और उनकी अग्रमहिषि मृगावती का पुत्र, बलश्री, मृगापुत्र के नाम से जाना जाता था। वह अपने माता-पिता का अत्यंत प्रिय, अपने राज्य का युवराज तथा धीर, वीर और अरिंदम था। वह राज महल के परम ऐश्वर्यशाली वातावरण में देवकुमार की भाँति सुखपूर्वक रहता था।

मृगापुत्र की विरक्ति -

एक बार महल के गवाक्ष से राजपथ पर जाते हुवे तप, नियम और संयम के धारक, शील से समृद्ध तथा गुणों के आकर संयत-श्रमण को देखकर उसे जाति-स्मरणज्ञान हुवा तथा अपने पूर्वाचरित श्रामण्य को स्मरण करके विरक्त हुवा तथा अपने माता-पिता से श्रमण-दीक्षा के लिये अनुमति मांगने के लिये उनके पास उपस्थित हुवा।

उसने अपने माता-पिता से कहा, “माता ! तात ! मैं संसार के दुःखों के बारे में जान गया हूँ, मुझे शरीर की अनित्यता व विषय-भोगों की

असारता का ज्ञान हो गया है, मुझे ज्ञात हो गया है कि सांसारिक सुख और समृद्धि किसी के साथ नहीं जाती है तथा एक दिन मुझे भी इन सब को छोड़कर विवश होकर काल का ग्रास बनना है, मैं जान गया हूँ कि विषय-भोग अंततः दुःख के कारण होते हैं अतः मेरा गंतव्य संसार से निर्वाण है तथा मैं जन्म, जरा, मृत्यु व रोगों से त्रस्त दुःखमय संसार को त्याग कर संसार-मुक्ति की साधना करना चाहता हूँ क्योंकि जिस प्रकार बिना पाथेय लिये यात्रा करने वाला पथिक भूख और प्यास से पीड़ित होता है वैसे ही बिना धर्म-साधना के पाथेय के मुक्ति-मार्ग का यात्री भी दुःख ही प्राप्त करता है। जिस प्रकार जलते हुवे घर से गृहस्वामी अपनी मूल्यवान वस्तुओं को बाहर निकालता है तथा मूल्यहीन असार वस्तुओं को छोड़ देता है, उसी प्रकार मैं भी आपकी अनुमति पाकर इस जरा-मरण से जलते हुवे संसार में से अपनी सारभूत आत्मा को बाहर निलना चाहता हूँ। कृपया मुझे दीक्षा ग्रहण करने की अनुमति दीजिये।”

मृगापुत्र की बात सुनकर उसके माता-पिता पुत्रमोह से ग्रस्त होकर येन-केन-प्रकारेण उसे दीक्षा लेने के विचार से विरत करने का प्रयत्न करने लगे। उन्होंने उसे श्रमण-जीवन के कष्टों के वर्णन से भयभीत करना चाहा ताकि वह श्रामण्य अंगीकार करने का विचार त्याग दे। किंतु मृगापुत्र का वैराग्य भी दृढ़ था, वह किसी भी प्रकार के भय या प्रलोभन से विचलित होने वाला नहीं था। प्रस्तुत है मृगापुत्र और उसके माता-पिता के बीच हुवा संवाद जिससे उसके निष्कम्प, निश्चल, अटल, दृढ़ वैराग्य की झलक मिलती है।

श्रमण-जीवन के कष्ट -

माता - “पुत्र ! श्रामण्य अत्यंत दुष्कर है, भिक्षु को अनेक कठिन व्रत-नियम धरण करके जीवनयापन करना पड़ता है। जीवन पथ्य प्राणातिपात का त्याग अत्यंत कठिन है, हर पल अप्रमत्त भाव से मृषावाद का त्याग भी बहुत दुष्कर होता है, दंतधावन जैसी तुच्छ

वस्तु भी बिना किसी से मांगे नहीं लेने जैसे अस्तेयव्रत का पालन भी अति कठिन है, तुम्हारे जैसे काम-भोगों से परिचित कुमार के लिये आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन त्रासद ही होगा, धन-धान्य, दास-दासी, आदि परिग्रह का त्याग तथा सब प्रकार के आरम्भ व ममत्व का त्याग करना भी बहुत दुष्कर होता है।”

पिता - “पुत्र ! आजीवन रात्रि भोजन व सन्निधि का त्याग तथा बहुत कठिन है, भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, ताड़ना-तर्जना आदि परीषह अत्यंत कष्टकारी हैं; तेरे जैसे सुखपूर्वक जीवने वाले सुकुमार व्यक्ति के लिये श्रमण-जीवन की केशलोच आदि चर्याओं का जीवन भर वहन करना वैसा ही कठिन है जैसा कि सागर को भुजाओं से तैरना; तप का आचरण तलवार की धार पर चलने के समान है, लोहे के जौ चड़ाने जैसा दुष्कर है, जैसे प्रज्वलित ज्वाला को पीना कठिन है वैसे ही युवावस्था में श्रमण-धर्म का पालन कठिन है; जैसे कपड़ों के धेले में हवा भरना तथा मेरु-पर्वत को तराजू में तौलना कठिन है वैसे ही श्रमण-धर्म का पालन कठिन है। अतः हे पुत्र ! तू राज महल में रहकर देवदुर्लभ भोगों का भोग कर, भुक्तभोगी होकर पश्चात्त्वय में धर्म का आचरण करना।”

मृगापुत्र - “हे माता ! हे तात ! आपने जो कहा वह सत्य है किंतु जिसे इस सांसारिक मोह-माया व तृष्णा से विरक्ति हो चुकी हो उसके लिये कुछ भी दुष्कर नहीं है। मैंने इस अनादि भव-भ्रमण में अनेक बार दारुण दुःखों को भोगा है, भय को अनुभव किया है, नरकादि चतुर्गति में जन्म-जरा-मरण रूपी भयंकर कष्टों को सहा है। नरकों में मैंने अग्नि से भी अनंत गुणा ऊष्ण-वेदना का तथा हिम से भी अनंत गुणा शीत-वेदना का अनुभव किया है; वहाँ मुझे अनंत बार प्रज्वलित अग्नि में पकाया गया, करवतों से चीरा गया, तीक्ष्ण कंटकों पर घसीटा गया, तलवारों, भालों और लोह-दण्डों से छेदा गया, भेदा गया और खण्ड-खण्ड किया गया, बड़े-बड़े पीलन

यंत्रों में पीला गया तथा भयानक जानवरों द्वारा फाड़ा व खाया गया। वहाँ मुझे जलते हुवे तप्त जुए वाले वाहन में जोता गया, चाबुक से होंका गया तथा तीक्ष्ण कठोर चोंच वाले ढंक व गिद्ध पक्षियों द्वारा नोचा गया। हे पिताश्री! मनुष्यलोक में जैसी वेदनाएँ देखी जाती हैं, उनसे अनंतगुणी वेदनाएँ नरक में हैं, वहाँ एक क्षणभर की भी सुखद अनुभूति नहीं होती है। इस प्रकार मैंने अनेक बार ऐसे असह्य कष्ट सहे हैं जिनके सामने श्रमण-जीवन के कष्ट नगण्य हैं।”

मृगापुत्र के दृढ़ वैराग्य को देखकर उसके माता-पिता को यह स्पष्ट अनुभव हो गया कि वह संयम लिये बिना नहीं रहेगा फिर भी उन्होंने एक बार फिर प्रयास किया।

माता-पिता - “हे पुत्र ! तुम संयम ही अंगीकार करना चाहते हो तो कोई बात नहीं किंतु क्या तुमने इस बात का विचार किया है कि श्रमण-जीवन में रोग होने पर भी चिकित्सा न कराना कष्टकारी है?”

मृगापुत्र - “हे माता ! हे तात ! आपने जो कहा वह सत्य है किंतु जंगलों में रहने वाले निरीह पशु-पक्षियों की चिकित्सा कौन करता है, कौन उसे ओषधि देता है, कौन उसकी सुश्रुषा करता है, उसे भोजन-पानी ही कौन लाकर देता है? जैसे वह स्वस्थ होनेपर पुनः गोचर भूमि में चला जाता है, वैसे ही मैं भी बिना ही चिकित्सा के श्रमणचर्या का पालन करूंगा; जैसे मृग वन में अप्रतिबद्ध विहार करता हुवा विचरण करता है, वैसे ही रूपादि में अप्रतिबद्ध, संयम के लिये उद्यत भिक्षु स्वतंत्र विहार करता हुवा ऊर्ध्व दिशा में (मोक्ष की ओर) बमन करता है। जैसे वन में मृग अकेला विचरता है, वैसे ही मैं भी संयम और तप का आलंबन लेकर एकाकी होकर

धर्म का पालन करूंगा।”

इस प्रकार मृगापुत्र के अकाट्य तर्कों से निरुत्तर हुवे माता-पिता ने अंततः उसे श्रमण-दीक्षा अंगीकार करने की अनुमति देते हुवे कहा -

पिता - “हे पुत्र ! जैसे तुम्हें सुख हो वैसा करो।”

मृगापुत्र - “हे माता ! मैं तुम्हारी अनुमति पाकर सभी दुःखों का क्षय करने वाली मृगचर्या का पालन करूंगा।”

माता - “हे पुत्र ! जैसे तुम्हें सुख हो वैसा करो।”

उपसंहार -

इस प्रकार माता-पिता को भौति-भौति से समझाकर उनकी अनुमति लेकर मृगापुत्र ने वैसे ही मोह-ममत्व का त्याग कर दिया जैसे कि महानाग कैचुल का त्याग करता है। वह कपड़ों पर लगी हुई धूल की भौति समस्त सांसारिक वस्तुओं व संबंधों का त्याग करके संयम-यात्रा पर निकल पड़ा।

पंचमहाव्रतों से युक्त, पौंच समितियों से शमित, तीन गुप्तियों से गुप्त, बाह्य और आभ्यंतर तप में उद्यत, ममत्व, संग व अहंकार रहित, गौरव का त्यागी; स्थावर और त्रस जीवों का रक्षक; लाभ-अलाभ में, सुख-दुःख में, निंदा-प्रशंसा में, मान-अपमान में और जीवन-मरण में समत्व का साधक; गौरव, कषाय, दण्ड, शल्य, भय, हास्य, निदान, शोक और बंधन से मुक्त होकर मृगापुत्र आध्यात्म ध्यान-योग में स्थित होकर प्रशस्त संयम-साधन में लीन हुवा।

इस प्रकार ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप तथा शुद्ध भावनाओं से आत्मा को भावित करता हुवा बहुत वर्षों तक शुद्ध श्रमण्य का पालन करता हुवा मृगापुत्र अंत में एक मास के सल्लेखना संथारे की आराधनापूर्वक अनुत्तर

सिद्धि को प्राप्त हुआ।

कथा-बोध -

इस कथा का उपसंहार करते हुवे श्रमण भगवान महावीर ने कहा - “हे आयुष्मान श्रमणों ! जिस प्रकार एक बार काम-भोगों से विरक्त होने पर माता-पिता द्वारा भौति-भामति से समझाए जाने पर भी, श्रमण-जीवन के विभिन्न परीषहों के वर्णन से भी अविचलित रहकर महर्षि मृंगापुत्र वैराग्य पर दृढ़ रहा एवं अंततः प्रशस्त श्रामण्य के पालन द्वारा सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुआ वैसे ही तुम सब भी धन को दुःखवर्द्धक तथा ममत्व-बंधन को महा भयंकर जानकर निर्वाण के गुणों को प्राप्त कराने वाली सुखावह, अनंतसुख-प्रापक, अनुत्तर धर्म-धुरा को धारण करो।

* * *

अध्याय-१७ : रोहिणी कथा

छठे अंग-आगम 'ज्ञाताधर्मकथांग' से ली गई इस कथा में श्रमण महाव्रतों के प्रति दृढ़ता व उनमें प्रयत्नपूर्वक स्थित रहने तथा उनका वर्द्धमान पालन करने की महिमा तथा प्रमाद पूर्वक व्रतों की खलना से होने वाली हीलना को रेखांकित किया गया है।

रोहिणी -

प्रचीन-काल में मगध-सम्राट श्रेणिक-बिंबिसार द्वारा शासित राजगृही नगरी में अत्यंत समृद्धिशाली धन्य नामक गाथापति रहता था। उसकी भार्या, भद्रा, अत्यंत सौम्य, सुंदर व सौभाग्यशालिनी थी। धन्य गाथापति के चार पुत्र - धनपाल, धनदेव, धनगोप व धनरक्षित थे तथा उज्झिका, भोगवती, रक्षिका व रोहिणी उसकी पुत्रबधुएँ थीं।

धन्य का विचार -

एकदा रात्रि में शयन करते हुवे धन्य गाथापति को विचार आया, "मैं पारिवारिक, सामाजिक व राज्य-कार्यों में निपुण हूँ इसलिये राज-समसल में मेरी बहुत प्रतिष्ठा है, यहाँ तक कि राजा भी मुझे बहुत मानते हैं तथा महत्वपूर्ण सामाजिक, व्यापारिक, व राजनैतिक मामलों व राज्यकार्यों में भी मेरी सम्मति लेते हैं। मेरी बुद्धिमत्ता व विश्वसनीयता के कारण मेरे स्वजन-परिजन व नगर-नागर भी मेरा विश्वास करते हैं, मुझे अपना अंतरंग मित्र समझते हैं, अपने गोपनीय रहस्य भी मुझे बतलाते हैं तथा अपने व्यक्तिगत मामलों में भी मेरी राय लेते हैं। मैं भी उन्हें उनके हित को सर्वोपरि समझकर उपयुक्त व समुचित परामर्श देता हूँ। ऐसा इसलिये है कि मैंने कभी उनके विश्वास को ठेस नहीं लगाई, कभी उन्हें

कोई गलत सलाह नहीं दी, कभी उन्हें निराश नहीं किया, कभी उनको धोखा नहीं दिया। वास्तव में वे मुझे अपना शुभचिंतक, मित्र, नेता, मार्ग-दर्शक व संरक्षक समझते हैं।”

तभी उसे यह विचार आया कि देव-दुर्विपाक से यदि उसे असाध्य रोग, अपंगता, राजा के विश्वास उठने अथवा अकारण रोष से देश-निकाला, जैसा कुछ हो जाय या वह परदेशवासी हो जय या उसे मृत्यु आ जाय तो उसके परिवार-परिजनों को बुहारी के तिनकों को बांधने वाली रस्सी की भाँति कौन संगठित व सुरक्षित रखेगा, कौन उन्हें उचित सलाह देगा व कौन उन्हें संकट से बचाएगा। उसे अपने परिवार-परिजनों को संगठित रख सके ऐसे उत्तराधिकारी नियुक्त करने की आवश्यकता प्रतीत हुई।

“अतः मेरे लिये यह उचित होगा कि मैं अपनी चार पुत्र-वधुओं के परिवारों को आमंत्रित करूँ और अपने स्वजन-परिजनों, मित्रों और शुभचिंतकों का सम्मेलन बुलाकर, उनका समारोहपूर्वक स्वागत-सत्कार करके, उन्हें विपुल अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य से तुष्ट करके, उन्हें मूल्यवान उपहारों से संतुष्ट करके उनके सामने ही अपनी चार पुत्र-वधुओं की क्षमता की परीक्षा करूँ और यह निश्चित करूँ कि उनमें से कौनसी पुत्र-वधु किस कार्य के लिये उपयुक्त है, कौन सी पुत्र-वधु घर में, कौन सी परिवार में, कौन सी मित्रवर्ग में तथा कौन सी समाज में कौन-कौन सा कार्य करने योग्य है तथा कौनसी मेरे पश्चात् मेरा स्थान लेने योग्य है”, उसने विचार किया। “मैं उनमें सवे प्रत्येक को धान के पाँच दाने दूँगा और देखूँगा कि वे उनका क्या करती हैं”, उसकी विचारधारा चलती रही।

सम्मेलन -

अपने विचार के अनुसार प्रातः धन्य सार्थवाह ने अपने स्वजन-परिजनों, मित्रों और शुभचिंतकों तथा चारों पुत्र-वधुओं के

परिवारजनों को आमंत्रित किया तथा उनका समारोहपूर्वक स्वागत-सत्कार करके, उन्हें विपुल अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य से तुष्ट करके, उन्हें मूल्यवान उपहारों से संतुष्ट करके उनका सम्मेलन आयोजित किया।

तत्पश्चात् उसने चारों पुत्र-वधुओं को भी बुलाया तथा उन सबकी उपस्थिति में उसने सबसे ज्येष्ठ पुत्र-वधु उज्झिका को अपने विचारानुसार धान के पौंच दाने दिये और कहा - “पुत्री! मेरे हाथ में ये धान के पौंच दाने हैं। मेरी इच्छा है कि ये दाने तुम ले लो और उनकी भली प्रकार सुरक्षा-संरक्षा-संवर्द्धन करो तथा जब मैं मांगू तो मुझे वापस लौटा देना।” यह कहकर उसने वे धान के पौंच दाने उज्झिका को दे दिये और उसे अपना स्वस्थान जाने के लिये कहा। उज्झिका ने वे दाने लेकर कहा - “अति उत्तम, पिताश्री! मैं आपकी आज्ञा का पालन करूंगी।” यह कहकर वह अपने कक्ष में चली गई।

उज्झिका का तर्क -

उज्झिका वे धान के पौंच दाने लेकर अपने कक्ष में चली गई तथा उसने सोचा कि उसके श्वसुर के भण्डार धान के बोरो से भरे पड़े हैं, फिर इन पौंच दानों को संभलने का कष्ट करने में ही क्या बुद्धिमानी है, वे जब भी धान के दाने मांगेंगे, मैं भंडार में से लेकर दे दूंगी। ऐसा सोचकर उसने वे दाने फेंक दिये और अपने काम में लग गई।

भोगवती का तर्क -

उसी प्रकार धन्य सार्थवी ने दूसरी पुत्र-वधु - भोगवती को भी धान के पौंच दाने दिये तथा उन्हें सुरक्षित, संरक्षित व संवर्धित करने को कहा। भोगवती ने भी वे दाने ले लिये तथा अपने श्वसुर को आज्ञा-पालन का आश्वासन देकर अपने कक्ष में आ गई। किंतु वहाँ आकर उसने भी उज्झिका की ही भौति विचार किया कि श्वसुर के मांगने पर वह भी पौंच दाने भंडार से लेकर दे देगी। फिर भी उसने उन दानों को फेंका नहीं और

उन्हें मुँह में डालकर निगल गई।

रक्षिका का तर्क -

तीसरी पुत्र-वधु - रक्षिका भी दाने लेकर अपने कक्ष में आ गई तथा उसने सोचा कि मेरे श्वसुर बहुत बुद्धिमान व्यक्ति हैं अतः यदि उन्होंने इन पाँच दानों को सुरक्षित रखने के लिये कहा है तो इनमें कोई विशेषता तो अवश्य होगी। ऐसा सोचकर उसने वे दाने एक स्वच्छ वस्त्र में बांधकर अपनी आभूषण-मंजूषा में रख दिये तथा उनको प्रतिदिन तीनबार संभालकर तत्परतरपूर्वक उनकी सुरक्षा-संरक्षा करने लगी।

रोहिणी का तर्क -

तब धन्य गाथापति ने अपनी सबसे छोटी पुत्र-वधु, रोहिणी को बुलाया तथा उसे भी अन्य तीन पुत्र-वधुओं के समान ही निर्देश देकर धान के पाँच दाने दिये। तथापि रोहिणी ने विचार किया कि उसके अत्यंत बुद्धिमान श्वसुर ने यदि इन दानों के संरक्षण-संवर्द्धन के लिये कहा है तो निश्चित ही इसका कुछ विशेष निहितार्थ होगा तथा उसने सोचा कि धान के दानों के संवर्द्धन का सबसे उत्तम उपाय तो उनको कृषिकर्म द्वारा बढ़ाने में ही हो सकता है।

विचार का कार्यान्वयन -

उसने अपने मैके वलों को बुलाया तथा उन्हें वे दाने देकर कहा कि अबली बुवाई में उनको बा दें तथा फसल आने पर उनसे प्राप्त उत्पादन को एकत्रित करके उन्हें पुनः बो दें तथा जब तक वह समस्त उत्पादन को उनसे वापस न मांगे इसी प्रक्रिया की पुनरावृत्ति करते रहें। उसने उन्हें फसल की रक्षा के लिये बाड़ लगाने के लिये तथा उत्पादन की कीटों से रक्षा करने के उपायों को अपनाने के लिये भी आवश्यक निर्देश दिये।

पीहर वालों ने उसके कहे अनुसार किया तथा पहली बुवाई में उन्होंने एक छोटे से क्षेत्र को भली भाँति खोदकर, खाद देकर तैयार किया तथा बरसात आने पर वे दाने बो दिये। समय आने पर वे दाने प्रस्फुटित हुवे, तथा शीघ्र ही हरित आभा वाले सुचिक्कण पत्तों वाले छोटे-छोटे पौधे हो गए। रोहिणी के भाइयों ने उन्हें बड़े क्षेत्र में प्रतिरोपित कर दिया जहाँ बड़े होने पर उनमें बालियों आगई तथा वे धान्य के भार से झुक कर लहलहाने लगे। फसल पकने पर उन्होंने सुनहरी पीली बालियों वाले पौधों को तीक्ष्ण हँसियों से काट लिया तथा सुखाकर उनमें से धान को सुंदर डलियों में एकत्रित करके धान्यागार में सुरक्षित रख दिया।

दूसरी बुवाई की ऋतु में उन्होंने इसी प्रक्रिया को दुहराया तथा फसल पकने पर धान के वे पाँच दाने कई-कई डलियाओं में भरे जाने योग्य हो गए। उन्होंने यही प्रक्रिया तीसरी, चौथी व पाँचवीं बार भी दुहराई। हर बार उनकी मात्रा कई-कई बुना बड़ी तथा अंततोगत्वा वे पाँच दाने बढ़ कर कई बोरे भर धान हो गए थे।

धन्य का धान के दाने मांगना -

जब पुत्र-वधुओं को धान के दाने दिये हुवे पाफच वर्ष हो गए तो उसे विचार आया कि उसे अपने स्वजन-परिजनों का तथा पुत्र-वधुओं के परिवारजनों का वैसा ही सम्मेलन फिर से बुलाना चाहिये तथा यह मालूम करना चाहिये कि उन पुत्र-वधुओं ने उनको दिये हुवे दानों का क्या किया है।

अपने विचार के अनुसार प्रातः धन्य सार्धवाह ने अपने स्वजन-परिजनों, मित्रों और शुभचिंतकों तथा चारों पुत्र-वधुओं के परिवारजनों को आमंत्रित किया तथा उनका समारोहपूर्वक स्वागत-सत्कार करके, उन्हें विपुल अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य से तुष्ट करके, मूल्यवान उपहारों से संतुष्ट करके उनको आराम से बिठाया तथा चारों पुत्र-वधुओं को एक एक करके बुलाया।

उज्झिका का उपहास -

सबसे पहले उसने ज्येष्ठ पुत्र-वधु उज्झिका को अपने पास बुलाया तथा उससे कहा - “प्रिय पुत्री ! क्या यह सत्य है कि पाँच वर्ष पूर्व मेनें तुम्हें धान के पाँच दाने देकर उन्हें सुरक्षित-संरक्षित करने के लिये तथा जब मैं वापस मांगूँ तब लौटाने के लिये कहा था?”

उज्झिका - “हाँ पिताश्री ! यह सत्य है।”

धन्य - “तो पुत्री ! अब धान के वे पाँच दाने मुझे लौटा दो।”

उज्झिका - “बहुत अच्छा पिताश्री ! मैं वे पाँच दाने अभी लेकर आती हूँ।”

यह कहकर वह धान्यागार में गई तथा वहाँ से धान के पाँच दाने लेकर अपने श्वसुर के पास आई तथा कहा - “ये लीजिये पिताश्री ! धान के पाँच दाने।”

तब धन्य गाथपति ने उसे शपथपूर्वक यह कहने को कहा कि क्या वे दाने वे ही थे जो पाँच वर्ष पूर्व उसे दिये गए थे। धन्य - “तो पुत्री !

उज्झिका - “नहीं पिताश्री ! ये दाने वे ही नहीं हैं, ये अन्य हैं।”

धन्य - “पुत्री ! धान के उन पाँच दानों का क्या हुवा जो मेनें तुम्हें दिये थे।”

उज्झिका - “पिताश्री ! यह सत्य है कि जब आपने वे दाने मुझे दिये थे तो मेनें उन्हें सुरक्षित और संरक्षित रखने की बात मान ली थी किंतु जब मैं अपने कक्ष में गई तो मुझे विचार आया कि धान्यागार में इतना धान भरा है तो उन पाँच दानों की सुरक्षा करने की क्या आवश्यकता है, जब आप मुझसे मांगेंगे तो मैं वहीं से लाकर दू दूंगी। यह सोचकर वे दाने तो मेनें फेंक दिये थे तथा ये दाने मैं आपको देने के लिये अभी धान्यागार से लेकर आई हूँ।”

यह सुनकर धन्य गाथापति बहुत क्रुद्ध हुवा तथा क्रोध से भभकते हुवे सबके सामने उसे बहुत बुरी तरह फटकारा और उससे कहा - “तुम्हें

चीजें फेंकने की आदत है अतः मैं तुम्हें घर की दासी नियुक्त करता हूँ ताकि तुम कचरा निकाल निकालकर फेंकती रहना।”

वहाँ उपस्थित स्वजन-परिजनों ने भी उसकी असावधानी तथा अपरिपक्वता की बहुत निंदा की। उसने बहुत शर्मिंदगी के साथ अपना नया कार्यभार स्वीकार किया तथा नीचा सिर किये वहाँ से चली गई।

भोगवती का मान-भंग -

तब धन्य गाथापति ने दूसरी पुत्र-वधु भोगवती को बुलाया तथा धान के वे पौंच दाने लौटाने के लिये कहा जो उसने उसे पौंच वर्ष पूर्व दिये थे। भोगवती ने भी कोष्ठागार से धान के पौंच दाने लाकर धन्य को दे दिये तथा यह पूछे जाने पर कि क्या वे दाने वे ही थे जो उसे पाम्ब वर्ष पूर्व दिये गए थे, उसने भी उज्झिका की भौंति कारण बताते हुवे सत्य बता दिया कि वे दाने वे ही नहीं थे क्योंकि वे दाने तो वह निगल गई थी।

एक बार पुनः धन्य बहुत क्रुद्ध हुवा तथा भोगवती को भला-बुरा कहते हुवे उसे रसोई बनाने वाली महाराजिन नियुक्त कर दिया व खाद्य-सामग्री को कूटना-पीसना, बीनना-दलना, खाना पकाना-परोसना आदि कार्यों के लिये उत्तरदायी बना दिया। उसे भी अपनी भूल तथा अकुशल-कृत्य के लिये उपस्थित समुदाय के सम्मुख बहुत लज्जित होना पड़ा।

रक्षिका की सराहना -

जब तीसरी पुत्र-वधु, रक्षिका, से धान के दाने लौटाने के लिये कहा गया तो वह जाकर अपनी आभूषण-मंजूषा में से वे ही दाने ले आई तथा अपने श्वसुर को दे दिये। पूछे जाने पर उसने पुष्टि कर दी कि वे दाने वे ही थे जो उसे पौंच वर्ष पूर्व दिये गए थे। उसने बताया कि उन दानों को विशेष महत्वपूर्ण मानते हुवे उसने उन्हें अपनी आभूषण-मंजूषा में सुरक्षित

रख दिये थे तथा वह पिछले पाँच वर्षों से प्रतिदिन तीन बार उनकी देखभाल-संभाल करते हुवे उनकी सुरक्षा-संरक्षा करती रही थी।

रक्षिका के उत्तर से धन्य बहुत प्रसन्न हुआ तथा उसे दिये गए धान के दानों की भली-भाँति सुरक्षा-संरक्षा करने के लिये उसकी सराहना करते हुवे उसे अपने परिवार का कोषाध्यक्ष नियुक्त किया तथा उसे परिवार की समस्त धन-संपत्ति का संरक्षक बना दिया, घर की सब चाबियाँ उसे सौंप दीं। वहाँ उपस्थित सभी स्वजन-परिजनों ने भी उसकी प्रशंसा की व उसे साधुवाद दिया।

रोहिणी का अप्रत्याशित आश्चर्य -

अब सबसे छोटी पुत्र-वधु रोहिणी की बारी थी। जब गाथापति धन्य ने उसे धान के वे पाँच दाने लौटाने के लिये कहा जो उसने उसे पाँच वर्ष पूर्व सुरक्षा, संरक्षा व संवर्धन हेतु दिये थे तो उसने कहा, “पिताश्री ! कृपया मुझे बहुत सी गाड़ियों व छकड़े दीजिये ताकि मैं वे पाँच दाने आप को लौटा सकूँ।”

धन्य - “पुत्री ! यह कैसी बात है कि तुम्हें धान के पाँच दाने लौटाने के लिये बहुत सी गाड़ियों व छकड़े चाहिये।”

रोहिणी - “पिताश्री ! बात ऐसी है कि इन पाँच वर्षों में धान के वे पाँच दाने बार-बार बोए जाने से सैकड़ों घड़े धान हो गए हैं जिन्हें यहाँ लाने के लिये मुझे कई गाड़ियों व छकड़ों की आवश्यकता है।”

तब धन्य गाथापति ने उसे बहुत सी गाड़ियों व छकड़े दिये जिन्हें ले कर वह अपने पितृगृह गई तथा वहाँ से वे सैकड़ों घड़े धान उनमें लाद कर वहाँ ले आई जहाँ कि परिषद सम्मिलित थी।

जब वह नगर के मध्य से होकर आ रही थी तो नगरवासियों ने

कहा - “देखो-देखो ! जरा धन्य गाथापति की पुत्र-वधु रोहिणी को तो देखो जो धान के पौंच दानों को इतनी गाड़ियों व छकड़ों में भर कर लौटा रही है। रोहिणी जैसी पुत्र-वधु पाकर धन्य भी धन्य हो गया है। ऐसी पुत्र-वधु पुण्य- प्रताप से ही मिलती है।

जब रोहिणी ने धान से भरे हुवे वे गाड़ियों व छकड़े धन्य गाथापति को प्रस्तुत किये तो वह अति प्रसन्न व संतुष्ट हुवा तथा उसने उन्हें अत्यंत हर्ष व परितोष पूर्वक ग्रहण किये। उसने रोहिणी को अत्यंत आदर व सम्मान पूर्वक अपदे पास बिठाया तथा उसे गृह-परिवार की संचालिका नियुक्त की ता यह घोषणा की कि उसकी अनुपस्थिति में आवश्यकता पड़ने पर वह रोहिणी ही उसका स्थान लेने योग्य है।

कथा-बोध -

इस कथा का समापन करते हुवे भगवान ने कहा - ‘हे आयुष्मान श्रमणों ! धन्य गाथापति की उन चार पुत्र-वधुओं की ही भौति श्रमण-श्रमणियों भी चार प्रकार के होते हैं।

जो श्रमण-श्रमणियों संयम-दीक्षा ग्रहण करके भी उसका सम्यक् पालन नहीं करते हैं तथा अपने महाव्रतों को हवा में उड़ा देते हैं वे उज्झिका के समान हैं। वे साधु-वेष में रहकर भी कर्मक्षय नहीं कर पाते हैं, अपने अनंत-संसार की वृद्धि करते हैं तथा संघ में उसी की भौति उपहास, व निंदा के पात्र होते हैं।

जो श्रमण-श्रमणियों संयम-दीक्षा ग्रहण करके भी रसना के स्वाद के प्रति आकृष्ट होकर भोजनासक्ति के कारण उसका सम्यक् पालन नहीं करते हैं वे भोगवती के समान हैं। वे भी अनंत-संसार में भ्रमण करते हैं तथा संघ में उसी की भौति उपहास, व अवहेलना के पात्र होते हैं।

जो श्रमण-श्रमणियों संयम-दीक्षा ग्रहण करके अपने महाव्रतों की

रक्षा करते हुवे उनका सम्यक् पालन करते हैं वे रक्षिका के समान हैं। वे कर्मक्षय द्वारा संसार-सागर को पार करते हैं तथा संघ में उसी की भौति मान-सम्मान व प्रशंसा के पात्र होते हैं। तथा

जो श्रमण-श्रमणियों संयम-दीक्षा ग्रहण करके न केवल अपने महाव्रतों की रक्षा करते हुवे उनका सम्यक् पालन करते हैं अपितु अपनी संकल्पना के अनुसार उनका उत्तरोत्तर वृद्धिगत पालन करते हैं वे रोहिणी के समान हैं। वे कर्मक्षय द्वारा भवांतर में देवलोक की अपार ऋद्धि को प्राप्त करते हैं अथवा संसार-सागर को ही पार करके सिद्ध-बुद्ध और मुक्त हो जाते हैं। वे संघ में उसी की भौति मान-सम्मान व पूजा-प्रशंसा के पात्र होते हैं।

* * *

षष्ठ खण्ड

जीवनोपयोगी जैन-धर्म

१. जैन-धर्म और व्यक्तिगत प्रसन्नता
२. जैन-धर्म और सामाजिक सामंजस्य
३. जैन-धर्म और विश्व-शान्ति
४. जैन-धर्म की पर्यावरणीय चिंताएँ
५. अनेकांत द्वारा प्रभावी प्रबंधन व नेतृत्व
६. जैन सिद्धान्तों से व्यक्तित्व-विकास

इस खण्ड में हमारा उद्देश्य जैन-धर्म के व्यवहारिक पक्ष को उजागर करना है कि किस प्रकार इसके सार्वभौम सिद्धान्त व्यक्ति, समाज व विश्व के सम्मुख उपस्थित समस्याओं का निराकरण करने में समर्थ हैं। यहाँ हम छः प्रसंगों में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, लिंगानुशासन, अपरिग्रह, विनय, अनेकांत आदि के संदर्भ में जैन-धर्म की व्यवहारिकता एवं प्रभावकता का अवलोकन करेंगे।

जैन-धर्म और व्यक्तिगत प्रसन्नता

व्यक्तिगत प्रसन्नता -

जब हम व्यक्तिगत प्रसन्नता की बात करते हैं तो हमें हमारा ध्यान उन मसलों व अभिवृत्तियों पर केन्द्रित करना चाहिये जो एक समग्र जीवन के आवश्यक उपादान होते हैं। युगों-युगों से विभिन्न धर्म प्रवर्तकों और चिंतकों ने संसार को दुःख और क्लेशमय बताकर अपना ध्यान केवल संसार-मुक्ति पर ही केन्द्रित किया किंतु जैन-धर्म ने मोक्ष को अंतिम लक्ष्य निर्धारित करते हुवे भी एक सुखी व समग्र जीवन जीने की कला का प्रतिपादन करके जगत में फैले निराशा के वातावरण में आशा की किरण का संचार किया। इस लेख में हमने उन मुद्दों व मसलों का अध्ययन किया है जो जीवन में क्लेश और दुःख के कारण होते हैं तथा यह दिखाने की चेष्टा की है कि किस प्रकार जैन-धर्म के सिद्धांतों का पालन हमें उन दुःखों व क्लेशों से छुटकारा दिलाकर जीवन में सुख और प्रसन्नता का संचार कर सकता है।

यहाँ से आगे बढ़ने से पहले हमें इस प्रश्न का उत्तर दे देना चाहिये कि 'प्रसन्नता क्या है?' विभिन्न शब्दकोश प्रसन्नता को सुख, आराम, संतोष व मनःतोष की अनुभूति के रूप में परिभाषित करते हैं। तदनुसार दुःख व असंतोष की अनुभूति को अप्रसन्नता कहेंगे।

दुःख के कारण -

अब हम उन कारणों पर आते हैं जो जीवन में दुःख, क्लेश व असंतोष को जन्म देते हैं। उन कारणों को दूढ़ना कठिन नहीं है, वे हैं -

मनोज्ञ वस्तुओं व प्राणियों के प्रति राग व अमनोज्ञ वस्तुओं व

प्राणियों के प्रति द्वेष। इसे हम मोह भी कह सकते हैं।

लोभ - अप्राप्त वस्तुओं को हासिल करने की उत्कट लालसा।

मायाचार - घोखाधड़ी के विचार तथा उनका क्रियान्वयन।

क्रोध - इस प्रकार की मानसिकता से तथा हिंसक मनस्थिति से उत्पन्न गुस्सा।

दंभ व मान।

यह अनुक्रम बहुत ही स्पष्ट तथा सुबोध है। मनोज्ञ - सुखदायक वस्तुओं (भौतिक पदार्थ) व प्राणियों (स्वजन-परिजन, दास-दासी, पशुधन आदि) के प्रति राग से उनको प्राप्त करने की अदम्य इच्छा उत्पन्न होती है, यही लोभ है। लोभी व्यक्ति अपनी इच्छित वस्तुओं आदि को दूसरों को वंचित करके प्राप्त करने के लिये माया का सहारा लेता है। यदि उसका मायाचार विफल हो जाता है तथा वह इच्छित वस्तुएँ प्राप्त करने में असफल हो जाता है तो उसमें क्रोध का उदय होता है। क्रोधित व्यक्ति शारीरिक, वाचिक व मानसिक हिंसा का सहारा लेता है जो कि अक्सर अविवेकी व अनुचित होती है। यदि उसका मायावी योजनाएँ सफल हो जाती हैं और वह दूसरों को वंचित करके अपनी इच्छित वस्तुएँ प्राप्त कर लेता है तो उसमें मान कषाय का उदय होता है तथा वह अपने आप को दूसरों से श्रेष्ठ, बुद्धिमान, योग्य व समर्थ मानने लगता है तथा उन पर अपना अधिकार समझने लगता है। तब उसकी इच्छाएँ उसकी आवश्यकताओं से संचालित न होकर उसके दंभ से संचालित होती हैं और वह शोषक बन जाता है। ऐसे अविवेकी व्यक्ति सदैव हठीले व असंगत होते हैं। इस विवेक व तर्कसंगतता के अभाव के कारण ही ऐसे व्यक्ति सर्वत्र सबके लिये तो दुःख और क्लेश उत्पन्न करते ही हैं, उनके स्वयं के जीवन में भी दुःख और क्लेश उत्पन्न होते हैं जिनके लिये भी वह दूसरों को ही उत्तरदायी मानते हैं। यदि यही क्रम अबाध्य रूप से चलता रहे तो उनके दुःख का कोई अंत नहीं होता। इसीलिये लोभ को सभी बुराइयों की जड़ कहा गया है। गीता में भी लोभ को सर्वनाश का कारण माना है।

सर्व दुःखनाशक और सुखदायक जैन-मत -

जब हम जैन-सिद्धांतों पर दृष्टिपात करते हैं तो हम आश्चर्यचकित होकर पाते हैं कि उनमें हमारे इन दुःखों का रामबाण इलाज तथा सुख प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ उपाय छिपा हुआ है।

सही परिप्रेक्ष्य - जैन तत्त्व-दर्शको तथा चिंतकों ने अपने अनुयाइयों को जो सबसे पहला सिद्धांत दिया वह था अपने पर्यावरण की सभी सजीव व निर्जीव पदार्थों के प्रति सही दृष्टिकोण रखने की अपरिहार्यता का सिद्धांत। इसी सिद्धांत को सम्यग्दृष्टि या सम्यग्दर्शन भी कहा जाता है। सम्यक् विचारधारा के अनुसार तो कोई भी प्राणी अपनी आवश्यकतापूर्ति के लिये न्यायसंगत तरीकों से आवश्यक पदार्थ प्राप्त करे यही उचित लगता है। यही सम्यग्दृष्टि हमें अनुचित राग व द्वेष से विमुख करती है तथैव वह हमें मोहपाश से मुक्त करती है। इससे हमें अपनी इच्छाओं के विवेकीकरण व परिसीमन में सहायता मिलती है तथा दुःख व क्लेश की जंजीर टूटकर सुख-संतोष की भोर का उदय होता है।

सम्यग्ज्ञान - सम्यग्ज्ञान हमें सही और गलत में भेद करने की योग्यता देता है जिससे हम जीवन में कई अज्ञानमूलक स्खलनाओं से बचे रहते हैं। सम्यग्ज्ञान हमें संसार की अस्थिरता, कार्य-कारण संबंध, क्रिया-कर्म संबंध, कर्म-फल संबंध आदि के विवेचन व मूल्यांकन के द्वारा, सम्यग्दृष्टि या सही परिप्रेक्ष्य के विकास में भी सहायता देता है। वह हमें अविवेकी आचरण के अवश्यभावी दुष्परिणामों का ज्ञान करवाकर उनसे विरत होने की प्रेरणा देता है। अतः वह भी जीवन में सुख-संचार का बहुत ही सशक्त साधन है।

सम्यक्चारित्र - सिद्धांत की बात के उपरांत अब आचार की बात

करना भी उतना ही आवश्यक है। जैन जीवन-प्रणाली में आचार का महत्व बहुत अधिक है। जैन-धर्म को ही चारित्र्याधारित माना गया है, इसी से इसकी महत्ता का आभास होता है। जैन-आचार के दो भेद हैं - श्रमणाचार तथा श्रावकाचार। एक सन्यस्त साधकों के लिये है, दूसरा गृहस्थ उपासकों के लिये। स्पष्ट है कि दोनों आचार-प्रणालियों समानांतर चलते हुवे भी पहली आचारप्रणाली दूसरी की अपेक्षा कहीं अधिक कठिन व कठोर होगी। दोनों में इस बात पर जोर दिया गया है कि असीम इच्छाएँ कभी पूरी नहीं हो सकती हैं तथा वे केवल दुःख, अभाव, क्लेश व असंतोष की भावना को ही जन्म दे सकती हैं। दोनों में आवश्यकताओं व इच्छाओं के सीमन के द्वारा संतोष व आत्मतोष की आराधना तथैव सुख-शान्ति व समाधि की प्राप्ति के उपाय हैं।

श्रमण-जीवन का सुख -

जैन श्रमण-श्रमणियों का जीवन अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह के पूर्ण पालन के पाँच महाव्रतों के द्वारा संचालित होता है जिनके निरतिचार पालन में पाँच समितियों, तीन गुप्तियों, दश मुनिधर्म आदि उनका मार्गदर्शन करते हैं। यदि हम यह अध्ययन करें कि इन महाव्रतों व अन्य मार्गदर्शक व्रतों के पालन का उनके जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है तो हम पाते हैं कि संपूर्ण अपरिग्रह का व्रत उन्हें सभी बुराइयों की जड़ - लोभ से विरत रखता है; ब्रह्मचर्यव्रत जीवन में सबसे सशक्त प्रलोभनों से मुक्त रखकर दुःखों से बचाता है; अचौर्यव्रत के कारण वे दूसरों के स्वामित्व के पदार्थों को लुब्ध दृष्टि से नहीं ताकते हैं तथा जब तक कोई स्वामी स्वेच्छा से उसे उन्हें प्रयोग करने के लिये न दे तब तक उसे ग्रहण नहीं करते हैं; संपूर्ण सत्य का व्रत उनके जीवन में होने वाली समस्त त्रुटियों व खलनाओं को सच्चाई से स्वीकार करके उनका उचित प्रायश्चित्त करके उसे सदा के लिये भूल जाने में सहायक होता है तथा उसको छिपाने के कारण उत्पन्न

अपराधबोध व तज्जन्य तनावों से मुक्त करता है जिससे उनके जीवन में किसी प्रकार का तनाव नहीं होता है; प्राणीमात्र के प्रति अहिंसा, सद्भावना व मैत्री का भाव उनके मन-मस्तिष्क में विश्वप्रेम की भावना भर देता है जिससे वे अपने प्रति किये गए अपराधों से भी विचलित न होकर अपराधियों को भी क्षमा कर देते हैं। इससे उनके अंतःकरण में तनाव मुक्ति के साथ-साथ समता व समाधि का अवतरण होता है तथा वे संपूर्ण सुख, संतोष व समाधि का जीवन जीते हैं।

उपासक जीवन-पद्धति का सुख -

जो व्रत व प्रत्याख्यान जैन-धर्म के गृहस्थ उपासकों की जीवन-पद्धति का नियमन करते हैं वे भी मूलतः वही हैं जो सन्यस्त साधकों के लिये हैं। अंतर केवल कठोरता के स्तर का है। व्रत वही हैं, साधक उनका पालन पूर्णरूप से, निरतिचार, कड़ाई के साथ कर सकते हैं और करते हैं क्योंकि उनके सामने गृह-संचालन व जीविकोपार्जन की समस्याएँ नहीं होती हैं किंतु गृहस्थ उपासक उन्हीं पाँच व्रतों - अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह - का पालन केवल आंशिक रूप से ही कर पाता है क्योंकि उसके सामने गृही जीवन की समस्याएँ होती हैं। साधकों के महाव्रतों की अपेक्षा कम कठोर होने के कारण उपासकों के व्रतों को अणुव्रत कहा जाता है। पाँच अणुव्रतों में उपासक किसी भी त्रस जीव की जान-बूझकर संकल्पपूर्वक स्थूल हिंसा, जान-बूझकर दूसरों को हानि पहुँचाने के इरादे से संकल्पपूर्वक बड़ा झूठ बोलने, जान-बूझकर दूसरों को हानि पहुँचाने के इरादे से संकल्पपूर्वक बड़ी चोरी करने, स्वपत्नीसंताप के साथ मैथुन-अनुशासन को नहीं तोड़ने तथा अपरिमित संपदा रखने व अतिभोगोपभोग का त्याग करता है। उनके साथ ही उसके सात सहायक व्रत हैं जो इन पाँच अणुव्रतों के सम्यक् पालन में सहायक होते हैं। ये व्रत ऐसे हैं जो व्यक्ति के निजी जीवन को तो अनुशासित व धर्ममय बनाते ही हैं साथ ही उसे समाज का एक अच्छा घटक भी बनाते हैं। उसका स्थूल अहिंसाव्रत जहाँ उसे प्राणीमित्र बनाता है वहीं उसके चौथा और पाँचवाँ व्रत उसे एक अच्छा नागरिक व अच्छा सामाजिक व्यक्ति बनाते हैं। ये व्रत

उसके जीवन में से उन कारकों को निरस्त कर देते हैं जो अनावश्यक तनाव व संघर्ष पैदा करते हैं तथा जीवन में दुःख और संताप उत्पन्न करते हैं। ये व्रत उपासक के लिये ऐसे वातावरण का निर्माण करते हैं जिसमें वह स्वयं सुखी, संतुष्ट और प्रसन्न रह सकता है तथा दूसरों को भी वैसा ही रहने में निमित्त-कारण बन सकता है।

ध्यान-साधना से तनावमुक्ति -

जैन जीवन-पद्धति में ध्यान का बहुत महत्व है। ध्यान को जहाँ सर्वोत्तम आंतरिक तप माना गया है वहीं चार प्रकार के ध्यानों में से आर्त व रौद्र ध्यानों को अप्रशस्त ध्यान की संज्ञा देकर उन्हें त्याज्य बताया है। स्पष्ट है कि जैन जीवन-प्रणाली में न इष्ट-वियोग व अनिष्ट-संयोग के कारण उत्पन्न आर्तध्यान के लिये कोई जगह है, न ही क्रोध में सुलगते हुवे संकल्प-विकल्पों से प्रेरित रौद्र-ध्यान के लिये कोई स्थान है। जैन-जीवन तो अपनी इच्छाओं व आकांक्षाओं के सीमन व नियमन द्वारा जीवन में समता व समरसता का संचार करके आर्त और रौद्र ध्यानों से ऊपर उठकर स्वयं को धर्मध्यान में स्थित करने का जीवन जीने की राह दिखता है। इस प्रकार जैन ध्यान-साधना पद्धति भी जीवन से दुःख व संताप को दूर करके सुख और शांति का मार्ग प्रशस्त करती है।

उपसंहार -

इस लेख का समापन हम यह कह कर कर सकते हैं कि जैन-सिद्धांत तथा उनके आदेशानुसार अनुसार जिया जाने वाला जीवन तनाव, दुःख, दुर्भावना, क्लेश, संताप, असंतोष, आदि से रहित व सुख-शांति व संतोष से परिपूर्ण जीवन होगा।

दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि *जैन जीवन-प्रणाली सुखी जीवन का मंत्र है।*

जैन-धर्म और सामाजिक सामंजस्य

सामाजिक सामंजस्य का महत्व -

हम सब यह भली भाँति जानते हैं कि यदि समाज फूट, कलह, वर्ग-संघर्ष आदि से धिरा हुआ हो तो उसमें न केवल सामाजिक अपितु व्यक्तिगत जीवन भी संतप्त होता है वहीं जिस समाज को समझौता, समन्वय, सहानुभूति व मेल-मिलाप का वरदान मिला हुआ हो उसमें व्यक्ति व समष्टि दोनों का जीवन सुख-शांति और संतोष से परिपूर्ण होता है। समाज में समन्वित सामंजस्य की स्थिति का होना परमावश्यक है क्योंकि असामंजस्य असंतोष को जन्म देता है तथा सामाजिक उत्थान को अवरुद्ध करता है वहीं सामंजस्ययुक्त समाज ही चहुंमुखी प्रगति करते हैं।

समाज में सामंजस्य का अर्थ है उसके विभिन्न घटकों के बीच अनुभूति, अभिरुचियों, अभिमतों आदि के स्तर पर आपसी समझदारी, सहानुभूति व समझौते का वातावरण हो। जब हम दूसरों के अभिप्रायों, अनुभूतियों, विचारों व दृष्टिकोणों को नहीं समझ पाते हैं तथा उन्हें एक सिरे से अस्वीकार कर देते हैं तो संघर्ष का वातावरण बनता है। ऐसी परिस्थिति में समाज में अनसुलझे कलह और तज्जन्य आपसी वैमनस्य का जन्म होता है। क्योंकि समस्त जीव-जगत का अंतिम ध्येय जीवन में सुख, प्रसन्नता और आनंद का अनुभव करना है, यह तर्कसंगत ही है कि मानव-समाज भी अनादिकाल से विरोधी विचारधाराओं में भी मेल-मिलाप के उपायों की खोज करके सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करता रहा है। जैन तत्त्व-दृष्टा भी इस नियम के अपवाद नहीं हैं तथा जैन-सिद्धांत इस बात की पुष्टि करते हैं कि आत्म-गवेषक होते हुवे भी वे सामाजिक सामंजस्य के द्वारा सुखद वातावरण की खोज में लगे हुवे थे।

इस लेख में हम देखेंगे कि काल के प्रवाह में जैन तत्त्व-दृष्टाओं की यह खोज कितनी सफल रही तथा जैन सिद्धांतों के अनुसार जिया जाने वाला जीवन सामाजिक संघर्षों को सुलझाकर सामाजिक सामंजस्य की स्थापना करने में कितना सफल होता है।

सामाजिक संघर्ष के कारण -

हर समाज या तो सम होता है या विषम होता है। वे समाज जिनके सदस्य एक ही जाति व धर्म के होते हैं तथा समान स्वभाव, अभिरुचियों व अभिवृत्तियों वाले होते हैं वे सम तथा वे समाज जिनके सदस्य अलग-अलग जातियों के, अलग-अलग धर्मों को मानने वाले तथा अलग-अलग स्वभाव, अभिरुचियों व अभिवृत्तियों वाले होते हैं वे विषम कहलाते हैं। हम सहज ही यह अनुमान लगा सकते हैं कि विषम समाजों में सामाजिक संघर्ष की संभावना सम समाजों की अपेक्षा अधिक रहती है। तथापि सम समाजों में भी संघर्ष के अवसर आते ही हैं, वे भी इसकी टीस या कसक से अछूते नहीं हैं। सामाजिक संघर्ष के कारणों को हम निम्न वर्गों में रख सकते हैं: -

१. विषम समाजों में -

- क. धार्मिक असहिष्णुता,
- ख. समाज के विभिन्न घटकों के रीति-रिवाजों के प्रति असहिष्णुता,
- ग. विभिन्न दृष्टिकोणों को समझने की भावना का अभाव,
- घ. जातिगत व सांस्कृतिक भेद-भाव,
- ङ. कुछ सामाजिक घटकों की विस्तारवादी व शोषक-वृत्ति आदि

२. सम समाजों में -

- क. साम्प्रदायिक दृष्टिकोण व महत्वाकांक्षा,
- ख. धन-संपत्ति तथा जन-जर-जमीन के झगड़े,
- ग. व्यक्तिगत दंभ व महत्वाकांक्षाएँ,
- घ. व्यक्तियों व नेताओं की कषाय-वृत्ति,

ड. नैतृत्व की स्पर्धा, आदि

जब हम सामाजिक संघर्ष के इन कारणों पर दृष्टिपात करते हैं तो एक बात स्पष्टतया उभरकर सामने आती है कि इनमें से कोई भी कारण असाध्य नहीं है तथा इनको प्रभावित समाजों के विभिन्न व्यक्तियों, घटकों व नेताओं के समुचित व निष्कपट प्रयासों से सुलझाया जा सकता है। प्रस्तुत लेख में हम यह देख और महसूस कर पाएंगे कि यदि जैन सिद्धांतों का पालन व सामाजिक समस्याओं के निराकरण में उनका निष्ठापूर्वक प्रयोग किया जाय तो उनमें सभी प्रकार की सामाजिक समस्याओं को सुलझाने की क्षमता है। अतः आज के समय में, जब कि सर्वत्र इन कारणों से समाज विघटित हो रहे हैं, जैन-सिद्धांत समय की प्रमुख आवश्यकता हैं।

जैन-धर्म : सामाजिक संघर्षों का समाधान -

लेख के इस भाग में हम यह देखेंगे कि विभिन्न जैन-सिद्धांत किस प्रकार सामाजिक संघर्ष के विभिन्न कारणों का निराकरण करके सामाजिक सामंजस्य को प्रोत्साहित करते हैं। संघर्ष का निवारण करने वाले सबसे प्रभावशाली जैन-सिद्धांत हैं - यथार्थ-दृष्टि, यथार्थ-ज्ञान, अहिंसा, दूसरों की संपदा के अधिकार का सम्मान, लोभ पर अंकुश, सादगीपूर्ण जीवन, अतिभोग से परहेज, कषायों का शमन, सत्याचरण, सत्य-भाषण, लैंगिक अनुशासन, अनेकांत दृष्टि, परस्पर व्यवहार में सम्मान-शिष्टाचार तथा विश्व-प्रेम। अब हम एक-एक करके इनके प्रभावों का आकलन करेंगे।

यथार्थ-दृष्टि -

अधिकतर संघर्ष इसलिये पनपते हैं कि हम मुद्दों को उनके यथार्थ परिप्रेक्ष्य में नहीं देख पाते हैं। जैन विचारधारा में सबसे अधिक बल यथार्थ-दृष्टि के विकास पर दिया गया है अतः यह अपने मतानुयायियों के अंदर एक ऐसी अंतर्दृष्टि विकसित कर देती है कि वे पूर्वाग्रहों से ऊपर उठकर, दृष्टि-विभ्रम से मुक्त होकर मुद्दों को उनके सही परिप्रेक्ष्य में जैसे वे हैं वैसा ही देख पाते हैं। यह अंतर्दृष्टि ही उन्हें सही भूमिका के अभाव में

उत्पन्न होने वाले सामाजिक संघर्षों का निराकरण करने की योग्यता प्रदान करती है। जातिगत, धार्मिक व सांस्कृतिक भेदों पर आधारित संघर्ष यथार्थ-दृष्टि के संप्रयोग द्वारा सरलता से सुलझाए जा सकते हैं।

यथार्थ-ज्ञान -

यथार्थ-ज्ञान का अभाव भी कई बार संघर्ष का जनक होता है। अधिकतर धार्मिक व सांस्कृतिक संघर्ष इस श्रेणि में आते हैं। हम यथार्थ-ज्ञान नहीं होने से दूसरे धर्मों के नियमों, सिद्धांतों व प्रतिमानों की वास्तविकता को नहीं समझ पाते हैं तथा उनके हमारे धर्म के नियमों, सिद्धांतों व प्रतिमानों से भिन्न होने से आशंकित हो जाते हैं। इस प्रकार यथार्थ-ज्ञान का अभाव दो धर्मों के बीच संघर्ष उत्पन्न करता है। अतः जहाँ हम अपने धर्म व अपनी संस्कृति की जानकारी रखते हैं वहीं अन्य धर्मों व संस्कृतियों के बारे में भी सम्यक् जानकारी रखें तो प्रथमतः तो संघर्ष पैदा ही नहीं होंगे और पहले से चले आ रहे संघर्ष भी त्वरित गति से तिरोहित हो जाएंगे। जैन-मत में यथार्थ-ज्ञान का महत्व इसी बात से जाना जा सकता है कि इसे भी मुक्ति-मार्ग के तीन अंगों के रूप में माना जाता है।

अहिंसा -

यदि हमें जैन-धर्म के सर्वाधिक महत्वपूर्ण सर्वोपरि सिद्धांत के बारे में पूछा जाए तो निस्संदेह वह अहिंसा का सिद्धांत ही होगा। हम इस बात की अनुभूति सहज ही कर सकते हैं कि सभी संघर्षों के मूल में हिंसक विचार होते हैं तथा जब ऐसे विचारों का क्रियान्वयन होता है तो संघर्ष न केवल बढ़ते हैं बल्कि वे हिंसक भी हो जाते हैं। जैन-धर्म विचार व क्रिया दोनों स्तरों पर हिंसा के त्याग का उपदेश देता है तथा सभी संघर्षों के निराकरण के लिये-आपसी बात-चीत आदि अहिंसक तरीकों के प्रयोग का पक्षधर है। कहना नहीं होगा कि जीवन में जैन-धर्म के इस मूलभूत सिद्धांत को अपनाने से ही वैयक्तिक व सामाजिक संघर्षों के समाधान में बहुत सहायता मिलेगी।

दूसरों की संपदा के अधिकार का सम्मान -

इतिहास इस बात का साक्षी है कि जर और जोरू (wealth and women) अधिकतर संघर्षों के लिये कारणभूत रहे हैं। श्रमणों व श्रावकों के तीसरे व्रत के अनुसार उन्हें दूसरों की संपदा के अधिकार का सम्मान इस सीमा तक करना है कि वे किसी के स्वामित्व की दत्तौन जैसी छोटी से छोटी तुच्छ वस्तु भी बिना उसकी अनुमति के नहीं ले सकते हैं, फिर किसी की संपदा को चोरी अथवा जोर-जबरदस्ती से हथियाने की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती है। अगर इस सिद्धांत का पालन ईमानदारी से किया जाए तो न तो संपदा संबंधी विवाद पैदा होते हैं अगर होते भी है। तो शीघ्र समाधान पा लेते हैं। यह नियम सम और विषम दानों प्रकार के समाजों के लिये समान रूप से लागू होता है। इस विषय का दूसरा पहलू है लोभ का संवरण। हम पूर्व में यह सिद्ध कर चुके हैं कि लोभ ही सब बुराइयों की जड़ है। अधिकतर संघर्ष भौतिक व भावनात्मक वस्तुओं प्रति लोभ-लालच से ही प्रारंभ होते हैं। जैन श्रमणों के परिग्रह के सर्वथा त्याग तथा गृहस्थ उपासकों के लिये भी उसके सीमन तथा भोगोपभोग की अति के त्याग के व्रतों से जीवन में सादगी के प्रादुर्भाव द्वारा अनियंत्रित लोभ के कारण होने वाले सभी संघर्षों का अंत होता है।

कषायों का शमन -

लोभ के साथ ही संबद्ध पक्ष क्रोध, मान व माया रूपी कषायों का भी है। ये कषाय भी न केवल संघर्ष की अग्नि को प्रज्वलित करते हैं अपितु उसे हवा भी देते हैं। जैन-सिद्धांत के अनुसार कषाय ही वह गोंद है जो कर्म-द्रव्य को आत्मा के साथ चिपकाता है आबद्ध करता है तथा उसकी आध्यात्मिक प्रगति को अवरुद्ध करता है। अतः सभी सम्यक् विचारधारा वाले श्रद्धालु मतावलंबी अपने स्वहितार्थ कषाय-शमन के लिये प्रयत्नरत रहते हैं। कहना नहीं होगा कि कषायों के शमन के साथ ही तज्जन्य संघर्षों का भी शमन हो जाता है।

सत्यवादिता -

झूठ, झूठ और झूठ। ऐसा लगता है कि कुछ लोग झूठ बोलने से कभी बाज नहीं आते हैं, न ही कभी हिचकिचाते हैं। किंतु हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि कई संघर्षों के मूल में झूठ होता है। झूठ जब पकड़ा जाता है तो अविश्वास को जन्म देता है जो संघर्ष का कारण बनता है। जैन-धर्म का मृषावाद (असत्य भाषण) के सर्वथा त्याग का दूसरा सार्वभौम सिद्धांत अपने अनुयाइयों को न केवल जानबूझकर प्रत्यक्ष असत्य भाषण से विरत होने का आदेश देता है अपितु परोक्ष रूप से भी असत्य का सहारा लेने का निषेध करता है। स्पष्ट है, इस व्रत का व्यक्तिगत व सामाजिक जीवन में निष्ठापूर्वक पालन करने से संघर्ष-मुक्त समाज का निर्माण होगा।

लैंगिक अनुशासन -

जैन-धर्म अपने मतावलंबियों को चतुर्थ व्रत के अनुसार श्रमणों के मैथुन-विरमण महाव्रत व उपासकों के मैथुन-परिमाण व स्वदारा-संतोष अणुव्रत के रूप में कठोर लैंगिक अनुशासन पर बल देता है तथा समाज में अविवेकपूर्ण कामाचार पर अंकुश लगाता है। स्पष्ट है इससे लैंगिक अपराधों में कमी आती है, समाज स्वेच्छाचारिता से मुक्त होकर सभ्यता की ओर अग्रसर होता है तथा संघर्ष के प्रमुख कारण 'जन' के कारण होने वाले संघर्षों से मुक्ति पाता है।

अनेकांत दृष्टि -

दृष्टिभेद के कारण होने वाले संघर्षों का उपचार तथा सामाजिक सामंजस्य का एक प्रमुख कारक है अनेकांत का सिद्धांत। अनेकांतवाद कहता है कि इस सतत परिवर्तनशील संसार में कुछ भी सर्वथा निश्चित नहीं है। एक ही पदार्थ या विचार के अनेक पक्ष होते हैं अतः न कोई निरपेक्ष सत्य होता है न ही कोई निरपेक्ष असत्य होता है, हर चीज सापेक्ष होती है। सापेक्ष सत्य के अनेक बल्कि अनंत पहलू होते हैं तथा यह आवश्यक नहीं कि उसका जो पहलू हम देखते हैं दूसरा भी वही देखे। सत्य के अनंत पहलुओं का दिग्दर्शन तो केवल अनंतज्ञानी-अनंतदर्शी ही कर सकता है, अन्य सीमित ज्ञान-दर्शन वाले सामान्यजन तो उसके कुछ ही

पहलुओं को देख और जान पाते हैं। अतः अपने सीमित ज्ञान को ही सर्वथा सत्य मान लेना तो न केवल अबुद्धिमत्तापूर्ण होगा अपितु सत्य की गरिमा को ही नष्ट करके संघर्ष को न्योता देना होगा। यह बोध हममें दूसरों के विचारों का सम्मान करके संघर्ष-समाप्ति की ओर बढ़ना सिखाता है।

विश्व-प्रेम -

विश्व-प्रेम की भावना इस जैन मंत्र में प्रतिभासित होती है जो कहता है - “हे देव ! मुझे सदा यह वरदान दो कि मेरी प्राणीमात्र के प्रति मैत्री की भावना हो, गुणिजनों के प्रति प्रमोद का भाव हो, दीन-दुःखियों के प्रति मुझमें दया और करुणा हो तथा विपरीत परिस्थितियों में भी मैं विचलित न होऊँ”। अधिकतर संघर्ष दूसरों के प्रति शत्रुता के भावों के कारण उत्पन्न होते हैं। अतः जब हमारी धमनियों में रक्त के साथ-साथ ‘मिती मे सव्व भूएसु’ में अभिव्यक्त विश्व-प्रेम की भावना भी प्रवाहित होने लगेगी तो वह शत्रुता के भावों को समाप्त करके सभी संघर्षों से मुक्ति का मार्ग भी प्रशस्त करेगी। ऐसे विश्व-प्रेम की भावना से संचालित विश्व के समाजों में भी सुख, चैन व सामंजस्य का निर्झर सतत बहता रहेगा।

उपसंहार -

सामाजिक सौहार्द के इस लेख का समापन हम इस कथन के साथ करते हैं कि जैन जीवन-पद्धति का मूल मंत्र ही शत्रुता को समाप्त कर, संघर्षों से ऊपर उठकर व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन में सामंजस्य की स्थापना करना है। अतः जैन-धर्म का अवलंबन व जैन-सिद्धांतों का पालन सामाजिक सामंजस्य का मार्ग प्रशस्त करता है।

जैन-धर्म और विश्व-शान्ति

विश्व-शान्ति : समय की पुकार -

आज का विश्व संघर्ष और आतंक से ग्रस्त है। वह युद्ध और आतंक के खतरों से झूझ रहा है। जातीय संघर्ष अपने चरम पर हैं तथा विभिन्न धर्मान्धतावादी समूह (fundamentalist groups) अपनी उपस्थिति का अहसास करवाने के लिये तथा इनका राजनैतिक लाभ उठाने के लिये इन संघर्षों को हवा दे रहे हैं। विश्व आज असुरक्षा के कगार पर खड़ा है। कुछ ताकतवर देशों के राजनैतिक व आर्थिक आधिपत्य (economic hegemony) तथा कुछ जातीय समूहों की आतंककारी प्रवृत्तियों ने परिस्थिति को और भी जटिल बना दिया है। हम विश्व में जहाँ भी दृष्टि डालते हैं हमारी दृष्टि युद्ध, आतंक और झगड़े से ग्रस्त जगहों पर ही पड़ती है। फिर चाहे वह मध्य-पूर्व हो, सुदूर-पूर्व हो या फिर दक्षिण-पूर्व हो। अरब-इजरायल संघर्ष एक रिसता हुआ वृण हो गया है, संयुक्त राज्य अमेरिका ने अफगानिस्तान में अपनी पसंद की सरकार बनाकर स्थिति सुदृढ़ की है, इराक में युद्ध के बूते पर अपना कब्जा जमाया है, उत्तरी कोरिया अमेरिकी नाराजगी की परवाह न करते हुवे अपने घातक हथियारों में वृद्धि किये जा रहा है, पाकिस्तान आज भी कश्मीर में आतंककारी गतिविधियों को अपना सक्रिय आर्थिक, सैनिक, व राजनैतिक समर्थन जारी रखे हुवे है तथा श्रीलंका का जातीय संघर्ष हजारों निर्दोष जानें लेने के बाद भी शान्त होने के समीप दिखाई नहीं देता है। इनके अतिरिक्त कई अंतर्देशीय विद्रोही गतिविधियाँ भी हैं जिनके पीछे विभिन्न राजनैतिक, आर्थिक, जातीय व धार्मिक कारण हैं। वे सब संघर्ष हिंसक हैं तथा अपने पीछे मौत और विनाश छोड़ जाते हैं। आज विश्व उनकी पकड़ में है तथा शान्ति और सौहार्द की आशा में भविष्य की ओर निहार रहा है।

संघर्ष के कारण -

संघर्ष के कारणों को हम निम्न चार वर्गों में बाँट सकते हैं: -

राजनैतिक - वर्ग विशेष की राजनैतिक आकांक्षाएँ, जो कुछ मामलों में न्यायसंगत तथा अधिकतर असंगत होती हैं, जब पूरी नहीं होती हैं तो उनकी अभिव्यक्ति हिंसक रूप में होने लगती हैं तथा संघर्ष का जन्म होता है। ऐसी राजनैतिक आकांक्षाएँ चाहे वे न्यायसंगत हों या असंगत, उनकी परिणति सदैव मानवीय त्रासदी के रूप में होती है तथा उनके द्वारा प्रायोजित संघर्षों में न केवल मानव-जीवन अपितु अन्य जीवधारियों के जीवन की क्षति भी प्रभूत मात्रा में होती है। दुनिया के नक्शे पर इस प्रकार के संघर्षों के उदाहरणों की भरमार है - रूस में चेचेन आंदोलन, श्रीलंका का तमिल संघर्ष तथा कश्मीर में जारी विद्रोह व आतंककारी गतिविधियाँ इसके ज्वलंत उदाहरण हैं।

आर्थिक - जब एक देश या समूह दूसरे देशों या समूहों का आर्थिक शोषण करता है, उसके आर्थिक हितों के विरुद्ध कार्य करता है अथवा उनके आर्थिक संसाधनों का अनुचित दोहन करने लगता है तो संघर्ष अवश्यंभावी हो जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के द्वारा मध्य-पूर्व के तेल-संसाधनों को नियंत्रित करने की आकांक्षा तथा इराक पर उसका हमला इस प्रकार के संघर्ष के प्रत्यक्ष उदाहरण है।

जातीय - किसी जातीय समूह द्वारा दूसरे जातीय समूह के प्रभुत्व से अपने आपको स्वतंत्र करने के प्रयास के कारण अथवा किसी एक जातीय समूह द्वारा अपने संख्याबल अथवा अन्य कारणों से ताकतवर होने के कारण दूसरे जातीय समूह की न्यायसंगत मांगों को मानने से इनकार करना सदैव जातीय मतभेदों को जन्म देता है जिनकी परिणति हिंसक संघर्ष में होती है। दक्षिणी अफ्रीका का अश्वेत आंदोलन, अरब-इजरायली संघर्ष, श्रीलंका का तमिल आंदोलन तथा रूसी-चेचेन संघर्ष को हम इस दृष्टि से देख सकते हैं।

धार्मिक - जब एक धार्मिक समूह दूसरे धार्मिक समूह पर प्रभुत्व जमाने का प्रयास करता है अथवा दूसरों को लोभ-लालच से या बलात् धर्मान्तरण

करवाने के प्रयास करता है अथवा भौगोलिक या राजनैतिक कारणों से एक साथ रहने को विवश विभिन्न धार्मिक समूहों में आपसी सहिष्णुता का अभाव होता है तो धार्मिक संघर्ष को टाला नहीं जा सकता है। धार्मिक कट्टरपन तथा किसी धर्म के अनुयाइयों की विस्तारवादी प्रवृत्ति भी धार्मिक संघर्षों का एक प्रमुख कारण है। धार्मिक उन्माद या कुछ मिशनरी समूहों द्वारा व्यवस्थित रूप से किये जाने वाले धर्मान्तरण के कारण होने वाले संघर्ष इस श्रेणि में आते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि यह एक कारण ही विश्व में होने वाले संघर्षों का प्रमुख कारण है। चाहे वह ११ सितंबर को विश्व व्यापार केन्द्र पर हुवा आत्मघाती हमला हो अथवा भारत व इंडोनेशिया में हुवे आतंककारी हमले हों, सबका एक ही संदेश है - धार्मिक उन्माद, धर्मान्धता व धार्मिक असहिष्णुता तथा धार्मिक विस्तारवाद का अर्थ है संघर्ष, आतंकवाद, युद्ध व विनाश।

इन प्रमुख कारणों के अतिरिक्त भी कई कारण हैं जो विश्व-शान्ति के लिये संकट है तथा यदि हमारा ध्येय विश्व-शान्ति है तो इन्हें हमें नजरअंदाज नहीं करना चाहिये। वे कतिपय कारण निम्नानुसार हैं: -

अहंकेन्द्रित विचारधारा - जब कोई व्यक्ति अथवा समूह यह सोचने लगता है कि जो वह सोचता है वही सही है तथा अन्य सब गलत है तो उसका अर्थ है अशान्ति। कारण यह है कि दूसरे व्यक्ति व समूह भी वैसा ही सोचने के लिये स्वतंत्र हैं तथा संघर्ष अपरिहार्य हो जाता है। ऐसी विचारधारा को एकांतवादी विचारधारा कहा जाता है तथा यह संघर्ष की जननी है। आज तक हुवे सभी प्रकार के धार्मिक मतभेद व विभिन्न धर्म-समुदायों के बीच होने वाली शत्रुता तथा जिहाद व कूसेड आदि के रूप में लड़े गए धर्म-युद्ध इसी मानसिकता के चलते लड़े गए थे।

आर्थिक असमानता - जब धन का संग्रह कुछ ही हाथों में हो जाता है तो वह दूसरों के विद्वेषपूर्ण ध्यान को आकर्षित करता है। इस आर्थिक असमानता के मूल में लोभ है चाहे वह व्यक्तिगत स्तर पर हो या

अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर।

तनाव - अनुचित व असंतुलित महत्वाकांक्षा, फिजूलखर्ची तथा समझदारी का अभाव तनाव को जन्म देता है। यदि तनावों को अनसुलझा छोड़ दिया जाय जो वे मानसिक असंतुलन मनोविकृति व हिंसा के रूप में प्रकट होते हैं तथा व्यक्तिगत, सामाजिक व राष्ट्रीय जीवन में शान्ति, सौहार्द्र व सद्भाव को नष्ट करते हैं।

विज्ञान व प्रौद्योगिकी का अनैतिकतापूर्ण उपयोग - वैज्ञानिक व प्रौद्योगिक अविष्कार न केवल मानवता के लिये अपितु विश्वभर के प्राणियों के लिये वरदान के रूप में सोचे गए थे किंतु उनके अनैतिकतापूर्ण प्रयोग के कारण सूक्ष्महिक संहार के आणविक, रासायनिक व जैविक हथियारों के अविष्कार द्वारा वे अभिशाप बन कर रह गए हैं। इन हथियारों के उत्पादकों के द्वारा उनके विपणन के लिये अपनाए गए अनैतिक तरीकों के कारण कई प्रायोजित युद्ध हुवे हैं तथा आज भी ऐसे युद्धों की भूमिकाएँ बन रही हैं। ऐसे अनैतिक व बेईमान शस्त्र-उत्पादकों के द्वारा प्रेरित पक्ष युद्ध करते हैं तथा विवश होकर युद्धक सामग्री के लिये उनका मुँह ताकते हैं। अंततः विनाश व संताप की पीड़ा तो उनकी निरीह प्रजा को ही झेलनी पड़ती है।

संघर्ष-समाप्ति व विश्व-शान्ति के लिये जैन समाधान -

जैन-धर्म उपरोक्त सभी समस्याओं का, जो संघर्ष और अशान्ति उत्पन्न करती हैं, समाधान प्रस्तुत करता है। जैन-धर्म के अहिंसा, सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह और सीमित संपदा व भोगोपभोग, मतान्धता का अभाव तथा सार्वभौमिक प्रेम व मैत्री जैसे सिद्धान्त संघर्ष-समाप्ति की दिशा में दूरगामी परिणाम देते हैं। अगले अनुच्छेदों में हम यह देखेंगे कि इनमें से प्रत्येक सिद्धान्त किस प्रकार संघर्ष-समाप्ति व विश्व-शान्ति की स्थापना में अपना योगदान देता है।

अहिंसा -

अहिंसा संघर्ष-शमन का एक सबसे बड़ा व अचूक कारक है। यह

अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी उतना ही प्रभावी सिद्ध होता है जितना कि राष्ट्रीय, सामाजिक व व्यक्तिगत स्तरों पर। यहाँ मैं यह उल्लेख करना चाहूँगा कि जब तक भारत व चीन दोनों ने *पंचशील* के सिद्धांत का निष्ठापूर्वक पालन किया उनका संघर्ष शमित रहा, कभी भी उभर कर सतह पर नहीं आया। अहिंसा के सिद्धांत का पालन करने से न केवल राष्ट्रों के मध्य संभावित युद्धों को टाला जा सकता है बल्कि छोटी-मोटी झड़पों से भी बचा जा सकता है। उस महान मानवतावादी सिद्धांत की समझ से विकट से विकट आतंककारी के मन में भी बेकार की हिंसा के प्रति विरक्ति के भाव पैदा हो सकते हैं तथा वह भी हिंसा व आतंक से विरत हो सकता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि इस जैन सिद्धांत की स्वीकृति व प्रयुक्ति से विश्व में हिंसा के वातावरण से मुक्ति मिलकर विश्व-शान्ति व प्रशान्तता का मार्ग प्रशस्त होगा।

सत्य -

राजनय का अर्थ आजकल 'कहना कुछ और करना कुछ और' हो गया है जो इसका बहुत ही विकृत रूप है। यह विचित्र नीति कुछ समय तक तो वांछित परिणाम दे सकती है किंतु जब इस नीति से ठगे गए पक्ष को यह समझ में आ जाता है कि वह चतुराई भरे राजनयिक दोंवपेंच के द्वारा ठगा गया है तो उसमें प्रतिपक्ष के प्रति अविश्वास की भावना गहराती है तथा संघर्ष-समाप्ति तो दूर इसकी संभावना और बढ़ जाती है। इस प्रकार के चतुराई भरे छल-छद्म शान्ति स्थापना की प्रक्रिया में सबसे बड़ा रोड़ा बन जाते हैं। यहाँ यह कहना भी तथ्य से परे नहीं होगा कि शस्त्र-उत्पादक देश अपने संहार के साधनों के लिये बाजार स्थापित करने के लिये इसी प्रकार के झूठे प्रचार का सहारा लेते हैं तथा पड़ोसी देशों को एक-दूसरे कि विरुद्ध भड़काते रहते हैं, झूठे-सच्चे बहानों से युद्ध के लिये उकसाते रहते हैं। यह कल्पना करना कठिन नहीं है कि यदि कभी केवल सत्य पर आधारित विश्व-व्यवस्था स्थापित हो सके तो वह संघर्ष रहित तथा शांति और सद्भाव मूलक विश्व-व्यवस्था होगी।

अचौर्य -

आम तोर पर जिसे अचौर्य-व्रत कहा जाता है उसका जैन स्वरूप है 'अदत्तादान विरमण'। इसका अर्थ केवल चोरी करने से विरत होना ही नहीं अपितु इससे कहीं अधिक व्यापक है। इसका वास्तविक अर्थ है - 'किसी भी वस्तु का, चाहे वह कितनी भी तुच्छ अथवा अहं क्यों न हो, तब तक ग्रहण अथवा स्वीकार नहीं करना जब तक कि उसका विधिसम्मत स्वामी उसे स्वेच्छा से देने के लिये सहमत न हो'। स्पष्ट है कि जैन-धर्म के इस सिद्धान्त में दूसरों के संपत्ति के अधिकार को अत्यधिक सम्मान दिया गया है। यह भी स्पष्ट है कि इस सिद्धान्त के निष्ठापूर्वक पालन से देशों के बीच क्षेत्र-सीमा के तथा आर्थिक विवाद पैदा ही नहीं होंगे तथा जो विवाद हैं भी वे सरलता से सुलझ जाएंगे। यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि यदि ऐसी व्यवस्था बन सके तो कोई भी विवाद इतना नहीं गहराएगा कि उसे हल करने के लिये शान्ति व सौहार्द की बलि देकर युद्ध जैसे हिंसक तरीकों का प्रयोग करना पड़े। यह सिद्धान्त भौतिक तथा बौद्धिक दोनों प्रकार की संपदाओं पर समान रूप से लागू होता है।

परिग्रह सीमन तथा अतिभोग से विरति -

एक ऐसी विश्व-व्यवस्था की कल्पना कीजिये जिसमें विकसित देश अपनी उन आवश्यकताओं पर अंकुश लगाएँ जो बहुधा अपव्ययी विलासिता और अतिभोग की संस्कृति पर आधारित होती हैं, और अपनी संपदा को उन विकासशील देशों के साथ बाँटें जिनके नागरिकों को मूलभूत आवश्यकताएँ भी उपलब्ध नहीं हैं। क्या ऐसी विश्व-व्यवस्था में अरबों भूखे-नंगे लोग होंगे? स्पष्ट है, इसका उत्तर केवल 'नहीं' में ही दिया जा सकता है। क्या भूख और गरीबी से रहित विश्व में संघर्ष और युद्ध के लिये कोई स्थान होगा? इस प्रश्न का उत्तर भी 'नहीं' ही हो सकता है। यह एक अति आदर्शवादी स्वप्न जैसा लगता है क्योंकि जिस विश्व में हम रह रहे हैं उसकी वास्तविकता से यह बहुत दूर है। किंतु जब तक हम स्वप्न नहीं देखेंगे उन्हें सत्य कैसे करेंगे? वर्तमान निराशाजनक स्थिति को बदलने के लिये हमें ऐसे स्वप्न देखने ही होंगे और जैन-सिद्धान्त हमें ऐसी

ही आदर्श व्यवस्था का स्वप्न दिखाते हैं। यदि विश्व भर परिग्रहसीमन व अतिभोग से विरति का जैन-सिद्धान्त अपना ले तो हमें अशान्ति और विनाशकारी संघर्षों को सदा के लिये अलविदा कहने में देर नहीं लगेगी।

शान्ति व समृद्धि का अग्रदूत : अनेकान्तवाद -

किसी भी देश के शासकों की यह अहंकेन्द्रित विचारधारा कि जिस प्रकार की विश्व-व्यवस्था वे सोचते हैं वही सही है तथा अन्य सब देशों को उसे स्वीकार कर लेना चाहिये, यही नहीं बल्कि जो इस प्रकार की व्यवस्था को स्वीकार न करें उन्हें भली प्रकार से सजा भुगतने के लिये तैयार रहना चाहिये विश्व में संघर्ष का उद्घोष करती है। इस प्रकार की विचारधारा विश्व के लिये विनाश, सर्वनाश का कारण बनती है क्योंकि ऐसी अपमानजनक एकान्त विचारधारा को कोई भी स्वाभिमान संपन्न देश स्वीकार नहीं कर पाएगा। अंततः इस प्रकार की विचारधारा की परिणति हिंसक संघर्ष को ही जन्म देती है। जैन परंपरा का अनेकान्त का सिद्धान्त जिसके अनुसार सत्य के अनेक पक्षों को समान रूप से स्वीकार किया जाता है तथा दूसरे पक्ष को स्वयं के पक्ष जितना ही महत्व दिया जाता है, अंतर्राष्ट्रीय तनाव घटाने तथा संघर्ष विमुक्ति की दिशा में अहं पहल करता है। सभी प्रकार के विवाद चाहे वे जातिगत, धार्मिक, सीमाई अथवा वैचारिक हों, अनेकान्त के सिद्धान्त के प्रयोग द्वारा सरलतापूर्वक सुलझाए जा सकते हैं। क्या अब भी यह कहना आवश्यक है कि यदि सभी विवादों को अनेकान्त की विचारधारा के आश्रित होकर सुलझाने का प्रयास किया जाए तथा यह मान कर चला जाए कि दूसरे पक्ष के कथन में भी सच्चाई का अंश निहित है, तो निश्चित ही सभी विवादों का सर्वसम्मत हल निकलकर शान्ति व सद्भाव की प्राप्ति अपनी पहुंच में होगी।

विश्व-मैत्री -

यदि विश्व-प्रेम, विश्व-मैत्री व विश्व-बंधुत्व की भावनाओं को, जो जैन जीवन-पद्धति में सर्वत्र समाहित है, जो जीव-जगत की सूक्ष्मतम इकाइयों को भी महत्व देती है, जो अपनी आत्मा के समान ही प्राणीमात्र

की आत्मा को मानती है, सार्वभौम रूप से अपना लिया जाय तो उसकी परिणति वैश्विक अहिंसा व सभी के प्रति संवेदना व सहिष्णुता में होगी। जिस विश्व में इस प्रकार के प्रेम व दया के भाव विद्यमान होंगे उसमें हिंसा व हिंसक संघर्षों के लिये कोई जगह नहीं होगी। ऐसा विश्व जटिल से जटिल समस्याओं का हल शान्ति व सामंजस्य के दायरे में रह कर निकाल सकेगा। हम यह भली-भाँति समझ सकते हैं कि जैनत्व के केवल इस एक सिद्धान्त को अपना कर ही विश्व वर्तमान संघर्ष, हिंसा व आतंक की समस्याओं से छुटकारा पा सकता है।

उपसंहार -

इस लेख में हमने उन कारणों व समस्याओं के अध्ययन व समीक्षा का प्रयास किया है जो विवादों, संघर्षों व हिंसक युद्धों, सशस्त्र विद्रोहों, दंगों, आतंकवाद आदि को जन्म देती हैं। अपने इस प्रयास में हमने अशान्ति व संघर्ष के राजनैतिक, आर्थिक, वैचारिक, व अहंकेन्द्रित कारणों को चिन्हित किया तथा उनका अहिंसा, सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह, संपदा-सीमन, अतिभोग-विरमण, विश्व-मैत्री व अनेकान्तवाद आदि जैन-सिद्धान्तों के प्रकाश में विश्लेषण किया। उस विश्लेषण के फलस्वरूप हमने पाया कि यदि विश्व-व्यवस्था में इन महान आदर्शों का समावेश हो जाय तो विश्व से अशान्ति, संघर्ष व अव्यवस्था सदा के लिये विदा हो कर विश्व-शान्ति व वसुधैव कुटुम्बकं का सपना साकार हो जाय।

हमारा यह मानना बिल्कुल तर्कसंगत है कि जैन-धर्म के उदात्त सिद्धान्तों का मार्ग ही ऐसा मार्ग है जिस पर चलकर विश्व अपने आप को आतंक, हिंसक संघर्षों व युद्धों के अभिशाप से बचा सकता है तथा विश्व-व्यवस्था में शान्ति, समृद्धि, सामंजस्य, सद्भावना, व प्रशान्तता का प्रवेश करा सकता है।

हिंसा व आतंक से छिन्न-भिन्न विश्व के लिये जैन-आदर्श ही आशा की एक किरण हैं।

जैन-धर्म की पर्यावरणीय चिंताएँ

पर्यावरणीय विपत्ति -

मानव के लोभ, उसके कारण होने वाले प्राकृतिक संसाधनों के अंधाधुंध दोहन तथा प्रदूषणकारी अपशिष्टों के असावधानीपूर्वक भूतल पर या जलसंसाधनों में प्रवाहित करने या वायुमंडल में छोड़े जाने के कारण हमारे अतिसंवेदनशील पर्यावरणतंत्र पर अत्यंत हानिकर दुष्प्रभाव पड़ा है। इसके कारण होने वाले पारिस्थितिकीय असंतुलन के कारण वर्तमान भौगोलिक पर्यावरण में न केवल मनुष्यों अपितु सभी प्रकार के छोटे-बड़े प्राणियों के लिये जीवन दूभर हो गया है।

जैन-धर्म की पर्यावरणीय चिंताएँ -

‘परस्परोपग्रहो जीवानाम्’ का जैन आदर्श-वाक्य (motto) जैन-धर्म की पर्यावरणीय चिंता को व्यक्त करता है। इस आदर्श-वाक्य का अर्थ है कि सभी प्रकार के जीव, चाहे वे विकास के क्रम में कितने ही नीचे या कितने ही ऊँचे क्यों न हों, परस्पर उपकार करते हैं तथा परस्पर उपकृत होते हैं। अर्थात् वे अपने जीवनयापन के लिये एक-दूसरे पर निर्भर करते हैं, यहाँ तक कि कोई भी जीव या जीवराशि बिना दूसरे के उपकार या सहारे के जीवित ही नहीं रह सकते हैं। इसका सीधा-सीधा अर्थ है कि सभी प्राणियों को जीवित रहने के लिये अन्य प्राणियों के साथ एक प्रकार का संतुलन बनाए रखकर उनके साथ सहअस्तित्व बनाए रखना चाहिये। इस विचार को जैन-धर्म के सर्वोच्च अहिंसा-सिद्धान्त से बल मिलता है जिसके अनुसार प्रत्येक प्राणी को षड्जीव-निकायों के अन्य प्राणियों को प्रति किसी भी प्रकार से हताहत करने से विरत होना चाहिये। यहाँ तक कि सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्थावर ऐकेन्द्रिय - निगोद-वनस्पतिकायिक, पृथ्वीकायिकादि जीवों से लगाकर विकास के सर्वोच्च शिखर पर आसीन

संज्ञी-पंचेन्द्रिय जीवों तक के सभी जीवों के प्रति सम्मान व बराबरी का व्यवहार करना चाहिये क्योंकि वे सब उसके जीवित रहने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

पर्यावरणीय विकृति के कारण -

पर्यावरणीय विकृति तथा पारिस्थितिकीय असंतुलन के कारणों की तलाश में हमें कहीं दूर नहीं जाना होगा, वे सब हमारे आस-पास ही विद्यमान रहते हैं यहाँ तक कि उनमें से कड़्यों के लिये तो हम स्वयं ही उत्तरदायी भी होते हैं। उन्हें हम निम्न वर्गों में वर्गीकृत कर सकते हैं: -

- प्राकृतिक संसाधनों का अनियोजित व अंधाधुंध दोहन,
- मानव जाति द्वारा अतिभोग तथा अपव्ययी उपभोग,
- पारिस्थितिकी-तंत्र से संतुलनकारी तत्त्वों को हटा दिया जाना, तथा
- घरों तथा उद्योगों द्वारा अतिसंवेदनशील पारिस्थितिकी-तंत्र में प्रदूषणकारी अपशिष्टों को प्रवाहित किया जाना।

पर्यावरणीय समस्या का जैन-समाधान -

अपने अहिंसा व जीवों के परस्पर उपकार (निर्भरता) के सिद्धान्त तथा तदनुसार पारिस्थितिकी-तंत्र के विभिन्न अवयवों के बीच सामंजस्य के निरूपण के चलते पहले तो जैन जीवन-पद्धति इन सब कारणों का निरोध करती है तथा दूसरे वह बाधित पारिस्थितिकीय संतुलन को पुनर्स्थापित करने में सहायक भी होती है। भगवान महावीर ने अपने उपदेशों में षड्जीव-निकायों के जीवों के मध्य पारस्परिक समन्वय पर अत्यंत बल दिया तथा कहा, “एक निष्ठावान अनुयायी को छः प्रकार के जीवों की समान रूप से चिन्ता करनी चाहिये तथा ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिये जिससे वे किसी प्रकार से हताहत हों”।⁹

⁹ दशवैकालिक, ४.२६।

जैन जीवन-पद्धति तथा पारिस्थितिकीय संतुलन -

जैन-धर्म इस शाश्वत समस्या के समाधान के लिये धरती के प्राणियों में विकास के सर्वोच्च शिखर पर आसीन मनुष्य को उत्तरदायी बनाता है। इसी कारण जैन जीवन-पद्धति, चाहे वह सर्वविरत अणगार श्रमणों की हो अथवा देश-विरत गृहस्थ श्रावकों की, का विकास उनके विकासक्रम से निरपेक्ष सभी जीवों के प्रति अहिंसा के सार्वभौम सिद्धान्त को केन्द्र में रखकर किया गया है। जैन जीवन-पद्धति में पूर्ण रूप से विकसित मनुष्य से लगाकर विकासक्रम में उससे नीचे के प्राणियों - पशु, पक्षी, मत्स्य, कीट-पतंगे, तथा पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक व वनस्पतिकायिक स्थावर-त्रस एकेन्द्रिय सूक्ष्मजीवों तक के प्रति पूर्ण अहिंसा व दयालुता का भाव निहित है जिसके कारण वह पारिस्थितिकीय संतुलन को बिगाड़ने के सभी कारणों का प्रतिकार करके उसे स्थापित करने तथा बढ़ाने में सहायक होती है। जैन-धर्म के मनीषियों तथा प्रवर्तकों ने यह महसूस किया कि पारिस्थितिकी-तंत्र के अन्य प्राणी भी हमारा बहुत उपकार करते हैं अतः उन्होंने अपने अनुयाइयों के लिये उन जीवों को समाहित करने वाले उन पारस्परिक जीवनरक्षक तंत्रों को नष्ट करने का निषेध किया जो इस प्रकार के पारिस्थितिकीय संतुलन को बनाए रखते हैं।

जैन-धर्म इस समस्या का निराकरण आध्यात्मिक व व्यवहारिक दो स्तरों पर करता है। आध्यात्मिक स्तर पर वह यह मानता है कि पट्जीवनिकायों के जीवों की रक्षा करना तथा ऐसी जीवनशैली को अपनाना जिसमें प्रकृति के साथ कम से कम छेड़छाड़ हो, पाप-निवारक व पूर्वबद्धकर्मक्षयकारक होने से आत्मशोधक तथा आध्यात्मिक रूप से उत्थानकारक है। व्यवहारिक (चारित्रिक) स्तर पर जैन श्रमणों तथा श्रावकों के आचार के नियम इस प्रकार के हैं कि वे उन्हें पारिस्थितिकी-तंत्र (प्रकृति) में किसी प्रकार की विकृति पैदा करने से रोकती है।

जैन-व्रतों से पर्यावरण-संरक्षण -

जहाँ तक जैन श्रमण-श्रमणियों की आचार-प्रणाली का प्रश्न है,

उनके पूर्णअहिंसा, पूर्णसत्याचरण, पूर्णअचौर्य, पूर्णब्रह्मचर्य तथा पूर्णअपरिग्रह के महाव्रत इतने कठोर हैं कि उनकी जीवन-प्रणाली का पारिस्थितिकीय संतुलन के साथ कभी कोई विरोध हो ही नहीं सकता है। अहिंसा के दृष्टिकोण से वे किसी भी प्राणी को न तो मारते हैं न सताते हैं, वे वनस्पति पर नहीं चलते हैं, उसे नहीं कुचलते हैं, फूल और पत्ते नहीं तोड़ते हैं, पेड़ नहीं काटते हैं, किसी भी सचित्त वस्तु का उपयोग नहीं करते हैं तथा इस प्रकार किसी भी प्राणी को हताहत नहीं करते हैं। उनके लिये प्रकृति में किसी भी वस्तु को प्रदूषित करना, छेड़ना, नष्ट करना, नुकसान पहुंचाना आदि उनमें निहित जीवों के प्रति हिंसा है अतः त्याज्य हैं। इसी बात को ध्यान में रखकर वे जयणापूर्वक (ध्यानपूर्वक, सावधानी से) चलते हैं, जयणापूर्वक उठते हैं, जयणापूर्वक बैठते हैं, जयणापूर्वक सोते हैं, जयणापूर्वक खाते हैं तथा जयणापूर्वक बोलते हैं ताकि उनकी इन क्रियाओं के द्वारा किसी भी प्राणी को नुकसान न पहुंचे। उनके पूर्ण अहिंसा के पालन से यह सुनिश्चित होता है कि उनके द्वारा न केवल प्राकृतिक संतुलन न बिगड़े अपितु उसकी सुरक्षा व संरक्षा को बढ़ावा मिले। वे अपने पवित्र धर्म-शास्त्रों के इस कथन का अक्षरशः पालन करते हैं कि सभी जीवों में आत्मा समान है तथा निगोद-वनस्पतिकाय जैसे छोटे से छोटे जीव को हताहत करना भी उतना ही पापक है जितना कि किसी मनुष्य को हताहत करने में होता है। यहाँ तक कि जैन श्रमण-श्रमणियाँ कच्ची वनस्पतियों का सेवन भी नहीं करते हैं, सचित्त जल का उपयोग नहीं करते हैं, गीले स्थानों व पानी से भरे गड्डों पर नहीं चलते हैं, स्नान नहीं करते हैं तथा सामान्यतया, जब तक पार जाने के लिये कोई अन्य मार्ग न हो तब तक, नदी-नालों को पार नहीं करते हैं। उनके सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह व्रत भी पर्यावरण-सुरक्षा में बहुत बड़ी भूमिका निवाहते हैं क्योंकि उनके पालन से वे सभी प्रकार के प्रलोभनों से दूर रहते हैं तथा पूर्ण अहिंसा के पालन के द्वारा पारिस्थिकीय संतुलन को बनाने तथा बनाए रखने में सहायक होते हैं। अन्य बड़े प्रदूषणों की तो बात ही क्या, वे वायुमंडलीय प्रदूषण के प्रति भी इतने सजग होते हैं कि कुछ जैन-संप्रदायों के श्रमण-श्रमणियाँ अपने मुँह पर सदैव एक वस्त्र-पट्टिका (मुखवस्त्रिका)

बाँधे रहते हैं।

जैन अयाजक वर्ग (गृहस्थ उपासक) भी इन व्रतों का पालन करते हैं किंतु आजीविकोपार्जन तथा गृहस्थ-धर्म के निर्वहनार्थ वे उनका पालन उतनी कठोरता से नहीं कर पाते हैं। उनके स्थूल हिंसा विरति, स्थूल असत्याचरण विरति, स्थूल अदत्तादान विरति, लिंगानुशासन व स्वदारासंतोष और परिग्रह-परिमाण तथा अतिभोगोपभोग विरति के अणुव्रतों के पालन से उनकी जीवनशैली भी ऐसी ही बन जाती है कि उसका पर्यावरण पर विशेष प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता है। इसके अतिरिक्त कि कई जैन उपासक-उपासिकाएँ भी साधक-साधिकाओं के लिये विहित अनेक नियमों का कड़ाई से पालन करते हैं, वे कुछ ऐसी आजीविकाओं तथा उद्योगों से भी परहेज करते हैं जिनमें सूक्ष्म या स्थूल जीवों की अधिक हिंसा होने की संभावना रहती है। वे वन-कर्म, भट्टी-कर्म, खनि-कर्म, ताल-शोषण, कल्लखानों, मांस-मदिरा आदि के उद्योग व व्यवसाय नहीं करते हैं। वे ऐसे उद्योग-धंधे भी नहीं लगाते हैं जिनसे पर्यावरण में भूमि, जल या वायु के लिये हानिकारक प्रदूषक अपशिष्टों का विसर्जन होता है। वे शिकार आदि हिंसक गतिविधियों में सम्मिलित नहीं होते हैं तथा शिकारी जानवर या गुंडे पालने जैसे अपकृत्य भी नहीं करते हैं। सामान्यतया वे जंतुनाशकों का प्रयोग नहीं करते हैं तथा ऐसे सभी कृत्यों से विरत रहते हैं जिनमें प्रकृति व पारिस्थितिकी के अवयवी जीव-जंतुओं का सामूहिक संहार होने की संभावना हो। वे इन्हें महारंभ की संज्ञा से सूचित करते हैं तथा इनमें प्रवृत्त होने को निंदनीय मानते हैं। कुछ उपासक तो दिनदिन प्रयोग में आने वाले जल की मात्रा तथा वनस्पतियों का भी सीमन कर लेते हैं।

शाकाहार : पर्यावरण-रक्षण का सबसे महत्वपूर्ण घटक -

शाकाहार सभी जैन साधकों व उपासकों के लिये एक अलंघ्य निषेधादेश है। इसमें कोई दो राय नहीं कि यह सबसे महत्वपूर्ण पारिस्थितिकीय संतुलनकारक भी है। मांसाहार कितना खाद्य-संसाधन अपव्ययी है यह इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि एक मांसाहारी व्यक्ति

जितने पशु-पक्षियों का भक्षण एक माह में कर लेता है वे इतना शाकाहारी भोजन खा जाते हैं जिससे सैंकड़ों शाकाहारी व्यक्ति पूरे वर्षपर्यंत पर्याप्त भोजन प्राप्त कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त मांसाहारी व्यक्ति प्राकृतिक भोज्य-शृंखला (food-chain) को ही बाधित कर देता है। इस प्रकार मानव द्वारा मांसाहार कई मायनों में पर्यावरण-क्षतिकारक है। इसे हम निम्न बिंदुओं के द्वारा अधिक स्पष्टता से देख सकते हैं: -

मांसाहार पारिस्थिकी-तंत्र से उन प्राणियों को विलुप्त कर देता है जो शिकारी जानवरों का प्राकृतिक भोजन हैं।

वह कई उन वनस्पतियों का नाश कर देता है जो मांसाहार की आपूर्ति के लिये अप्राकृतिक रूप से पाले गए पशुओं द्वारा खा लिये जाते हैं।

वह कई प्रकार के प्राणी-समूहों के विनाश का कारण बनता है जो अपने प्राकृतिक भोजन के अभाव में विलुप्त हो जाते हैं।

वह प्रकृति के विभिन्न घटकों के साथ छेड़-छाड़ करके पारिस्थितिकीय संतुलन को बिगाड़ देता है।

मांसाहार हेतु पाले गए पालतू पशुओं को खिलाने के लिये वनस्पतिजन्य भोजन की अप्राकृतिक रूप से बढ़ी हुई मांग की आपूर्ति के लिये रासायनिक खाद, जंतुनाशक आदि के प्रयोग से फैला प्रदूषण भी पर्यावरण के लिये अत्यंत हानिकारक सिद्ध होता है।

मांसाहार प्रदान करने वाले कसाईखाने व कत्लखाने भी पर्यावरण में ऐसे अपशिष्ट विसर्जन करते हैं जो भूमि, सतही व भूमिगत जल संसाधनों व वायु को प्रदूषित करते हैं।

ये सब बातें हमें यह निष्कर्ष निकालने के लिये बाध्य करती हैं कि मांसाहार पर्यावरण के लिये अत्यंत विनाशक है।

उपसंहार -

जैन-धर्म की पर्यावरणीय चिन्ताओं पर इस लेख का समापन हम रियो डि जेनेरियो में हुवे अंतर्राष्ट्रीय पर्यावरण सम्मेलन के घोषणापत्र से लिये गए इस उद्धरण से कर सकते हैं जो तत्संबंधित जैन-सिद्धान्त को

बड़ी खूबी से प्रतिध्वनित करता है: -

“हम यह मानते हैं कि ब्रह्माण्ड पवित्र है क्योंकि इसमें हर चीज़ एक है। हम सभी प्रकार के जीवों की पुनीतता और उनके जीवन के अधिकार में विश्वास रखते हैं। हम मानवों के आपसी व उनके अन्य प्राणियों से संबंधों में शान्ति और अहिंसा के सिद्धान्तों की पुष्टि करते हैं।”

“हम पारिस्थितिकीय विघटन को जीवन-तंत्र के प्रति हिंसक अतिक्रमण के रूप में देखते हैं। जैव-प्रोद्योगिकी जीवन-तंत्र को ही संकट में डालती है। हम सभी सरकारों, वैज्ञानिकों और उद्योगों से यह आग्रह करते हैं कि वे जैव-तकनीकों के अविवेकी प्रयोग के प्रति सावधान रहे।”

डॉ. एन. पी. जैन के अनुसार -

“जैन पारिस्थितिकीय चेतना दैविक पावनतावाद तथा शोषणहीन विज्ञान व तकनीकी के सम्यक् मिश्रण पर आधारित है। धर्म और विज्ञान को एक-दूसरे की उपेक्षा करने तथा नकारने के बजाय एक-दूसरे के साथ-साथ चलना चाहिये तथा मानव-जाति को ऐसा मार्ग दिखलाना चाहिये जिस पर चलकर वह आध्यात्मिकता के आलोक में अपनी धरती तथा उसके प्राकृतिक संसाधनों की रक्षा कर सके। इस तरह जैन-धर्म के द्वारा दिखलाए गए वैज्ञानिकता, तार्किक वैचारिकता तथा व्यवहार की सम्यकता आज के वातावरण में, जब कि पारिस्थितिकीय चिंताएँ मुँह बाएँ खड़ी हैं, बहुत ही प्रासंगिक हैं।”

“जैन-दर्शन मनुष्य जाति को धरती माँ की श्री, मनोहारिता व गरिमा और मर्यादा की रक्षा तथा उसकी प्राकृतिक उत्पादकता व जीवंतता की वृद्धि के प्रयासों के लिये प्रेरित व प्रोत्साहित करता है। अंततः सभी मानव, प्रकृति तथा अन्य प्राणी भी इस जैव-एकता के ही भाग हैं जो क्षेत्र और काल के अंतहीन प्रवाह में भी एकाकार हैं।”

जैन-धर्म की तो अनादिकाल से यही मान्यता रही है।

अनेकांत द्वारा प्रभावी प्रबंधन व नेतृत्व

प्रबंधन व अनेकान्तवाद -

प्रबंधन से तात्पर्य है 'संगठन के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये संसाधनों के समुचित संप्रयोग की कला'। यहाँ मुख्य रूप से 'संसाधनों के समुचित संप्रयोग' पर बल दिया गया है। यदि संसाधन असीम होते अथवा सांगठनिक उद्देश्यों को प्राप्त करने की कोई बाध्यता नहीं होती तो किसी भी प्रकार के प्रबंधन की कोई आवश्यकता ही नहीं होती। लेकिन चूंकि संसाधन सीमित हैं तथा सांगठनिक उद्देश्यों को प्राप्त करने की बाध्यता भी है, प्रबंधन-कला का होना भी आवश्यक है। प्रबंधन की आवश्यकता सभी संगठनों को होती है। संगठनों को हम मोटे तौर पर दो वर्गों में वर्गीकृत कर सकते हैं - १. पहले सेवा-क्षेत्र के संगठन हैं जो केवल मानव-संसाधन की सेवाएँ उपलब्ध करते हैं तथा किसी प्रकार के भौतिक उत्पाद का उत्पादन और विपणन नहीं करते हैं। २. दूसरे औद्योगिक संगठन हैं जो भौतिक पदार्थों का उत्पादन और विपणन करते हैं। पहले वर्ग के संगठन मूलतः मानव-संसाधन के संगठन होते हैं जो अपनी श्रेष्ठ सेवा प्रदान व सफलता के लिये मुख्यतः मानव-संसाधन-प्रबंधन पर निर्भर करते हैं। दूसरे प्रकार के संगठन अधिक व्यापक होते हैं तथा वे वित्त, भूमि-भवन-मशीन, माल, विपणन व मानव संसाधनों के प्रबंधन पर निर्भर करते हैं। समय-संसाधन दोनों प्रकार के संगठनों में समान रूप से प्रभावी होता है। किसी भी संसाधन के प्रबंधन में एक प्रबंधक को स्वयं के निर्णयों एवं संगठन की लाभकारिता को प्रभावित करने वाले अनेक घटकों व कारकों पर ध्यान देना पड़ता है। यही पर उसके लिये अनेकांत की बहुआयामी सोच का महत्व होता है।

अनेकांत या बहुआयामी सोच का अर्थ है किसी भी मुद्दे पर उसके अधिक महत्वपूर्ण पक्षों से प्रभावित हुवे बिना सभी संभव कोणों से विचार

करना। किसी भी मुद्दे पर केवल एक पक्ष को ध्यान में रखकर निर्णय लेना एकांगी मार्ग या एकांत कहलाता है तथा उससे श्रेष्ठ परिणाम प्राप्त नहीं हो सकते हैं। अब क्योंकि कोई भी संगठन अपने प्रबंधकों से उपलब्ध - उद्यमिता, धन, धरा (भवन, फेक्टरी आदि), मशीन, मानव व माल - संसाधनों से श्रेष्ठतम संभव परिणाम (लाभ) प्राप्त करना चाहेगा, प्रबंधकों के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वे बहुआयामी विचार-पद्धति या अनेकांत आधारित कार्यशैली से काम लें। इस प्रकार हम देखते हैं कि अनेकांत विचार-पद्धति का प्रयोग प्रबंधन-तंत्र की प्रभावकता व सफलता के लिये आवश्यक है। इसका प्रयोग मानव-संसाधन के क्षेत्र में उतना ही प्रासंगिक है जितना कि प्रबंधन के अन्य क्षेत्रों (उद्यमिता, धन, धरा, भवन, फेक्टरी, मशीन व माल) में। अनुवर्ती अनुच्छेदों में हम यह देखेंगे कि अनेकांत आधारित प्रबंधनशैली से किस प्रकार संगठन की लाभकारिता को आशानुरूप बढ़ाया जा सकता है।

प्रबंधन में अनेकांत का प्रयोग -

क्योंकि किसी भी संगठन का ध्येय सीमित संसाधनों के प्रयोग द्वारा अधिकतम संभव लाभ प्राप्त करना होता है, वह अपने प्रबंधकों के माध्यम से प्रबंधन की तकनीकों का समुचित संप्रयोग करता है। यहाँ 'लाभ' को परिभाषित करना आवश्यक है। 'लाभ' से तात्पर्य सदैव धन-लाभ ही नहीं होता है। यह मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकार का हो सकता है। उदाहरण के लिये जब कोई संगठन कोई उत्पाद बनाकर बेचता है तो उसकी बिक्री से प्राप्त आय में से उत्पादन (पूंजी पर ब्याज, धरा-भवन का किराया, मशीन का घिसाव, कामगारों व प्रबंधकों का वेतन आदि) व विपणन (विपणन कर्मियों का वेतन, वितरकों व अभिकर्ताओं का कमीशन, विक्रेताओं का मुनाफा आदि) पर हुवे व्यय को घटाने पर प्राप्त धनात्मक अंतर उस संगठन का लाभ कहलाता है तथा इसे धन के रूप में आकलित किया जा सकता है। लेकिन जब धर्मोपदेशक-याजकों का एक धार्मिक संगठन धर्म-प्रचार करता है तो लाभ यजमानों के आध्यात्मिक उत्थान व समाज के

नैतिक उत्कर्ष के रूप में प्राप्त होता है जिसे गणनीय धन के रूप में आकलित नहीं किया जा सकता है। तथापि दोनों संगठनों को अपने संसाधनों से श्रेष्ठ प्रतिफल प्राप्त करना होता है तथा उसे सुनिश्चित करने के लिये उसे कई मुद्दों के कई पक्षों पर विचार करना पड़ता है। यह किसी भी मुद्दे के एक से अधिक पक्षों पर विचार करके एक-दूसरे के विरुद्ध लगने वाले पक्षों को समन्वित करके सम्यक् निर्णय लेने की पद्धति ही अनेकांत आधारित प्रबंधन-पद्धति है।

सांगठनिक तत्त्व और अनेकांत -

किसी भी संगठन को प्रभावी रूप से कार्य करने के लिये कुछ मूलभूत तत्त्वों की आवश्यकता होती है। निम्न में से एकाधिक सांगठनिक अंग प्रभावी संगठन के लिये आवश्यक हैं: -

उद्यमिता - यह कोई व्यक्ति या व्यक्ति-समूह होता है जो संगठन का संपूर्ण उत्तरदायित्व वहन करता है। वह पूंजी लगाता है, जो अन्य तत्त्वों को क्रय करती है या किराये पर लेती है, तथा लाभ अर्जित करता है या हानि को वहन करता है। इसलिये अंततोगत्वा संगठन के किसी भी मसले पर उद्यमी का निर्णय ही अंतिम और बाध्यकारी होता है। तथापि वह दैनंदिन कार्य-संचालन के लिये व व्यावसायिक दक्षतापूर्ण सहायता प्राप्त करने के लिये प्रबंधकों को निश्चित करता है तथा अपने उत्तरदायित्वों तथा अधिकारों को उन्हें प्रदत्त करता है। छोटे संगठनों में तो उद्यमी ही प्रबंधक भी होता है। उद्यमी अपने उद्योग या व्यवसाय के लिये स्थान का चयन करता है, कितनी पूंजी लगानी है यह तय करता है, मानव-संसाधन को नियुक्त करता है, कच्चे माल को क्रय करने व मशीनों को स्थापित करने से संबंधित निर्णय लेता है। इन सब निर्णयों को लेने में उसे कई विरोधी पक्षों को समायोजित व समन्वित करना पड़ता है। वह इन सब क्षेत्रों में बहुआयामी विचार-पद्धति को अपनाकर प्रत्येक मुद्दे के अनेक पक्षों पर विचार करके अनेकांत आधारित विचार-पद्धति से सम्यक् निर्णय लेता है। सफलता चाहने वाला उद्यमी कभी भी अनेकांत से मुंह नहीं मोड़

सकता है।

पूंजी - जब कोई उद्यमी किसी संगठन को प्रारंभ करना निश्चित करता है तो अपने विचारों को मूर्त रूप देने के लिये उसे सर्वप्रथम पूंजी की व्यवस्था करनी पड़ती है। ऐसा वह अपने स्वयं के स्रोत से या बैंकों या अन्य वित्तीय संस्थानों या निजी साहूकारों से कर्ज लेकर कर सकता है। इन सब स्रोतों के अपने-अपने फायदे-नुकसान होते हैं। बैंक से कर्ज कम ब्याज दर पर मिल सकता है किंतु उसके साथ कुछ ऐसी शर्तें जुड़ी हो सकती हैं जिन्हें पूरा करने में कठिनाई हो, यह भी हो सकता है कि उनकी समय-साध्य प्रक्रिया के कारण वांछित धन समय पर नहीं मिल पाए। ऐसे समय में निजी साहूकारों से उच्च ब्याज-दर पर अल्पावधि कर्ज लेना भी लाभदायक हो सकता है। इन विभिन्न मुद्दों पर विचार करके ही उद्यमी यह निश्चित कर पाता है कि वह किस समय किस वित्त-स्रोत का उपयोग करे। यदि वह किन्हीं पूर्वाग्रहों के कारण किसी एक विचारधारा, माना कि बैंक से ही कर्ज लेना, पर ही स्थिर रहता है तो उसे कई बार आवश्यक कार्य रुकने के कारण हानि भी उठानी पड़ सकती है तथा वह संगठन के लाभकारिता के ध्येय को प्राप्त करने में ही विफल हो सकता है। सांगठनिक लाभकारिता सुनिश्चित करने के लिये उसे इन सब बातों को ध्यान में रखते हुवे बहुआयामी सोच व अनेकांत विचार-पद्धति का आश्रय लेना ही पड़ेगा।

भूमि - प्रबंधन शब्दावलि में भूमि का अर्थ बहुत व्यापक होता है तथा इसमें खेत, कारखाना, कार्यालय व संगठन के उत्पादन, विपणन आदि के व्यापारिक स्थानों आदि का समावेश हो जाता है। इनके चयन में भी सम्यक् निर्णय लेने के लिये कई चलकों पर विचार करना पड़ता है जैसे कि लागत (मूल्य अथवा किराया), बस्ती या बाजार से दूरी, कच्चे माल की उपलब्धता आदि ऐसे हैं जिनमें आपस में विरोध हो सकता है। सस्ती भूमि नगर के मुख्य व्यापारस्थल से बहुत दूर हो सकती है तथा अंततः लाभकारी सिद्ध नहीं हो सकती है, कच्चे माल का दूर से परिवहन तथा उत्पाद को सुदूर मंडियों तक पहुंचाना भी काफी महंगा

सिद्ध हो सकता है। अतः सस्ती भूमि का चयन यद्यपि प्रत्यक्षतः बचत लगता है किंतु अंततोगत्वा भारी अप्रत्यक्ष खर्चों के कारण सांगठनिक लाभकारिता के लिये घातक सिद्ध हो सकता है। प्रबंधन अनेकांत आधारित बहुआयामी विचार-पद्धति अपनाकर ही इन विभिन्न विरोधी घटकों का समन्वय करते हुवे सम्यक् निर्णय ले सकता है।

मानव-संसाधन - मानव-संसाधन अर्थात् कामगारों, कर्मचारियों तथा प्रबंधकों की नियुक्ति का प्रश्न भी दक्षता व वेतन जैसे कई विरोधी तत्त्वों के समन्वय के द्वारा ही सुलझाया जा सकता है। नियोजक को यह सुविचारित निर्णय लेना होता है कि किस पद पर सुयोग्य, सुशिक्षित व अनुभवी व्यक्ति को उच्च वेतन देकर नियुक्त करना है तथा किन पदों पर कम वेतन पर अल्प योग्यता वाले कर्मियों की भर्ती से निर्विघ्न कार्य निष्पादन हो सकता है। यह निर्णय लेना होता है कि किन कर्मचारियों को काम पर ही प्रशिक्षित किया जा सकता है और कौन से कर्मी नियुक्ति के समय से ही पूर्ण-प्रशिक्षित होने चाहिये। इन सबका सम्यक् निर्णय बहुआयामी सोच पर निर्भर करता है तथा ऐसा सुविचारित निर्णय अनेकांत के प्रकाश में ही लिया जा सकता है।

मशीन - मशीनों के चयन में भी लागत व गुणवत्ता के मुद्दे आपस में विरोधी होते हैं। संयन्त्र को नियमित रख-रखाव के लिये कितने अंतराल पर बंद करना व समय-समय पर कल-पुर्जों को बदलना आदि भी ऐसे निर्णय हैं जिनमें कई विरोधी तत्त्वों का ध्यानपूर्वक समन्वय अपेक्षित होता है। ऐसे में 'बहुत शीघ्र' व 'बहुत देर से' दोनों ही अलाभकारी सिद्ध हो सकते हैं। 'बहुत शीघ्र' का अर्थ है ऊँची लागत तथा 'बहुत देर से' का अर्थ है मशीन का बार-बार बिगड़ना। दोनों ही परिस्थितियाँ संगठन के स्वास्थ्य के अनुकूल नहीं होती हैं तथा उनसे बचने के लिये समुचित निर्णय अनेकांत विचार-पद्धति से इन विरोधी घटकों के समन्वय द्वारा ही लिया जा सकता है।

माल - माल-प्रबंधन एक जटिल विषय है। कच्चे माल व तैयार उत्पाद का समुचित भण्डारण महत्वपूर्ण व आवश्यक है। जहाँ आवश्यकता से अधिक भण्डारण लागत को बढ़ाता है वहीं कच्चे माल के आवश्यकता

से कम भण्डारण से संयंत्र का क्षमता से कम उपयोग तथा तैयार उत्पाद के कम भण्डारण से बाजार में माल की कमी तथा असंतुष्ट ग्राहकों का संगठन के उत्पाद से विलग हो जाने जैसे दुष्परिणाम सामने आ सकते हैं। कहना नहीं होगा कि इन निर्णयों के समीचीन होने में भी अनेकांत ही प्रबंधन की सहायता कर सकता है।

प्रबंधन के विभिन्न क्षेत्रों में अनेकांत की भूमिका -

प्रबंधन के विभिन्न क्षेत्रों में यथा वित्त-प्रबंधन, कार्मिक-प्रबंधन, उत्पादन-प्रबंधन तथा विपणन-प्रबंधन में भी अनेकांत महत्वपूर्ण भूमिका निभाहता है। अनुगामी अनुच्छेदों इस विषय की चर्चा की जा रही है -

वित्त-प्रबंधन - पूंजी की व्यवस्था करना, पूंजी निवेश, संगठन के किराया, वेतन, संयंत्र-स्थापना, रख-रखाव, कच्चे माल की खरीद, उत्पादन, भण्डारण, विपणन, विज्ञापन, लाभ को निकालना अथवा पुनर्निवेश करना आदि ऐसे कई क्षेत्र हैं जिनमें पूंजी का अंशदान निश्चित करना कई विरोधी तत्त्वों पर विचार करके ही किया जा सकता है। यहाँ पर अनेकांत विचारधारा से ही प्रबंधन संगत व संतुलित निर्णयों पर पहुँचकर सांगठनिक लाभकारिता बढ़ा सकता है।

कार्मिक-प्रबंधन - पूर्व चर्चित कार्मिकों के नियोजन व निष्कासन के अलावा प्रबंधन के लिये उनको सतत प्रेरित करना भी महत्वपूर्ण है ताकि वे सदैव अपनी श्रेष्ठतम कार्यकुशलता से कार्य करते रहें। विभागीय व अंतर्चिभागीय कार्य-समन्वय भी आवश्यक है ताकि समन्वय के अभाव में कार्य कहीं रुके नहीं। जहाँ तक कार्मिक-प्रेरणा का प्रश्न है प्रबंधन को यह ध्यान रखना होता है कि वे बेजान मशीनों से नहीं अपितु सजीव व चैतन्य कर्मियों से बर्ताव कर रहे हैं जिनमें से प्रत्येक की अलग प्रवृत्ति व अलग प्रेरक होते हैं। कुछ कर्मों अर्थ-लाभ से प्रेरित होते हैं जबकि कुछ के लिये सम्मान अधिक प्रेरक सिद्ध होता है। फिर पुरस्कार-तिरस्कार या पदोन्नति-पदावनति भी कुछ कर्मियों के लिये उपयुक्त प्रेरणादायी हो सकते हैं। मजदूर-संघ भी सदैव अपनी माँगों से

प्रबंधन की नाक में दम किये रहते हैं। जों प्रबंधक इन सब अवरोधों से पार न पा सके शीघ्र ही बाहर का रास्ता दिखा दिया जाता है।

उत्पादन-प्रबंधन - उत्पादन-प्रबंधन में उपयुक्त गुणवत्ता वाले कच्चे माल की उपयुक्त मात्रा में खरीद, उसका संयंत्र की एक निश्चित अवधि तक की जरूरत के अनुसार उचित मात्रा में भण्डारण, संयंत्र का सही संचालन व सामयिक रख-रखाव ताकि उसके बिगड़कर रुकने के बीच का औसत अंतराल (MTBF) अधिकतम हो, उत्पाद की उचित गुणवत्ता सुनिश्चित करना, तैयार माल की कमी तथा आवश्यकता से अधिक भण्डारण से बचने के लिये बाजार की प्रक्षिप्त मांग के अनुसार उत्पादन सुनिश्चित करना, आदि। इनमें से कुछ तत्त्व दूसरों से ठीक विपरीत हैं जैसे कि कच्चे तथा तैयार माल का भण्डार रखने से भण्डार-लागत (Inventory-cost) बढ़ती है अतः वित्त-विभाग चाहता है कि ये कम से कम रखे जाय किंतु कच्चे माल के अभाव में संयंत्र बंद हो सकता है अतः उत्पादन-प्रबंधक चाहता है कि उसकी उपलब्धि सुनिश्चित रखने के लिये उसका उचित मात्रा में भण्डारण किया जाय वहीं विपणन-प्रबंधक भी चाहता है कि बाजार में तैयार माल की कमी से बचने के लिये उसका भण्डार भी काफी मात्रा में उपलब्ध रहे। ऐसे ही कई अन्य विरोधी तत्त्वों में सामंजस्य स्थापित करके सांगठनिक लाभकारिता को बढ़ाना निर्णय के हर स्तर पर अनेकान्त के संप्रयोग द्वारा ही संभव है।

विपणन-प्रबंधन - कोई भी संगठन तभी तक जीवित रह सकता है जब तक वह अपने द्वारा उत्पादित वस्तु को बेच सकता है। विपणन-पंडित यह कहते हैं कि इस प्रतियोगिता के युग में केवल श्रेष्ठ माल ही नहीं बिकता है अपितु जिस माल का विज्ञापन श्रेष्ठ हो वह माल भी बिकता है। विपणन-प्रबंधन में बाजार-सर्वेक्षण, विज्ञापन, विक्रेता-प्रोत्साहन, उपभोक्ता-संतोष, प्रतियोगी मूल्य आदि अनेक तत्त्व हैं जो तैयार माल की बिक्री को प्रभावित करते हैं। विपणन-प्रबंधक को यह निश्चित करना होता है कि विज्ञापन, विक्रय-तंत्र आदि पर पर्याप्त ध्यान दिया जाय ताकि संगठन के उत्पादों का प्रचार हो सके फिर भी उनका मूल्य

उसी प्रकार के अन्य उत्पादों के मूल्यों से प्रतियोगिता कर सकें और उनकी बिक्री सुनिश्चित हो सके। विपणन-मिश्र (Marketing Mix) के पाँच 'P', जो उत्पाद (Product), मूल्य (Price), स्थान (Place), विज्ञापन (Promotion) व पैकेजिंग (Packaging) को सूचित करते हैं, इस तथ्य को भली-भाँति उजागर करते हैं कि जब तक इन परस्पर विरोधी तत्त्वों के समन्वय से सम्यक् निर्णय न लिये जाय तब तक विपणन-तंत्र की सफलता संदिग्ध ही रहेगी। कहना नहीं होगा कि इनका समन्वित निर्णय व कठिन प्रतियोगिता के इस युग में विपणन-प्रबंधन की सफलता अनंकांत-दृष्टि से ही संभव है।

प्रबंधन-प्रक्रिया में अनेकान्त की उपयोगिता -

अंत में हम प्रबंधन-प्रक्रिया के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं तथा देखते हैं कि इस क्षेत्र में भी अनेकांत किस प्रकार प्रबंधकों को इन प्रक्रियाओं के सफल व प्रभावी संचालन में सहायता करता है तथा समय-समय पर उन्हें विकट परिस्थितियों से उबारता है। प्रबंधन-प्रक्रियाएँ चार हैं - १. योजना (Planning), २. संयोजन (Organization), ३. संयोजन (Co-ordination) तथा ४. नियंत्रण (Controlling)।

योजना - कोई भी प्रकल्प तब तक सफल नहीं हो सकता है जब तक उसके पीछे एक सुनियोजित योजना न हो। योजना का अर्थ है किसी भी कार्य को प्रारंभ करने से पहले ही उसके सभी पक्षों पर भली-भाँति विचार कर लेना तथा विभिन्न संभावित अवरोधों के निराकरण के लिये पहले से तैयार रहना। इस प्रकार की योजना में वित्त, भूमि, मानव-संसाधन, मशीन, विपणन-नीति आदि की व्यवस्था-समीक्षा उनकी लागत व मूल्य-नीति, प्रतियोगिता, लाभकारिता का पूर्वानुमान आदि सम्मिलित हैं। योजना की सफलता के लिये आवश्यक है कि इन सब पक्षों का निरपेक्ष आकलन करके, संगतता के आश्रय से सम्यक् प्रक्षेपों पर पहुँचा जाय न कि एकांगी अतिआशावादिता के जाल में फँसकर ऐसी असंगत योजना बना ली जाय जिसे कार्य-रूप में परिणित करना

ही संभव न हो तथा पूरा का पूरा प्रकल्प ही धराशायी हो जाय। अनेकांत-दृष्टिसंपन्न प्रबंधक ऐसी एकांगिता से प्रभावित नहीं होगा तथा सभी पक्षों की सम्यक् समालोचना द्वारा सम्यक् व व्यवहारिक निर्णय लेगा जिससे उसके द्वारा बनाई गई योजना को विफलता का सामना न करना पड़े।

संयोजन - किसी भी प्रबंधक का प्रभाव उसकी संयोजन-क्षमता पर निर्भर करता है। संयोजन-क्षमता का सीधा संबंध उसके अपने कर्मियों, कर्मचारियों व कनिष्ठ प्रबंधकों को अपनी क्षमता के शीर्ष पर कार्य करने के लिये प्रेरित कर पाने जैसे नेतृत्व-गुणों से है, वित्त, वस्तु, उत्पादन, विपणन आदि प्रबंधन के विभिन्न क्षेत्रों में सम्यक् समन्वय स्थापित करने की क्षमता से है। यह सब करने के लिये उसे सतत कई विरोधी परिस्थितियों व विचारधाराओं से सम्मुख होना पड़ता है तथा उनका सम्यक् व तर्क-संगत समाधान प्रस्तुत करना होता है। जो प्रबंधक यह सब कर पाता है वही सफल होता है। कहना नहीं होगा कि यह सब करने के लिये उसे बहुआयामी अनेकांतिक विचार-पद्धति का आश्रय लेकर असंभव को भी संभव करने का चमत्कार करना होता है। यही उसकी सफलता की कुंजी है।

समायोजन - आधुनिक औद्योगिक व सेवा-क्षेत्र के, सामाजिक और धार्मिक संगठन भी कई विभागों व अधीनस्थ छोटे संगठनों के समूह होते हैं। जब तक ये सब एक सजीव इकाई की भाँति समन्वित रूप से कार्य न करें संगठन की सफलता पर प्रश्न-चिन्ह ही लगा रहता है। सर्वोच्च प्रबंधक जिसपर इस प्रकार की एकता स्थापित करने का भार होता है उसे उनके कार्य-कलापों का समायोजन करना पड़ता है। क्योंकि सभी विभागों व लघुतर संगठनों के भी अपने-अपने प्रेरक तत्त्व होते हैं, यह कार्य सरल नहीं है। यह देख पाना भी कठिन नहीं है कि इस प्रकार का समायोजन अनेकांतिक मार्ग पर चलकर संगठन के अंग-प्रत्यंगों के प्रेरक तत्त्वों को समन्वित करके ही किया जा सकता है।

नियंत्रण - समन्वय व समायोजन स्थापित कर लेने के पश्चात् सर्वोच्च प्रबंधक को यह सुनिश्चित करना होता है कि संगठन के सभी विभाग

व अर्धनस्थ उप-संगठन लिये गए निर्णयों के अनुसार ही कार्य करें। यही प्रबंधन-नियंत्रण का कार्य है। प्रभावी प्रबंधन-नियंत्रण के लिये प्रबंधक को प्रबंधन-सूचना-तंत्र (Management Information System - MIS), तंत्रीय नियंत्रण-प्रणाली (Systemic checks), सामयिक संशोधन (Timely corrections), आदि विभिन्न साधनों पर निर्भर रहना होता है। यह स्पष्ट है कि इन सब विभागों व उप-संगठनों पर प्रभावी नियंत्रण के लिये प्रबंधक को इन सब साधनों के सम्यक् संप्रयोग व उनसे प्राप्त सूचनाओं का अनेकांत के प्रकाश में आकलन करना होगा तभी वह संगठन की सफलता व लभकारिता को सुनिश्चित कर पाएगा।

उपसंहार -

इस लेख में हमने देखा कि किसी भी संगठन की सफलता व प्रभावकता उसके एक सजीव-इकाई के रूप में कार्य कर पाने की क्षमता पर निर्भर करती है। इसके लिये प्रबंधन द्वारा वित्तीय व कार्मिक संसाधनों तथा उत्पादन, विपणन आदि के लिय योजना, संयोजन, समायोजन व नियंत्रण का एक प्रभावी तंत्र होना आवश्यक है। संगठन के छः अवयवों - उद्यमिता, पूंजी, भूमि-भवन, मानव-संसाधन, मशीन व माल के प्रभावी प्रबंधन द्वारा ही प्रबंधक संगठन के घोषित उद्देश्यों को प्राप्त करके उसकी लाभकारिता को सुनिश्चित कर सकता है।

इस लेख के तीन विभागों - सांगठनिक तत्त्व, प्रबंधन-क्षेत्र व प्रबंधन-प्रक्रिया - में से प्रत्येक में हमने देखा कि प्रबंधन के हर स्तर पर केवल अनेकांत आधारित विचार-पद्धति के अनुसरण द्वारा ही प्रभावी प्रबंधन संभव है।



जैन सिद्धान्तों से व्यक्तित्व-विकास

व्यक्तित्व -

किसी भी व्यक्ति के शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक, सामाजिक, नैतिक व रचनात्मक ऊर्जा के गुणों की अभिव्यक्ति ही उसका व्यक्तित्व है। उसके व्यक्तित्व का आकलन इस पर निर्भर करता है कि वह दूसरों पर कैसा प्रभाव डालता है। यह अनुभव सिद्ध है कि किसी भी व्यक्ति में वांछित व अवांछित दोनों प्रकार के गुण हो सकते हैं। ये गुण ही उसे प्रीतिकर या अप्रीतिकर बनाते हैं। वांछित या अवांछित या प्रीतिकर या अप्रीतिकर व्यक्तित्व का महत्त्व इस बात में निहित है कि इसी पर व्यक्ति की पारिवारिक, सामाजिक, व्यवसायिक, राजनैतिक, धार्मिक व आध्यात्मिक क्षेत्रों में सफलता या असफलता निर्भर करती है।

व्यक्तित्व-विकास -

विकास का अर्थ ही है उत्कर्ष या वांछित दिशा में गमन। जैसा कि इस शीर्षक से ही स्पष्ट है, व्यक्तित्व-विकास का अर्थ है किसी व्यक्ति में वांछित शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक, सामाजिक, नैतिक व रचनात्मक ऊर्जा के गुणों को विकसित करना।

व्यक्तित्व का भौतिक या शारीरिक पक्ष -

व्यक्ति का दृश्य प्रभाव उसके शारीरिक या भौतिक व्यक्तित्व से पड़ता है। इसमें उसके व्यक्तित्व के वे सब पक्ष सन्निहित हो जाते हैं जो बाह्य रूप से दिखाई देते हैं। वे गुण हैं: -

9. रूप-रंग -

- क. शारीरिक गठन,
- ख. बनाव-श्रृंगार, तथा
- ग. वेश-भूषा.

२. चाल-ढाल -

- क. चलने का ढंग,
- ख. ठवन, तथा
- ग. मुद्रा.

शरीर-भाषा (Body-language) से व्यक्ति के निम्नोक्त गुण प्रकट होते हैं-

- क. आत्मविश्वास या संकोशीलता,
- ख. समर्पण या प्रतिरोध, तथा
- ग. सावधान या असावधान प्रकृति, आदि
- घ. व्यवहार-वैचित्र्य -

इसमें वे सब प्रकार की सार्थक शारीरिक गतिविधियाँ सम्मिलित हैं जो व्यक्ति के विविध व्यक्तित्व-गुणों को प्रकाशित करती हैं, जैसे कि - आत्मविश्वास, महत्वाकांक्षा, संकोचशीलता, घबराहट, उत्तेजना, अधीरता, आदि।

दृष्टि-संपर्क -

आँखों को व्यक्तित्व का आईना कहा जाता है। किसी भी व्यक्ति की आँखें क्षणभर में वह सब कह देती हैं जो उससे घंटों बातें करके भी मालूम नहीं की जा सकतीं। वे उसके आंतरिक चारित्रिक गुणों, उसके आत्मविश्वास, उसके अभाव में संकोचशीलता के रूप में उसकी प्रकृति को प्रतिबिंबित करती हैं।

व्यक्तित्व का बौद्धिक पक्ष -

व्यक्तित्व का दृश्य-श्रव्य प्रभाव पूर्ण रूप से तभी पड़ता है जब कि दृश्य भौतिक व्यक्तित्व के पूरक श्रव्य - बौद्धिक-व्यक्तित्व का भी प्रकटन होता है। व्यक्तित्व के बौद्धिक पक्ष में वे सभी तत्त्व समाहित होते हैं जो अपने प्रकटन द्वारा व्यक्ति को बौद्धिक स्तर पर प्रभावशाली बनाते हैं। कहना नहीं होगा कि व्यक्तित्व के बौद्धिक पक्ष का प्रभाव शारीरिक पक्ष के प्रभाव से अधिक बलशाली तथा दूरगामी होता है। वे तत्त्व हैं -

बुद्धि-मेधा - व्यक्ति की वस्तुओं व आकारों के अरूपी संबंधों को समझने की क्षमता को बुद्धि या मेधा कहते हैं। यह भाषिक अथवा वैभाषिक दो प्रकार की होती है। बुद्धि-परीक्षण की परीक्षाएँ व्यक्तित्व के इसी पक्ष की जाँच करती हैं।

ज्ञान - किसी भी जानकारी को प्राप्त करना तथा उसकी स्मृति को ज्ञान कहते हैं। स्मृति के फिर दो भाग होते हैं - धारणा तथा सामयिक व प्रासंगिक पुनर्स्मरण।

कल्पनाशक्ति - व्यक्ति की विभिन्न वस्तुओं व परिस्थितियों के भिन्न-भिन्न पक्षों को सोचपाने व देखपाने की शक्ति ही उसकी कल्पनाशक्ति है। यह प्रसरणशील विचारशक्ति (Divergent Thinking) से संभव होती है तथा इसका सीधा संबंध व्यक्ति की रचनात्मकता (Creativity) तथा समस्याओं को हल कर पाने की योग्यता (Problem-solving Ability) से होता है।

रचनात्मकता तथा समस्या-समाधान - बुद्धि, मेधा, कल्पनाशीलता तथा योग्यता का व्यवहारिक उपयोग ही रचनात्मकता है तथा इसी से व्यक्ति अपने कार्य-क्षेत्र में आने वाली समस्याओं का हल प्राप्त करने में समर्थ होता है।

अभिव्यक्ति - सफलता के लिये अपनी भावनाओं तथा विचारों की प्रभावी अभिव्यक्ति सदैव ही महत्वपूर्ण रही है। एक लोकोक्ति है 'बोले सो बेचे' जिसका तात्पर्य है - बोलनेवाला व्यापारी अपना घटिया माल भी बेच देता है जबकि नहीं बोलने वाले का अच्छा माल भी नहीं बिकता है। उद्योग-व्यापार से लगाकर धर्म-गुरुओं द्वारा उपदेश देने तक के सभी उपक्रमों में सब कुछ न कुछ बेचते ही हैं। कुछ लोग माल बेचते हैं, कुछ सेवाएँ बेचते हैं तो कुछ विचार बेचते हैं पर बेचते सब हैं। विभिन्न पदों पर चयन के लिये अथवा मीडिया द्वारा लिये गए साक्षात्कारों में भी व्यक्ति स्वयं को बेचता ही तो है - 'मैं उपलब्ध हूँ, खरीदना हो तो खरीदो'। जो व्यक्ति अपने आप को भर्ती-भाँति प्रस्तुत कर पाता है वह स्वीकार कर लिया जाता है और इस प्रस्तुति में अभिव्यक्ति का बहुत बड़ा योगदान है। इसका फलितार्थ यही है कि

जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में स्वयं को अथवा अपने माल या विचारों को दूसरों के लिये स्वीकार्य बनाने के लिये हमारी अभिव्यक्ति का सशक्त होना अत्यावश्यक है।

व्यक्तित्व का मनोवैज्ञानिक व भावनात्मक पक्ष -

किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व का यह सबसे अल्पदृश्य भाग है, फिर भी इसका महत्त्व अन्य भागों से किसी प्रकार कम नहीं है। व्यक्तित्व के इस पक्ष का प्रकाशन निम्न रूपों में होता है: -

- क. घर-परिवार, कार्य तथा समाज में दूसरों के साथ सामंजस्य स्थापित करने का गुण, तथा
- ख. तनाव या तनाव, अवसाद आदि मानसिक विकृतिजन्य मानसिक या मनःकायिक समस्याओं का होना अथवा उनसे मुक्तिजन्य मानसिक स्वास्थ्य और अपने कार्य तथा जीवन का आनंद उठाने की क्षमता अथवा उसका अभाव आदि।

व्यक्ति के निजी, सामाजिक तथा व्यवसायिक जीवन में व्यक्तित्व के इस पक्ष के प्रभाव बहुआयामी तथा व्यापक होते हैं। वे हैं -

- अपनी मानसिक तथा भावनात्मक अवस्था के अनुरूप व्यक्ति प्रसन्न या अप्रसन्न होता है।
- प्रसन्न व्यक्ति अपने चारों ओर प्रसन्नता का संचार करता है तथा अप्रसन्न व्यक्ति इसके विपरीत दुःख बांटता है।
- भावनात्मा रूप से स्थिर व्यक्ति का पारिवारिक, सामाजिक व व्यवसायिक जीवन सुखी, सामंजस्यपूर्ण व प्रसन्न होता है।
- एक प्रसन्न कर्मी अप्रसन्न कर्मी से बहुत अच्छा कार्य करता है। उसकी उत्पादकता अप्रसन्न कर्मियों से कई गुना अधिक होती है।
- एक सामंजस्यपूर्ण व्यक्तित्व वाला व्यक्ति असमन्वित व्यक्ति की अपेक्षा अधिक मान्यता, लोकप्रियता तथा सम्मान प्राप्त करता है।

- एक सामंजस्यविहीन व भावनात्मक रूप से अस्थिर व्यक्ति आसानी से मदिरा, मादक दवाओं, दुराचार, चरित्रहीनता आदि बुराइयों के पाश में फँस जाता है।

मानसिक व भावनात्मक समस्याओं का निराकरण निम्नानुसार किया जा सकता है: -

- किसी आदर्श व्यक्तित्व वाले व्यक्ति के अनुसरण द्वारा,
- समस्याओं के प्रति भावनात्मक की अपेक्षा विश्लेषणात्मक रुख अपनाना,
- विपरीत परिस्थितियों में युक्तिकरण की क्षमता का विकास,
- दबी हुई भावनाओं को संगीत, चित्रकारी, खेल-कूद, साहसिक अभियानों आदि के द्वारा रचनात्मक रूप से व्यक्त करना,
- दबी हुई क्रोधादि की भावनाओं की एकांत में या सामूहिक अभिव्यक्त करके उनसे मुक्त हो जाना (Catharsis), तथा अंततः
- आवश्यक हो तो मनस्विकित्सक की सेवाएँ लेना

व्यक्तित्व का नैतिक पक्ष -

ईमानदारी, सत्याचरण, अचौर्य आदि चरित्र-गुणों का समावेश व्यक्तित्व के नैतिक पक्ष में होता है। इसमें कोई दो राय नहीं हो सकती हैं कि व्यक्ति की विश्वस्तता, विश्वसनीयता और स्वीकार्यता उसके इन्हीं गुणों पर निर्भर करती है।

व्यक्तित्व-विकास पर जैन-सिद्धान्तों का प्रभाव -

जैन-सिद्धान्त व्यक्ति पर स्थाई प्रभाव डालते हैं तथा उसके व्यक्तित्व को अत्यंत वांछित सांचे में ढालते हैं। अनुगामी अनुच्छेदों में यह चमत्कार किस प्रकार घटित होता है इसका विश्लेषण किया गया है।

भौतिक व्यक्तित्व -

रूप-रंग - किसी भी व्यक्ति का रूप-रंग उसके स्वास्थ्य पर निर्भर करता है। अब यह सर्व-सिद्ध तथ्य है कि मांसाहार की अपेक्षा शाकाहार मानव-स्वास्थ्य के अधिक अनुकूल है। क्योंकि जैन-सिद्धान्त शाकाहार की पुरजोर वकालत करते हैं, वे जैन-धर्मानुयाइयों के स्वास्थ्य रक्षण में तथा व्यक्तित्व के शारीरिक पक्ष में महत्वपूर्ण रूप-रंग को निखारने में भी सहायक होते हैं।

चाल-ढाल - किसी भी विनम्र व्यक्ति की चाल, उसका शरीर-विन्यास तथा मुद्राएँ अभिमानी व्यक्ति की चाल, शरीर-विन्यास तथा मुद्राओं की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होती हैं। जैन-सिद्धान्तों में विनम्रता पर दिया गया जोर सर्वज्ञात है, अतः वे उसके व्यक्तित्व पर वांछित प्रभाव डालते हैं।

वेश-भूषा - वेश-भूषा की सर्वस्वीकार्यता के लिये सामान्य नियम सादगी है। जैन-धर्म जीवन में तथा वेश-भूषा में सादगी का पक्षधर है अतः इससे जीवन में शिष्ट व श्रेष्ठ वेश-विवेक का प्रादुर्भाव होता है जो सफलता का द्वारोद्घाटन करता है।

बौद्धिक व्यक्तित्व -

मेधा और ज्ञान - स्वाध्याय जैन जीवन-प्रणाली का एक अहं व अविच्छिन्न हिस्सा है। भगवान महावीर के शब्द आज छब्बीस-सौ साल बाद भी उत्तराध्ययनसूत्र के पृष्ठों से गुंजायमान हो रहे हैं - 'हर साधक को समय से अध्ययन करना चाहिये, तत्पश्चात् एकांत में जाकर मनन और चिंतन करना चाहिये'। स्वाध्याय की जैन-पद्धति में अध्ययन, प्रतिप्रश्न, पुनरावृत्ति, चिंतन व शिक्षण समाहित हैं जो वर्तमान काल में प्रचलित अध्ययन, स्मृति, पुनर्स्मरण आदि के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों से मेल खाते हैं। कहना नहीं होगा कि प्रभु का यह आदेश अनुयायी की मेधा व ज्ञान की वृद्धि में सहायक हो कर उसके व्यक्तित्व को निखारते हैं।

कल्पनाशीलता, रचनात्मकता व समस्या-समाधान-सामर्थ्य - जैन

जीवन-पद्धति का सरलता, सादगी, सीमित संपदा तथा अतिभोगवादिता से परहेज पर जोर सर्वज्ञात है। इन सिद्धान्तों के अनुसार जीवनयापन करते हुवे इसके अनुयाइयों में तात्कालिक आवश्यकताओं को वैकल्पिक साधनों से साधने का गुण विकसित होता है जो उर्वरा कल्पनाशीलता व बहुआयामी रचनात्मकता के द्वारा ही संभव होता है।

समस्या-समाधान-सामर्थ्य तो इन्हीं दो गुणों का प्राकृतिक परिणाम है।

भाषिक अभिव्यक्ति - प्रभावोत्पादकता के लिये अच्छी अभिव्यक्ति की आवश्यकता का प्रतिपादन हम इस लेख में पूर्व में कर चुके हैं। जैन-सिद्धान्त व्यक्तित्व के इस पहलू पर विधेयात्मक तथा निषेधात्मक रूप से दो स्तरों पर ध्यान देते हैं। विधेयात्मक रूप से वे सत्य, प्रिय, हितकारी व मित्त भाषा-प्रयोग पर बल देते हैं वहीं निषेधात्मक रूप में अनर्गल व गल्प-वार्ता का निषेध करते हैं। स्पष्ट है कि ऐसे विधि-निषेध के कारण जैन-सिद्धान्तानुसार भाषा-प्रयोग प्रभावी अभिव्यक्ति का माध्यम बनता है तथा प्रयोगकर्ता के लिये सफलता का मार्ग प्रशस्त करता है।

मानस एवं भावनाएँ -

सामंजस्य - अहिंसा व विश्व-मैत्री के जैन-सिद्धान्त उसके अनुयाइयों को सार्वभौम रूप से सुसमायोजित बनाते हैं। उनका यह सामंजस्य केवल पारिवारिक, सामाजिक, व्यवसायिक क्षेत्रों तक ही सीमित नहीं होता है अपितु विश्व के प्रत्येक प्राणीमात्र के लिये तथा अपने पर्यावरण के साथ बहुत ही विस्तृत पैमाने पर होता है।

मानसिक स्वास्थ्य, भावनात्मक स्थिरता तथा तनावरहितता - पिछले लेखों में हमने यह भली-भाँति प्रतिपादित किया है कि जैन-सिद्धान्तों का अनुपालन व्यक्ति के लिये व्यक्तिगत प्रसन्नता, सामाजिक सामंजस्य तथा शान्ति और सद्भाव का कारण बनता है। तनाव के कारण असामंजस्य, अभिमान, लोभ, मायाचार आदि हैं अतः यह तर्कसंगत ही है कि जैन-सिद्धान्तों द्वारा प्रेरित शान्ति व सद्भाव के वातावरण में तनाव स्वतः विगलित हो जाते हैं तथा भावनात्मक स्थिरता तथा मानसिक

स्वास्थ्य वर्तमान रहते हैं। जैन जीवन-पद्धति में संतोष, विनम्रता, अनासक्ति, सरलता तथा सर्वमैत्री पर बल भी तनाव के कारणों का निरसन करता है तथा जैन तपःविधान में विधित नियमित ध्यान-साधना के द्वारा भी तनाव समाप्त होकर जीवन में तनाव-मुक्त वातावरण का निर्माण करते हैं।

नैतिकता का विकास -

यह तो कहने की आवश्यकता ही नहीं है कि समग्र जैन-वाङ्मय का उद्देश्य ही जैन-मतावलंबियों में नैतिक मूल्यों का अवतरण व विकास करना है। जैन साधकों व उपासकों के सभी व्रत-नियम नैतिकता का ही उद्घोष करते हैं चाहे वह सत्य-व्रत हो, अचौर्य-व्रत हो, लिंगानुशासन का व्रत हो अथवा सीमित संपदा व अतिभोग-निषेध द्वारा सरल व आर्डरहीन जीवनशैली के नियम हों, सबका लक्ष्य एक ही है और वह है नैतिकता। क्या अब यह कहने की आवश्यकता है कि जैन-सिद्धान्तों में नैतिकता का जो एक सशक्त सूत्र पिरोया हुआ है वह उसके अनुयाइयों को व्यष्टिशः व समष्टिशः सबसे नैतिक, विश्वस्त व विश्वसनीय बनाता है। उनके व्यक्तित्व का केवल यह एक पक्ष ही अन्य सभी पक्षों पर छा जाता है तथा इसके वरदान प्राप्त व्यक्ति को सबसे वांछित व स्वीकार्य व्यक्ति बनाता है।

उपसंहार -

इस लेख का समापन हम इस स्वर पर करते हैं कि जैन-सिद्धान्त, तथा सशक्त नीति-संहिता जिसका वे समर्थन करते हैं, उनके अनुयायियों में सबसे वांछित व्यक्तित्व गुणों का विकास करते हैं। अतः जैन-सिद्धान्त तो वह सर्वश्रेष्ठ व्यक्तित्व-विकास पाठ्यक्रम है जो कहीं भी कभी भी उपलब्ध हो सकता है।



अंत-कथ्य

ग्रंथ के समापन में हम यह कह सकते हैं कि जैन-धर्म एक संपूर्ण धर्म-धारा है जो न केवल अपने अनुयायी के आध्यात्मिक उत्थान में सहायक होती है अपितु उसे सदाचारी, ईमानदार, निःस्वार्थ, परोपकारी, शान्तिप्रिय, तथा सुसमाहित सामाजिक प्राणी व नागरिक भी बनाती है जिससे वह एक अच्छा परिवारजन, अच्छा व संतुलित समाज-सदस्य, राष्ट्रप्रेमी नागरिक व विश्व-बंधुत्व से भरपूर मानव भी बनता है।

जैन-धर्म के अहिंसा, सत्याचरण, अदत्तादान-विरति (अचौर्य), ब्रह्मचर्य या लैंगिक अनुशासन तथा अपरिग्रह, संपदा-सीमन व अतिभोगोपभोग से विरति के महाव्रतों व अणुव्रतों की छाया में विकसित जीवन-दर्शन सामाजिक सामंजस्य व विश्व-शान्ति में सहायक प्रसन्नतापूर्ण जीवन जीने की कला प्रदान करता है।

इसका 'परस्परपग्रहो जीवानाम्' का आदर्श-वाक्य तथा इसके उच्च व उदात्त सिद्धान्त ऐसे हैं कि वे सर्वांग-संपूर्ण अहिंसा के द्वारा सभी जीवों की रक्षा तथा पर्यावरण-संरक्षण व पारिस्थितिकीय संतुलन को सुनिश्चित करते हैं।

व्यक्तिगत प्रसन्नता, सामाजिक सामंजस्य, अंतर्राष्ट्रीय-संबंध, विश्व-शान्ति, नैतृत्व व प्रबंधन, व्यक्तित्व-विकास व पर्यावरण-संरक्षण जैसे विभिन्न क्षेत्रों में इसका व्यवहारिक संप्रयोग इसे एक सशक्त सार्वभौम धर्म-धारा बनने के लिये उपयुक्त ठहराती है।

इस स्थल पर मुझे यह स्वीकार करना होगा कि ग्रंथाकार की सीमा के कारण विषय का प्रतिपादन संक्षिप्त रूप में ही किया जा सका है। किंतु क्योंकि इस ग्रंथ का उद्देश्य जैन-अजैन पाठकों को इस आश्चर्यजनक धर्म - जैन-धर्म की सामान्य जानकारी देना ही है, आशा है कि यह अपने उद्देश्य को उत्कृष्टतः प्राप्त करेगा।

जैन-धर्म के सर्वकालिक, शाश्वत, सार्वभौम व जीवनोपयोगी सिद्धान्त इसे सत्य ही 'जीवन-धर्म' बनाते हैं।

卐 卐 卐

जैन-धर्म : जीवन-धर्म

परिशिष्ट

जैन-धर्म : जीवन-धर्म

संदर्भ-ग्रंथ सूचि

अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग १-६, श्री विजय राजेन्द्रसूरि, रतलाम
अणगार धर्माभूत, पं. आशाधर

अर्द्धमागधी कोष, पं. मुनि रतनचंद्रजी, अमर प्रकाशन, वाराणसी
बोध-पाहुड़, अष्टपाहुड़, आचार्य कुंदकुंद, कुंदकुंद कहान द्रस्ट, जयपुर,
१९६४

दशवैकालिकसूत्र, श्रुतकेवलि शय्यंभव, अ.भा.सा. जैन संस्कृति रक्षक संघ,
सैलाना, १९७३

द्रव्य संग्रह, आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती, श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल,
अगास, पंचम संस्करण, १९८८

द्रव्य-विज्ञान, साध्वी डॉ. विद्युत्प्रभा, प्राकृत भारती, जयपुर, १९६४

हमारा सच्चा भूगोल, जंबूद्वीप शोध-संस्थान, पालीताना

जैन-आचार : सिद्धांत और समीक्षा, देवेन्द्रमुनि शास्त्री, तारक गुरु जैन
ग्रंथालय, उदयपुर, १९८२

जैन आगम-साहित्य : मनन और मीमांसा, देवेन्द्रमुनि शास्त्री, तारक गुरु
जैन ग्रंथालय, उदयपुर, १९७७

जैन-धर्म और पर्यावरण, डॉ. भागचंद भास्कर, न्यू भारतीय बुक कॉर्पोरेशन,
दिल्ली, २००१

जैनेन्द्र सिद्धांत-कोष, भाग १-५, जिनन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
जिण-धम्मो, आचार्य श्री नानेश, समता साहित्य प्रकाशन द्रस्ट, इंदौर,
१९८४

कर्म-ग्रंथ, श्रीमद् देवेन्द्रसूरि, हिंदी व्याख्या - मुनि मिश्रीमलजी, मरुधर
केसरी साहित्य प्रकाशन, ब्यावर, १९७४

कर्म-विज्ञान, भाग १-६, देवेन्द्रमुनि शास्त्री, तारक गुरु जैन ग्रंथालय,
उदयपुर, १९६०-६७

कर्म-सिद्धांत : बिंदु में सिंधु, देवेन्द्रमुनि शास्त्री, तारक गुरु जैन ग्रंथालय,
उदयपुर, १९६७

iv : शाश्वत जैन-धर्म

लिंग-पाहुड़, अष्टपाहुड़, आचार्य कुंदकुंद, कुंदकुंद कहान ट्रस्ट, जयपुर,

१९९४

मेक्ष-मार्ग, रतनलाल डोसी, अ.भा.सा. जैन संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना,

१९७१

प्राकृतभाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डॉ. नेमिचंद्र जैन,

वाराणसी, १९८८

राजस्थान पत्रिका, २४ अक्टूबर, २००२

सचित्र जैन तत्त्व-दर्शन, भाग १-२, साध्वी विनीताबाई महासतीजी,

जैन-दर्शन प्रकाशन, राजकोट

समणसुत्तं, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, १९७५

सूत्र-पाहुड़, अष्टपाहुड़, आचार्य कुंदकुंद, कुंदकुंद कहान ट्रस्ट, जयपुर,

१९९४

सूत्रकृतांग, मुनि मधुकर, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

उपासकदशांग और उसका श्रावकाचार, डॉ. सुभाष कोठारी, प्राकृत संस्थान,

उदयपुर, १९८८

उत्तगध्ययनसूत्र, साध्वी श्रीचंदना, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९७२

जैन-दर्शन के नव-तत्त्व, साध्वी धर्मशीला, प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर, २०००

अहिंसा की प्रासंगिकता, प्रो. सागरमल जैन, प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर,

२००२

तत्त्वार्थसूत्र, वाचक उमास्वाति, हिंदी व्याख्या - पं. सुखलालजी, जैन-संस्कृति

संशोधन मंडल, बनारस, १९५२

जिनवाणी, सम्यग्दर्शन विशेषांक, सम्यग्ज्ञान प्रचारक मंडल, जयपुर, अगस्त

१९९६

जैन-दर्शन : स्वरूप और विश्लेषण, देवेन्द्रमुनि शास्त्री, तारक गुरु जैन

ग्रंथालय, उदयपुर, १९७५.

A Source-Book Of Jaina Philosophy, Devendramuni Shastri,

Eng.Tr. by Dr. TG Kalghatagi, Taraka Guru Jaina

Granthalaya, Udaipur, 1983.

Canonical Literature Of The Jinas, HR Kāpadiya.

- Cosmology Old And new, Prof. GR Jain, Bharatiya Jnanapeeth, Delhi, 1991.
- Dictionary Of Jaina Technical Terms, Dr. RC Jain, SJVGI, Songir, Datia, 1994.
- Essence Of Jainism, Pt. Sukhlalji, Eng Tr. By RS Betai, LD Institute Of Indology, Ahmedabad, 1988.
- First Steps To Jainism, Parts I and II*, AL Sanchti and MM Bhandari, Sumchti Trust, Jodhpur, 1984.
- Jain System In Nutshell, Dr. NL Jain, Nij-jñāna Sāgar Shiksha Kosha, Satna, 1993.
- Jainism In A Global Perspective, Edtd. Prof. Sagarmal Jain and Dr. SP Pandey, Parshvanath Vidyapeeth, Varanasi, 1998.
- Mahāvīra : His Times And His Philosophy of Life, Drs. HL Jain and AN Upadhye, Bharatiya Jnanapeeth, Delhi, 1998.
- Multi Dimensional Application Of Anekantavāda, Edtd. Prof. Sagarmal Jain and Dr. SP Pandey, Parshvanath Vidyapeeth, Varanasi, 1999.
- Peace, Religious Harmony And Solutions Of World Problems From Jaina Perspective, Prof. Sagarmal Jain, Prachya Vidyapeeth, Shajapur (MP), 2002.
- Sacred Books Of The East, Vol XLV, Jaina Sūtras, Hermann Jacobi, Motilal Banarasidas, Delhi, 1980.
- Scientific Contents In Prākṛta Canons, Dr. NL Jain, Parshvanath Vidyapeeth, Varanasi, 1996.
- Structure And Functions Of Soul In Jainism, Dr. SC Jain, Bharatiya Jnanapeeth Delhi, 1999.

vi : शाश्वत जैन-धर्म

Tattvārtha Sūtra, Vachak Umasvati, Comm. By Sukhalal Sanghvi,
Eng. Tr. By Dr. KK Dixit, LD Institute Of Indology,
Ahmedabad, 2000.

The Bhagvadgītā, S Radhakrishnan, Blackie And Son, Mumbai,
1982.

The Jaina Concept Of Omniscience, Ramjee Singh, LD Institute Of
Indology, Ahmedabad, 1974.



संस्थान-परिचय

आगम अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान आचार्य श्री नानालालजी म. सा. के १९८१ के उदयपुर वर्षावास की स्मृति में जनवरी १९८३ में स्थापित किया गया। संस्थान का मुख्य उद्देश्य जैन-विद्या एवं प्राकृत के विद्वान तैयार करना, अप्रकाशित जैन-साहित्य का प्रकाशन करना, जैन-विद्या में रुचि रखने वाले विद्यार्थियों को अध्ययन की सुविधा प्रदान करना, जैन-संस्कृति की सुरक्षा के लिये जैन आचार, दर्शन और इतिहास पर वैज्ञानिक दृष्टि से ग्रंथ तैयार कर प्रकाशित करवाना एवं जैन-विद्या के प्रसार की दृष्टि से संगोष्ठियों, भाषण, समारोह आदि आयोजित करना है। यह संस्थान श्री अ.भा.सा.जैन संघ, बीकानेर की एक मुख्य प्रवृत्ति है।

संस्थान राजस्थान सोसायटीज़ एक्ट १९५८ के अंतर्गत रजिस्टर्ड है तथा संस्थान को अनुदान के रूप में दी गई धनराशि पर आयकर अधिनियम की धारा ८० (G) और १२ (A) के अंतर्गत छूट प्राप्त है।

जैन-धर्म और संस्कृति के इस पुनीत कार्य में आप इस प्रकार सहभागी बन सकते हैं:-

१. व्यक्ति या संस्था रु. एक लाख या इससे अधिक देकर परम संरक्षक सदस्य बन सकते हैं। ऐसे सदस्यों के नाम अनंदान तिथि क्रम से संस्थान के लेटरपेड पर दर्शाया जाता है।
२. रु. ५१००० देकर संरक्षक सदस्य बन सकते हैं।
३. रु. २५००० देकर हितेष्टी सदस्य बन सकते हैं।
४. रु. ११००० देकर सहायक सदस्य बन सकते हैं।
५. रु. १००० देकर साधारण सदस्य बन सकते हैं।
६. संघ, ट्रस्ट, बोर्ड, सोसायटी आदि जो एकसाथ रु. २०,००० का अनुदान प्रदान करती है वह संस्था संस्थान-परिषद की सास्था-सदस्य होगी।
७. अपने बुजुर्गों की स्मृति में भवन निर्माण हेतु व अन्य आवश्यक यंत्रादि हेतु अनुदान देकर आप इसकी सहायता कर सकते हैं।
८. अपने घर पर पड़ी प्राचीन पांडुलिपियों, आगम-साहित्य व अन्य उपयोगी साहित्य प्रदान कर सकते हैं।
९. आपका यह सहयोग ज्ञान साधना के रथ को प्रगति के पथ पर अग्रसर करेगा।